— श्री —

प्रकाशकीय

आज हमें यह अपूर्व सुंदर संग्रह ग्रंथ प्रकाशन करते हुए हर्ष हो रहा है, यों तो अभी समाजमे अनेकों संग्रह ग्रंथ बहुत काफी मात्रामे प्रचलित है, लेकिन यह उन सबसे ही अपनी अपूर्वता रखता है, आत्मरसिक मुमुक्षुके लिये यह पुस्तक एक प्रकारकी गाइड बुकके रूपमे काम आवेगी, अपने समयका सदुपयोग करनेके लिये इसमें भक्ति, पूजा, वैराग्य, अध्यात्म आदि विषयोंके अनेक चुने हुए छोटे २ पद्य, पाठ, भजन, स्तोत्र आदि भी हैं तो अनेक बड़े २ समयसार, प्रवचनसार जैसे महान् ग्रंथराजोंका सरल पद्यानुवाद भी है ताकि हरएक मुमुक्षु अपनी २ रुचिके अनुसार सब प्रकारकी सामग्री इसमें प्राप्त करके समयका पूर्ण उपयोग कर सके।

मेरी बहुत समयसे ऐसी इच्छा थी कि एक ऐसे ग्रंथका संग्रह करके प्रकाशन किया जावे कारण अध्यात्मरसिक पुरुषके लिये अपनी रुचिके अनुकूल सामग्री इकट्ठी करनेके लिये अनेकों पुस्तकोंको टटोलना पड़ता था और उन सबको अपने साथ २ रखना असंभव जैसा ही था। अतः यह एक ऐसी पुस्तक होगी जिस एक ही में मुमुक्षु अपनी रुचिके अनुसार सर्व प्रकारकी सामग्री प्राप्त कर सकेगा।

इसके संग्रह करनेमें बहुत समय व परिश्रम उठाना पड़ा है। अनेक ग्रंथोंको चुन २ कर मैंने श्री पं० श्रेयांसकुमारजी को दिये और

उनमेंसे उन्होंने जो २ विशेष २ सुंदर व विशेष हृदयग्राही पद्य स्तोत्र गाथा भजन आदि देखे उनको संग्रह किया और फिर हम दोनोंने बैठकर उनको फिर जांचकर उनमेंसे भी छांटे तथा उनके विषयको देखते हुए उनको ३ भागोंमे विभक्त किया।

(१) पहला भक्ति-प्रकरण है इसमे जो २ पद्य आदि देव, शास्त्र, गुरु आदिकी भक्ति, वंदना, पूजन आदिकी मुख्यता वाले थे उनको इस प्रकरणमें लिया गया है।

(२) दूसरे वैराग्य प्रकरणमे संसार, देह, भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न करानेकी मुख्यता वाले पद्यादिकों का संग्रह है।

(३) तीसरे अध्यात्म प्रकरणमे अपनी आत्माके समीप पहुंचाने की मुख्यता वाले एवं तात्विक विषयके अनेक पद्य, स्तोत्र एवं ग्रंथादिका संग्रह है

उपरोक्त प्रकरणोंमें कई स्थानों पर संस्कृत श्लोक भी संग्रह किये गये है लेकिन समझने में सरलता हो इसलिये सबकी हिंदी भाषामे टीका भी साथकी साथ लगा दी गई है। इस ग्रंथमे आये हुए अनेक पद्यादिको की कविके नाम सहित एक २ पद्यकी प्रथम चरणकी सूची बनवाकर लगादी गई है ताकि किसी भी विषयके किसी भी कविके किसी भी पद्यको ढूंढनेमें कोई असुविधा न हो। तथा प्रत्येक कविके द्वारा रचित कविता स्तोत्र आदि किन किन पृष्ठोंपर छपे हैं इसकी भी सूची बनवाकर लगादी गई है। इस ग्रंथकी ५०० प्रतियोंका वो तीनों प्रकरणोंका एक पुस्तकके रूपमे प्रकाशन किया गया

है तथा ५०० प्रतियोंका हरएक प्रकरणका एक २ अलग २ पुस्तकके रूपमें प्रकाशन किया है ताकि जिज्ञासुओंको सुविधा रहे।

इस ग्रंथके तीनों प्रकरणोंमें ३३ आचार्यों व कवियों की ५४ पुस्तकों में से ८०५ स्तोत्र आदिका पत्र संख्या ७७५ में संग्रह किया गया है, इसमें बहुत सी पुस्तकें जैसे दौलत विलास, ब्रह्म विलास आदिके इसी-प्रकार अमृतचंद्राचार्यके समयसार पर रचे गये कलश, बनारसीदासजी द्वारा रचित समयसार कलशोंका पद्यानुवाद आदिको पूराका पूरा इस ग्रंथमे नहीं लिया गया है, बल्कि उनमें से चुन २ कर खास २ पद्यादि ही पुस्तकका आकार बहुत बढ़ जानेके भयसे लिये गये है अतः जो पाठक विशेष रुचिवान हों, वे विशेष अध्ययनके लिये उन ग्रंथराजों की स्वाध्याय करें।

अंतमें मैं संग्रहके कर्ता श्री पं० श्रेयांसकुमारजी शास्त्रीको उनके परिश्रमकी सराहना करते हुए धन्यवाद देता हूँ तथा प्रेसके मैने-जर बाबू नेमीचंदजी बाकलीवाल भी धन्यवादके पात्र हैं।

इस ग्रंथके छपनेमें कुछ अशुद्धियां रह गई है उसके लिये हम पाठकोंसे क्षमा मांगते हैं तथा निवेदन करते हैं कि वे शुद्धिपत्र द्वारा शुद्ध करके ग्रंथका उपयोग करे।

भवदीयः—

नेमीचंद पाटनी

प्रधानमंत्री

श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट

मारोठ (मारवाड़)

कवि-सूची

प्रत्येक आचार्य व कवि आदिकी रचनाएं किन किन पृष्ठों पर हैं

— उनकी सूची —

❀ ॐ ❀

विषय-सूची

भक्तिप्रकरण पृष्ठ १ से १४१

आध्यात्मिक पाठ संग्रह

* णमोकार महामन्त्र *

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं,
केवलि—पण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलि—पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहन्त-सरणं पव्वज्जामि,
सिद्धसरणं पव्वज्जामि, साहू-सरणं पव्वज्जामि,
केवलि-पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

दौलत विलास

दर्शनस्तुति (दौलतरामजी)

❀ दोहा ❀

सकल ज्ञेयज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरिरजरहसविहीन ॥१॥

❀ पद्धरि छन्द ❀

जय वीतराग विज्ञानपूर ।
जय मोहतिमिरको हरन सूर ॥
जय ज्ञान अनंतानंत धार ।
दृग सुख वीरज मण्डित अपार ॥२॥
जय परम शांत मुद्रा समेत ।
भविजनको निज अनुभूति हेत ॥
भवि भागनवश जोगे वशाय ।
तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नशाय ॥३॥
तुम गुण चिंतत निज-पर विवेक ।
प्रगटै विघटै आपद अनेक ॥
तुम जग भूषण दूषण वियुक्त ।
सब महिमा युक्त विकल्प मुक्त ॥४॥
अविरुद्ध शुद्ध चेतन स्वरूप ।
परमात्म परम पावन अनूप ॥
शुभ अशुभ विभाव अभाव कीन ।

स्वाभाविक परिणति मय अछीन ॥५॥
अष्टादश दोषविमुक्त धीर ।
स्वचतुष्टमय राजत गँभीर ॥
मुनि गणधरादि सेवत महन्त ।
नवकेवललब्धिरमा धरंत ॥६॥
तुम शासन सेय अमेय जीव ।
शिव गये जाहिं जैहैं सदीव ॥
भवसागरमें दुख छार वारि ।
तारनको अवरन आप टारि ॥७॥
यह लखि निजदुखगद हरण काज ।
तुम ही निमित्त कारण इलाज ॥
जाने तातैं मैं शरण आय ।
उचरों निज दुख जो चिर लहाय ॥८॥
मैं भ्रम्यो अपनपो विसरि आप ।
अपनाये विधिफल पुण्य पाप ।
निजको परको करता पिछान ।
परमें अनिष्टता इष्ट ठान ॥ ९ ॥
आकुलित भयो अज्ञान धारि ।
ज्यों मृग मृगतृष्णा जानि वारि ॥
तन परिणतिमें आपो चितार ।
कबहू न अनुभयो स्वपदसार ॥१०॥

तुमको बिन जाने जो कलेश ।
पाये सो तुम जानत जिनेश ॥
पशु नारक नर सुरगति मँझार ।
भव धर धर मर्‍यो अनन्त बार ॥११॥
अब काल लब्धि बलतैं दयाल ।
तुम दर्शन पाय भयो खुस्याल ॥
मन शांत भयो मिटि सकल द्वंद्व ।
चाख्यो स्वातमरस दुख निकन्द ॥१२॥
तातैं अब ऐसी करहु नाथ ।
बिछुरै न कभी तुव चरण साथ ॥
तुम गुणगणको नहिं छेव देव ।
जग तारनको तुव विरद एव ॥१३॥
आतमके अहित विषय कषाय ।
इनमें मेरी परिणति न जाय ॥
मै रहूँ आपमें आप लीन ।
सो करो होउँ ज्यों निजाधीन ॥१४॥
मेरे न चाह कछु और ईश ।
रत्नत्रय निधि दीजे मुनीश ॥
मुझ कारजके कारन सु आप ।
शिव करहु, हरहु मम मोहताप ॥१५॥
शशि शांतिकरन तप हरन हेत ।

स्वयमेव तथा तुम कुशल देत ।।
पीवत पियूष ज्यों रोग जाय,
त्यों तुम अनुभवतैं भव नशाय ।।१६।।
त्रिभुवन तिहुँकाल मँझार कोय ।
नहिं तुम बिन निज सुखदाय होय ।।
मो उर यह निश्चय भयो आज ।
दुख जलधि उतारन तुम जिहाज ।।१७।।

❁ दोहा ❁

तुम गुणगणमणि गणपती, गनत न पावहिं पार ।
'दौल' स्वल्पमति किम कहै, नमूं त्रियोग सँभार ।।१८।।

।। इति ।।

(१)

जिनवर-[1]आनन-भान निहारत, [2]भ्रमतमघान नसाया है ।। टेक
वचन-किरन-प्रसरनतैं भविजन, [3]मनसरोज सरसाया है ।
भवदुखकारन सुखविसतारन, कुपथ सुपथ दरसाया है ।।१।।
विनसाई [4]कज जलसरसाई, निशिचर [5]समर दुराया है ।
[6]तस्कर प्रबल कषाय पलाये, जिन [7]धनबोध चुराया है ।।२।।
लखियत [8]उडु न कुभाव कहूँ अब, मोह उलूक लजाया है ।

---

१. मुखरूपी सूर्य । २. अज्ञानरूपी अंधकार समूह । ३ हृदयकमल । ४. काई. दूसरे पक्षमें-अज्ञानरूपी काई । ५. कामदेव । ६. चोर । ७. ज्ञानरूपी धन । ८. तारे ।

[1]हंस [2]कोकको शोक नश्यो निज, परिनति चकवी पाया है।३
[3]कर्मबंधकजकोष बंधे चिर, [4]भवि-अलि मुंचन पाया है।
दौल उजास निजातम अनुभव, उर जग अन्तर छाया है।।४।।

(२)

निरखत जिनचन्द्र-[5]वदन, स्वपरसुरुचि आई ।।निरखत०।।टेक।।
प्रगटी निज आनकी, पिछान ज्ञान भानकी,
कला उदोत होत काम, [6]जामिनी पलाई ।।निरखत०।।१।।
सास्वत आनन्द स्वाद, पायो विनस्यो विषाद,
आनमें अनिष्ट इष्ट, कल्पना नसाई ।। निरखत० ।। २ ।।
साधी निजसाधकी, समाधि मोहव्याधिकी,
उपाधिको विराधिकैं, अराधना सुहाई ।। निरखत० ।। ३ ।।
धन दिन छिन आज सुगुनि, चितें जिनराज अब,
सुधरे सब काज दौल, अचल सिद्धि पाई ।।निरखत०।। ४ ।।

(३)

जबतें आनन्द-जननि दृष्टि परी माई ।
तबतें संशय विमोह भरमता विलाई ।। जबतें० ।। टेक ।।
मैं हूँ चितचिह्न भिन्न, परतें पर जड़ स्वरूप,
दोउनकी एकता सु, जानी दुखदाई ।। जबतें० ।। १ ।।

१. आत्मा। २. चकवा। ३. कर्मबंधरूपी कमलोंके कोष बंधे हुए थे उनसे। ४. भव्यजीवरूपी भौंरा। ५. मुख। ६. रात्रि।

रागादिक बंध हेत, बंधन बहु विपति देत।
संवर हित जान तासु, हेतु ज्ञानताई॥ जबतें० ॥ २ ॥
सब सुखमय शिव है तसु, कारन विधि [1]झारन इमि,
तत्त्वकी विचारन जिन,-बानि सुधि कराई ॥ जबतें० ॥३॥
विषयचाहज्वालतें द,-ह्यो अनंतकालतें [2]सु,-
धांबुस्यात्पदांकगाह,-तें प्रशांति आई ॥ जबतें० ॥ ४ ॥
या बिन जगजालमें न, शरन तीनकालमें सँ,-
भाल चित भजो सदीव दौल यह सुहाई॥ जबतें० ॥ ५ ॥

(४)

[3]पासअनादिविद्या मेरी, हरन [4]पास-परमेशा हैं।
चिद्विलास सुखराशप्रकाशवितरन [5]त्रिभोनदिनेशा हैं॥टेक॥
दुर्निवार [6]कंदर्पसर्पको दर्पविदरन [7]खगेशा हैं।
[8]दुठ-शठ-कमठ-उपद्रव-प्रलय-समीर-सुवर्णनगेशा हैं॥पा०।१।
ज्ञान अनंत अनंत दर्श बल, सुख अनंत [9]पदमेशा हैं।
[10]स्वानुभूति-रमनी-वर [11]भवि-भव-गिर-पवि [12]शिवसदमेशा हैं

---

१. निर्जरा। २. स्याद्वादरूपी अमृतके अवगाहन करनेसे। ३. अनादि अविद्यारूपी फाँसी। ४. पार्श्वनाथ भगवान। ५. तीन लोकके सूर्य। ६. कामदेव रूपी सर्पको। ७. गरुड़ पत्ती। ८. दुष्ट, शठ ऐसे कमठके उपद्रवरूपी प्रलयकालकी आँधी को सहन करने वाले सुमेरुपवत हो। ९. लक्ष्मीके ईश। १०. स्वानुभवरूपी स्त्री के पति। ११. भव्योंको संसार रूपी पर्वतके नष्ट करनेको वज्रके समान। १२. मोक्ष महलके स्वामी।

ऋषि मुनि यति अनगार सदा तिस, सेवत [1]पादकुशेसा हैं।
वचनचन्द्रतैं झरै[2] गिरोमृत, नाशन जन्म-कलेशा हैं ॥पास०॥
नाममंत्र जे जपैं भव्य तिन, अघ अहिं नशत [3]अशेसा हैं।
सुर अहमिन्द्र खगेन्द्र चन्द्र, ह्वै, अनुक्रम होंहिं जिनेशा हैं॥
लोक अलोक-ज्ञेय-ज्ञायक पै, रत निजभावचिदेशा हैं।
रागविना सेवकजन-तारक,[4]मारक मोह न द्वेषा हैं। पास०।
भद्र-समुद्र-विवर्द्धन अद्भुत पूरनचन्द्र सुवेशा हैं।
दौल नमैं पद तासु जासु, शिवथल [5]समेदअचलेशा हैं ॥पा०॥

(५)

साँवरियाके नाम जपेतैं, छूट जाय भवभाँवरिया ॥साँव०।टेक।
[6]दुरित [7]दुरत पुन तुरत [8]फुरत गुन, आतमकी निधि आगरियो।
विघटत है परदाह चाह झट, [9]गटकत समरस गागरिया॥
कटत कलङ्क कर्म [10]कलसायन प्रगटत शिवपुर [11]डागरिया।
फटत घटाघन मोह [12]छोह हट, प्रगटत भेदज्ञान घरिया॥
कृपाकटाक्ष तुमारीहीतैं जुगलनागविपदा टरिया।
[13]धार भये सो मुक्तिरमावर, दौल नमैं तुव पागरिया ॥साँ०॥

---

१. चरण कमल । २. वचनरूपी अमृत । ३. सब । ४. मारने वाले । ५. सम्मेदशिखर । ६. पाप । ७. छिपते हैं । ८. स्फुरित होता है । ९. पीते हैं । १०. कालिख । ११. मोक्षका रास्ता । १२. रागद्वेष । १३. तुम्हारा नाम धारण करके ।

(६)

मैं आयो, जिन शरण तिहारी ।
मैं चिरदुखी विभावभावतैं, स्वाभाविक निधि आप विसारी ।१
रूप निहार धार तुम गुन सुन, बैन होत भवि शिवमगचारी ।
यों मम कारजके कारन तुम, तुमरी सेव एक उर धारी ।।२
मिल्यौ अनन्त जन्मतैं अवसर, अब विनऊँ हे भवसरतारी ।
परमें इष्ट अनिष्ट कल्पना, दौल कहै झट मेट हमारी । मैं०।३।

(७)

हे जिन तेरे मैं शरणै आया ।
तुम हो परम दयाल जगतगुरु, मैं भवभव दुख पाया ।।टेक।।
मोह [1]महादुठ घेर मोहि प्रभु, [2]भवकानन भटकाया ।
नित निज ज्ञानचरननिधि विसर्यौ, तनधनकर अपनाया ।१
[3]निजानन्दअनुभवपियूष तज, [4]विषयहलाहल खाया ।
मेरी भूल मूल दुखदाई, निमित [5]मोहविधि थाया । हे०।२।
सो दुठ होत शिथिल तुमरे ढिग, और न हेतु लखाया ।
शिवस्वरूप शिवमगदर्शक तुम, सुयश मुनीगन गाया । हे०।३।
तुम हो सहज निमित जगहितके, मो उर निश्चय भाया ।
भिन्न होंहुँ विधितैं सो कीजे, दौल तुम्हैं सिर नाया । हे०।४।

(८)

हे जिन मेरी. ऐसी बुधि कीजे ।। हे जिन० ।। टेक ।।

१. महा दुष्ट । २. संसाररूपी वन । ३. अमृत । ४. विष । ५. कर्म ।

रागद्वेषदावानलतें बचि, समतारसमें भीजै ॥ हे जिन० ॥ १ ॥
परमें त्याग [1]अपनपो निजमें लाग न कबहूँ छीजै ॥ २ ॥
कर्म कर्मफलमाहिं न राचै, ज्ञानसुधारस पीजै ॥ हे० ॥ ३ ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरननिधि, ताकी प्राप्ति करीजै ॥हे०॥४॥
मुक्त कारजके तुम कारन वर, अरज दौलकी लीजै ॥हे०। ५॥

(९)

शिवमगदरसावन [2]रावरो दरस ॥ शिव० ॥ टेक ॥
[3]पर-पद-चाह-दाह-गद नाशन, तुम वचभेषज-पान सरस ।१
गुणचिंतवत निज अनुभव प्रगटै, विघटै, विधिठग दुविध तरस ।
दौल [4]अवाची संपति सांची; पाय रहै थिर राच सरस ॥२

(१०)

मोहि तारो जी क्यों ना, तुम तारक त्रिजगत्रिकालमें ॥टेक॥
मैं भवउदधि पर्यौ दुख भोग्यौ, सो दुख जात कह्यौ ना ।
जामनमरन अनन्ततनो तुम, जाननमाहिं छिप्यौ ना ।मो०।
विषय विरसरस विषम भख्यौ मैं, चख्यौ न ज्ञान सलोना ।
मेरी भूल मोहि दुख देवै, कर्मनिमित्त भलो ना ॥मोहि०॥
तुम [5]पदकञ्ज धरें हिरदै जिन, सो भवताप तप्यौ ना ।
गुरगुरुके [6]वचनकरनकर, तुम जसगगन [7]नप्यौ ना ।मो०

१. अपनापन । २. आपका । ३. पुद्गल संबंधी चाहरूपी दाहरूपी रोग नाश करनेके लिये । ४. जिसका वर्णन न हो सके । ५. [illegible] । ६. [illegible] किरणोंसे । ७. नापा नहीं गया ।

कुगुरु कुदेव कुश्रुत सेये मैं, तुम मत हृदय धरचौ ना।
परमविराग ज्ञानमय तुम जा,- ने विन काज सरचौ ना।मो०
मोसम [1]पतित न और दयानिधि, [2]पतिततार तुमसौ ना।
दौलतनी अरदास यही है, फिर भववास बसौं ना।।मोहि०।।

(११)

थारा तो बैनामें सरधान घणो छै,
म्हारै छविनिरखत हिय सरसावै।
[3]तुमधुनिघन [4]परचहनदहनहर,
वर समता-रस-झर बरसावै।। थारा० ।। १ ।।
रूपनिहारत ही बुधि ह्वै सो,
निजपरचिह्न जुदे दरसावै।
मैं [5]चिदंक अकलंक अमल थिर,
[6]इन्द्रियसुखदुख जड़ फरसावै।।थारा०।।२।।
ज्ञानविरागसुगुनतुम तिनकी,
प्रापतिहित सुरपति तरसावै।
मुनि बड़भाग लीन तिनमें नित,
दौल [7]धवल उपयोग रसावैं।।थारा०।। ३ ।।

---

१. पापी। २. पापियोंका तारने वाला। ३. आपका वाणी रूप मेघ। ४. परपदार्थोंकी चाहरूपी अग्निको बुझाने वाला है। ५. चैतन्य स्वरूप। ६. इन्द्रिय जन्य सुख दुःख जड़का स्पर्श करते हैं मेरा नहीं, मुझे सुख दुःख नहीं होते। ७. विशुद्ध, निर्मल।

(१२)

त्रिभुवन आनँदकारी जिन छवि, थारी नैन निहारी ॥टेक॥
ज्ञान अपूरव उदय भयौ अब, या दिनकी बलिहारी।
मो उर मोद बढ़्यौ जु नाथ सो, कथा न जात उचारी ॥१
सुन घनघोर [१]मोरमुद [२]ओर न, ज्यों निधि पाय भिखारी॥
जाहि लखत झट झरत मोहरज, होय सो भवि अविकारी।२
जाकी सुन्दरता सु [३]पुरन्दर,- शोभ लजावनहारी।
निज अनुभूति सुधाछवि पुलकित, वदन मदन अरिहारी।३
[४]शूल [५]दुकूल न बाला माला, मुनिमनमोद प्रसारी।
अरुन न नैनन सैन भ्रमै ना बंक न [६]लंक सम्हारी ॥ ४ ॥
तातैं विधिविभाव क्रोधादि न, लखियत हे जगतारी।
पूजत [७]पातकपुञ्ज पलावत, ध्यावत शिवविस्तारी ॥त्रि०॥५॥
कामधेनु सुरतरु चिंतामनि, इकभव सुखकरतारी।
तुम छवि लखत, मोदतैं जो सुर, सो तुमपद दातारी ॥६॥
महिमा कहत न लहत पार सुर,- [८]गुरुहूकी बुधिहारी।
और कहै किम दौल चहै इम, देहु दशा तुमधारी ।त्रि० ।७

(१३)

जिन छवि लखत यह बुधि भयी ॥ जिन० ॥ टेक ॥
मैं न देह [९]चिदंकमय तन, जड़ फरसरसमयी ॥जिन०॥१॥

१. हर्ष । २. पार नहीं । ३. इन्द्रकी शोभा । ४. त्रिशूल । ५. वस्त्र । ६. कमर । ७. पापोंका समूह । ८ बृहस्पतिकी भी । ९ चैतन्यस्वरूप ।

अशुभशुभफल कर्म सुखदुख, पृथकता सब गयी ।
रागदोष विभाव चालित, ज्ञानता थिर थयी ।।जिन०।।२।।
परिगहन आकुलता दहन, विनशि शमता लयी ।
दौल पूरबअलभ आनँद, लह्यो भवथिति जयी ।।जिन०।।३।।

(१४)

आज मैं परम पदारथ पायौ, प्रभुचरनन चित लायौ ।।टेक।।
अशुभ गये शुभ प्रगट भये हैं, सहज कल्पतरु छायौ ।।१।।
ज्ञानशक्ति तप ऐसी जाकी, चेतनपद दरशायौ ।।आ०।।२।।
अष्टकर्म रिपु जोधा जीते, शिव अंकूर जमायौ ।।आ०।।३।।

भागचन्द भजनमाला

दर्शनस्तुति

❀ दोहा ❀

विश्वभावव्यापी, एक विमल चिद्रूप ।
ज्ञानानन्दमयी सदा, जयवन्तौ जिनभूप ।।१।।

❀ छन्द चाल ❀

सफली मम [1]लोचन द्वंद्व, देखत तुमको जिनचन्द ।।
मम तनमन शीतल एम, अमृतरस सींचत जेम ।।२।।
तुम बोध अमोघ अपारा, दर्शन पुनि सर्व निहारा ।
आनंद अतिन्द्रिय राजै, बल अतुल स्वरूप न त्याजै ।।३।।

१. दोनो नेत्र ।

इत्यादिक स्वगुन अनन्ता, अन्तर्लच्मी भगवंता ।
बाहिज विभूति बहु सोहै, वरनन समर्थ कवि को है ॥४॥
तुम वृच्छ अशोक सुस्वच्छ, सब शोक हरनको दच्छ ।
तहां [1]चंचरीक गुञ्जारैं । मानों तुम स्तोत्र उचारैं ॥५॥
शुभ [2]रत्नमयूख विचित्र, सिंहासन शोभ पवित्र ।
तह वीतराग छवि सोहै, तुम अन्तरीछ मन मोहै ॥६॥
वर कुन्द कुन्द अवदात, चामरव्रज सर्व सुहात ।
तुम ऊपर [3]मघवा ढारै, धर भक्ति भाव अघ टारै ॥७॥
[4]मुक्ताफल माल समेत । तुम ऊर्ध्व छत्रत्रय सेत ।
मानों तारान्वित चन्द, त्रय मूर्ति धरी दुति वृन्द ॥८॥
शुभ दिव्य पटह बहु बाजैं । अतिशय जुत अधिक विराजैं ।
तुमरो जस घोकैं मानौं । त्रैलोक्यनाथ यह जानौं ॥९॥
हरिचन्दन [5]सुमन सुहाये । दशदिशि सुगंधि महकाये ।
[6]अलिपुंज विगुञ्जत जामैं । शुभ वृष्टि होत तुम सामैं ॥१०॥
भामंडल दीप्ति अखंड । छिप जात कोट मार्तंड ।
जग लोचनको सुखकारी । मिथ्यातम पटल निवारी ॥११॥
तुमरी दिव्यध्वनि गाजै । विन इच्छा भविहित काजै ।
जीवादिक तत्त्व प्रकाशी । भ्रमतमहर सूर्यकलासी ॥१२॥
इत्यादि विभूति अनंत । बाहिज अतिशय अरहंत ।

१. भौंरे । २. किरण । ३. इन्द्र । ४. मोती । ५. पुष्प
६. भौंरोंका समूह ।

देखत मन भ्रमतम भागा। हित अहित ज्ञान उर जागा ॥१३॥
तुम सब लायक उपगारी। मैं दीन दुखी संसारी।
तातैं सुनिये यह अरजी। तुम शरण लियो जिनवरजी ॥१४॥
मैं जीव द्रव्य विन अंग। लागो अनादि विधि संग।
ता निमित्त पाय दुख पाये। हम मिथ्यातादि महा ये ॥१५॥
निजगुण कबहूँ नहिं भाये, सब परपदार्थ अपनाये।
रति अरति करी सुखदुखमें, ह्वै करि निजधर्म विमुख मैं ॥१६॥
पर-चाह-दाह नित दाहौ। नहिं शांत सुधा अवगाहौ।
पशु नारक नर सुरगतमें, चिर भ्रमत भयो भ्रमतमें ॥१७॥
कीनें बहु जामन मरना। नहिं पायो सांचो शरना।
अब भाग उदय मम आयो। तुम दर्शन निर्मल पायो ॥१८॥
मन शांत भयो उर मेरो। बाढ़ो उछाह शिवकेरो।
पर विषय रहित आनन्द। निज रस चाखो निरद्वन्द ॥१९॥
मुझ काजतनें कारज हो। तुम देव तरन तारन हो।
तातैं ऐसी अब कीजे। तुम चरनभक्ति मोहिं दीजे ॥२०॥
दृग-ज्ञान-चरन परिपूर। पाऊँ निश्चय भवचूर।
दुखदायक विषय कषाय। इनमें परनति नहिं जाय ॥२१॥
सुरराज समाज न चाहौं। आतम समाधि अवगाहौं।
पर इच्छा तो मनमानी। पूरो सब केवलज्ञानी ॥२२॥

❀ दोहा ❀

गनपति पार न पावहीं, तुम गुनजलधि विशाल।
भागचन्द तुव भक्ति ही, करै हमैं वाचाल ॥२३॥

२ दर्शन स्तुति

❀ गीतिका ❀

तुम परम पावन देख जिन, अरि-रज-रहस्य विनाशनं।
तुम ज्ञान-दृग-जलबीच त्रिभुवन, कमलवत प्रतिभासनं॥
आनंद निजज अनंत अन्य, अचित संतत परनये।
बल अतुल कलित स्वभावतैं नहिं, खलित गुन अमिलित थये॥
सब राग रुष हनि परम श्रवन, स्वभाव घन निर्मल दशा।
इच्छारहित भवहित खिरत, वच सुनत ही भ्रमतम नशा॥
एकान्त-गहन-सुदहन स्यात्पद, बहन मय निजपर दया।
जाके प्रसाद विषाद बिन, मुनिजन सपदि शिवपद लहा॥
भूषन वसन सुमनादिबिन तन, ध्यानमय मुद्रा दिपै।
नासाग्र नयन सुपलक हलय न, तेज लखि खगगन छिपै॥
पुनि वदन निरखत प्रशम जल, बरखत सुहरखत उर धरा।
बुधि स्वपर परखत पुन्यआकर, कलिकलिल दुरखत जरा।
इत्यादि बहिरन्तर असाधारन, सुविभव निधान जी।
इन्द्रादिवंद पदारविंद, अनिंद तुम भगवान जी॥
मैं चिर दुखी परचाहतैं, तुम धर्म नियत न उर धरो।
परदेवसेव करी बहुत, नहिं काज एक तहाँ सरो॥४॥
अब भागचन्द्र उदय भयो, मैं शरन आयो तुम तने।
इक दीजिये वरदान तुम जस, स्वपद दायक बुध भने॥
परमाहिं इष्ट-अनिष्ट-मति तजि, मगन निज गुनमें रहों।
दृग-ज्ञान-चर संपूर्ण पाऊँ, भागचन्द न पर चहों॥५॥

(३) राग प्रभाती ।

प्रभु तुम मूरत दृगसों निरखै हरखै मोरो जीयरा ॥ टेक ॥
[1]भुजत कषायानल पुनि उपजै, ज्ञानसुधारस सीयरा ॥ १ ॥
वीतरागता प्रगट होत है, शिवथल दीसै नीयरा ।प्रभु०।२।
भागचन्द तुम चरन कमलमें, वसत सन्तजन हीयरा ।प्रभु०।३।

(४) राग ठुमरी ।

वीतराग जिन महिमा थारी, वरन सकै को जन त्रिभुवनमें ।
तुमरे अतट चतुष्टय प्रगट्यो, निःशेषावरनच्छय छिनमें ।
मेघ पटल विघटनतैं प्रगटत, जिमि [2]मार्तंड प्रकाश गगनमें ॥
अप्रमेय ज्ञेयनके ज्ञायक, नहिं परिनमत तदपि ज्ञेयनमें ।
देखत नयन अनेक रूप जिमि, मिलत नहीं पुनि निज विषयनमें ॥
निज उपयोग आपने स्वामी, गाल दिया निश्चल आपनमें ।
है असमर्थ बाह्य निकसनको, लवन घुला जैसैं [3]जीवनमें ॥
तुमरे भक्त परम सुख पावत, परत अभक्त अनन्त दुखनमें ।
जैसो मुख देखो तैसो है, भासत जिम निर्मल दरपनमें ॥
तुम कषाय विन परम शांत हो, तदपि दक्ष कर्मारिहतनमें ।
जैसे अतिशीतल तुषार पुनि, [4]जार देत [5]द्रुम भारि [6]गृहनमें ॥
अब तुम रूप जथारथ पायो, अब इच्छा नहिं अन कुमतनमें ।
भागचन्द अम्रतरस पीकर, फिर को चाहै विष निज मनमें ॥

---

१. नष्ट होजाता है । २. सूर्य । ३. जल । ४. जला देता है ।
५. वृक्ष । ६. वनमें ।

(५) राग जंगला।

तुम गुनमनिनिधि हो अरहन्त ॥टेक॥

पार न पावत तुमरो गनपति, चार ज्ञान धरि संत ॥१॥
ज्ञान कोप सब दोप रहित तुम, अलख अमूर्ति अचिंत ॥२॥
हरिगन अरचत तुम [7]पदवारिज, परमेष्ठि भगवंत ॥३॥
भागचन्दके घटमन्दिरमें, बसहु सदा जयवंत ॥४॥

(६) राग सोरठ।

स्वामीजी तुमगुन अपरंपार, चन्द्रोज्ज्वल अविकार ॥टेक॥
जबै तुम गर्भमाहिं आये, तबै सब सुरगन मिलि आये।
रतन नगरीमें बरषाये, अमित अमोघ सुढार ॥स्वा०॥१
जन्म प्रभु तुमने जब लीना, न्हवन मंदिरपै [8]हरि कीना।
भक्त करि [9]सची सहित भीना, बोला जयजयकार ॥स्वा०॥२
जगत छनभंगुर जब जाना, भये तब नगनव्रती बाना।
स्तवन लौकांतिक सुर ठाना, त्याग राजको भार ॥स्वा०॥३
घातिया प्रकृति जबै नासी, चराचर वस्तु सबै भासी।
धर्मकी वृष्टि करी खासी, केवलज्ञान भंडार ॥स्वा०॥४
अघाती प्रकृति सुविघटाई, मुक्तिकांता तब ही पाई।
निराकुल आनंद असहाई, तीनलोक सरदार ॥स्वा०॥५
पार गनधर हू नहिं पावैं, कहाँ लगि भागचन्द गावै।
तुम्हारे चरणांबुज ध्यावै, भवसागरसों तार ॥स्वामी०॥६॥

७. चरणकमल। ८. इन्द्र। ९. इन्द्राणी।

(७) राग मल्हार ।

बरसत ज्ञान सुनीर हो श्री जिनमुखघनसों ॥टेक॥
शीतल होत सुबुद्धिमेदिनी मिटत भवातपपीर ॥बर०॥१॥
स्याद्वाद नय [1]दामिनि दमकै, होत निनाद गँभीर ॥बर०॥२॥
करुनानदी बहै चहुँ दिशितैं, भरी सो दोई तीर ॥बर०॥३॥
भागचन्द अनुभवमन्दिरको, तजत न संत सुधीर ॥बर०॥४॥

(८) राग धनाश्री ।

प्रभु थांकूं लखि मम चित हरषायो ॥टेक॥
सुन्दर चिंतारतन अमोलक, रंकपुरुष जिमि पायो ॥प्र०॥१॥
निर्मलरूप भयो अब मेरो, भक्तिनदीजल न्हायो ॥प्र०॥२॥
भागचन्द अब मम [2]करतलमें अविचल शिवथल आयो ॥३॥

(९) राग जोड़ा ।

मैं तुम शरन लियौ, तुम सांचे प्रभु अरहन्त ॥टेक॥
तुमरे दर्शन ज्ञान [3]मुकुरमें दरशज्ञान झलकंत ।
अतुल निराकुल सुख आस्वादन, वीरज अरज अनंत ॥मैं०॥१॥
रागद्वेष विभाव नाश भये, परम समरसी संत ।
पद देवाधिदेव पायौ किये, दोष क्षुधादिक अंत ॥मैं०॥२॥
भूषण वसन शस्त्र कामादिक, करन विकार अनन्त ।
तिन विन तुम परमौदारिक तन, मुद्रा शम शोभंत ॥मैं०॥३॥
तुम वानीतैं धर्मतीर्थ जग,-माहिं त्रिकाल चलंत ।

---

१. बिजली । २. हथेलीमे । ३. दर्पण ।

निजकल्याणहेतु इन्द्रादिक, तुम पदसेव करंत ॥मैं०॥४॥
तुम गुन अनुभवतैं निज-पर-गुन, दरसत अगम अचिंत।
भागचन्द निजरूपप्राप्ति अब, पावैं हम भगवंत ॥मैं०॥५॥

(१०) राग दीपचन्दी सोरठकी।

लखिकै स्वामी रूपको, मेरा मन भया चंगा जी ॥टेक॥
विभ्रम नष्ट गरुड़ लखि जैसे, भगत भुजंगा जी ॥ल०॥१॥
शीतल भाव भये जब न्हायौ, भक्ति सुगंगा जी ॥ल०॥२॥
भागचन्द अब मेरे लागौ, निजरसरंगा जी ॥ल०॥३॥

(११) साधु स्तुति।

ऐसे जैनी मुनिमहाराज, सदा उर मो बसो ॥टेक॥
जिन समस्त परद्रव्यनिमाहीं, अहंबुद्धि तजि दीनी।
गुन अनंत ज्ञानादिक मम पुनि, स्वानुभूति लखि लीनी ॥१॥
जे निजबुद्धिपूर्व रागादिक, सकल विभाव निवारैं।
पुनि अबुद्धिपूर्वकनाशनको, अपने शक्ति सम्हारैं ॥ऐ०॥२॥
कर्म शुभाशुभ बंध उदयमें, हर्ष विषाद न राखैं।
सम्यग्दर्शनज्ञानचरनतप, भावसुधारस चाखैं ॥ऐ०॥३॥
परकी इच्छा तजि निजबल सजि, पूरव कर्म खिरावैं।
सकल कर्मतैं भिन्न अवस्था, सुखमय लखि चित चावैं ॥४॥
उदासीन शुद्धोपयोगरत सबके दृष्टा ज्ञाता।
बाहिजरूप नगन समताकर, भागचन्द सुखदात ०॥५॥

१२ राग–खमाच ।

श्रीगुरु हैं उपगारी ऐसे वीतराग गुनधारी वे ।। टेक ।।
स्वानुभूति रमनी संग कीड़ैं, ज्ञानसम्पदा भारी वे ।श्री०।१।
ध्यान पींजरामें जिन रोकौ, चित खग चंचलचारी वे ।श्री०।२।
तिनके चरनसरोरुह ध्यावै, भागचन्द अघटारी वे ।श्री०।३।

१३ राग–कलिगड़ा

ऐसे साधु सुगुरु कब मिलि हैं ।। टेक ।।
आप तरैं अरु परको तारैं, निष्प्रेही निर्मल हैं ।।ऐसे०।।१।।
तिलतुषमात्र संग नहिं जिनकै, ज्ञान-ध्यान-गुन-बल हैं ।ऐ०।२।
शांत दिगम्बर मुद्रा जिनकी, मन्दरतुल्य अचल हैं ।ऐ०।३।
भागचन्द तिनको नित चाहै, ज्यौं कमलनिको अल है ।ऐ०।४।

(१४) गुरु-स्तुति राग सारंग

श्रीमुनि राजत समता संग । कायोत्सर्ग समायत अंग ।।टेक।।
करतैं नहिं कछु कारज तातैं, आलम्बित भुज कीन अभंग ।
गमन काज कछु हू नहिं तातैं, गति तजि छाके निज रसरंग ।।
लोचनतैं लखिवौ कछु नाहीं, तातैं नासा दृग अचलंग ।
सुनिवे जोग रह्यो कछु नाहीं, तातैं प्राप्त इकंत सुचंग ।।
तहँ मध्याह्नमाहिं निज ऊपर, आयो उग्र प्रताप पतंग ।
कैधौं ज्ञान पवनबल प्रज्वलित, ध्यानानलसौं उछलि फुलिंग ।।
चित्त निराकुल अतुल उठत जहँ, परमानन्द पियूषतरंग ।
भागचन्द ऐसे श्रीगुरुपद, वंदत मिलत स्वपद उत्तंग ।श्री०।

(१५)

धन धन जैनी साधु अबाधित, तत्त्वज्ञानविलासी हो ।।टेक।।
दर्शन-बोधमई निजमूरति, जिनकों अपनी भासी हो ।
त्यागी अन्य समस्त वस्तुमें, अहंबुद्धि दुखदा सी हो।।धन०।।
जिन अशुभोपयोगकी परनति, सत्तासहित विनाशी हो।
होय कदाच शुभोपयोग तो, तहँ भी रहत उदासी हो ।धन०।
छेदत जे अनादि दुखदायक, दुविधि बंधकी फांसी हो ।
मोह क्षोभरहित जिन परनति, विमल मयंक-कला सी हो ।।
विषय-चाह-दव-दाह बुझावन, साम्य सुधारस-रासी हो ।
भागचन्द ज्ञानानन्दी पद, साधत सदा हुलासी हो ।धन०।

(१६) राग परज

सम-आराम-विहारी, साधुजन सम आराम विहारी ।।टेक।।
एक कल्पतरु पुष्पन सेती, जजत भक्ति विस्तारी ।
एक कंठविच सर्प नाखिया, क्रोधदर्पजुत भारी ।।
राखत एक वृत्ति दोउनमें, सबहीके उपगारी ।।सम०।।१।।
सारंगी हरिबाल चुखावै, पुनि मराल मंजारी ।
व्याघ्रबालकरि सहित नन्दिनी, व्याल नकुलकी नारी ।।
तिनके चरनकमल आश्रयतें, अरिता सकल निवारी ।सम०।
अक्षय अतुल प्रमोद विधायक, ताको धाम अपारी ।
काम धरा विच गड़ी सो चिरतें, आतमनिधि अविकारी ।।
खनत ताहि लेकर करमें जे, तीक्षण बुद्धि कुदारी ।।सम०।।

निज शुद्धोपयोगरस चाखत, पर-ममता न लगारी ।
निज सरधान ज्ञान चरनात्मक, निश्चय शिवमगचारी ॥
भागचन्द ऐसे श्रीपति प्रति, फिर फिर ढोक हमारी ॥सम०॥

(१६) साधुस्तुति (दौलतरामजी)

जिन रागदोषत्यागा वह सतगुरू हमारा ॥ जिन० ॥टेक ॥
तज राज़रिद्ध तृणवत निज काज सँभारा ॥ जिन० ॥ १ ॥
रहता है वह वनखण्डमें, धरि ध्यान कुठारा ।
जिन मोह महातरुको, जड़मूल उखारा ॥ जिन० ॥ २ ॥
सर्वाङ्ग तज परिग्रह दिगअंबर धारा ।
अनंतज्ञानगुनसमुद्र चारित्र भँडारा ॥ जिन० ॥ ३ ॥
शुक्लाग्निको प्रजालके वसु कानन जारा ।
ऐसे गुरुको दौल है, नमोऽस्तु हमारा ॥ जिन० ॥ ४ ॥

(१७)

कबधौं मिलैं मोहि श्रीगुरु मुनिवर, करि हैं भवदधि पारा हो।टे०
भोगउदास जोग जिन लीनों, छांड़ि परिग्रह भारा हो ।
इन्द्रियदमन वमन मद कीनों, विषय कषाय निवारा हो ॥
कंचन काच बराबर जिनके, निंदक-वंदक [1]सारा हो ।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निज घर, मनवचतनकर धारा हो ॥
ग्रीषम गिरि हिम सरितातीरैं, पावस तरुतर ठारा हो ।
[2]करुणाभीन चीन त्रस थावर, ईर्यापंथ समारा हो ॥कब०॥

१. एकसे । २. 'लीन' ऐसा भी पाठ है ।

[1]मार-मार [2]व्रत धार शील दृढ़, मोह महामल टारा हो।
मास छमास उपास वास वन, प्रासुक करत अहारा हो॥
[3]आरत [4]रौद्र लेश नहिं जिनके, धर्म शुकल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुधउपयोग विचारा हो॥
आप तरहिं औरनको तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो।
दौलत ऐसे जैनजतिनको, नितप्रति धोक हमारा हो॥

(१८)

धनि मुनि जिनकी, लगी [5]लौ शिव ओर[6]नै॥ध०॥टेक॥
सम्यग्दर्शनज्ञानचरन-निधि, धरत हरत भ्रमचोरनै॥१॥
[7]यथाजातमुद्रायुत सुन्दर, सदन [8]विजन गिरिकोरनै।
तृनकंचन अरि स्वजन गिनत सम, निंदन और [9]निहोरनै॥
भवसुखचाह सकल तजि बल सजि, करत द्विविधतप घोरनै।
परम विरागभाव [10]पवितैं नित, चूरत करम कठोरनै॥
छीन शरीर न हीन चिदानन, मोहत मोह झकोरनै।
जग-तप-हर [11]भवि-कुमुद-निशाकर, मोदन दौल चकोरनै॥

---

१. कामदेवको मारकर। २ धर तप तपि समकित गहि निज चित,करि मनवचतन सारा हो। मासमास उपवास वासवन' ऐसा भी पाठ है। ३. आर्त्तध्यान। ४. रौद्रध्यान। ५. लगन। ६. "नै" विभक्ति सब जगह 'को' के अर्थमें है। ७. नग्न दिगम्बर। ८. निर्जन। ९. प्रार्थना करनेको। १० परम वैराग्यके भावरूपी वज्रसे। ११. भव्यरूपी कुमोदिनीको चन्द्रमा।

(१९) साधु-स्तुति (द्यानतरायजी)

धनि धनि ते मुनि गिरिवनवासी ॥टेक॥
[1]मार मार जगजार जारते, द्वादश व्रत तप अभ्यासी ॥ध०॥१॥
कौड़ी लाल पास नहिं जाके जिन छेदी आसापासी।
आतम-आतम, पर-पर जानैं, द्वादश तीन प्रकृति नासी॥२॥
जा दुख देख दुखी सब जग ह्वै, सो दुख लख सुख ह्वै तासी।
जाकों सब जग सुख मानत है, सो सुख जान्यो दुखरासी॥३॥
बाहज भेष कहत अंतर गुण, सत्य मधुर हितमितभासी।
द्यानत ते शिवपंथपथिक हैं, पाँव परत पातक जासी॥४॥

(२०) साधु-स्तुति (भूधरदासजी)

वे मुनिवर कब मिलि हैं उपगारी ॥टेक॥
साधु दिगम्बर नगन निरम्बर, संवरभूषणधारी॥वे०॥१॥
कंचन काच बराबर जिनकै, ज्यौं रिपु त्यौं हितकारी।
महल मसान मरन अरु जीवन, सम [2]गरिमा अरु [3]गारी॥२॥
सम्यग्ज्ञान प्रधान पवन बल, तप [4]पावक [5]परजारी।
शोधा जीव सुवर्ण सदा जे, काय-कारिमा टारी॥३॥
जोरि जुगल कर भूधर विनवै, तिन पद ढोक हमारी।
भाग उदय दरसन जब पाऊँ, ता दिनकी बलिहारी॥वे०॥४॥

१. कामदेव। २. महिमा, बड़ाई। ३. गाली। ४. अग्नि। ५. जलाई।

अथ भूधरकृत दूसरी गुरुस्तुति, राग भरतरी दोहा।

ते गुरु मेरे मन बसो, जे भवजलधि जिहाज।
आप तिरहिं पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषिराज॥ते०॥१
मोह महारिपु जानिकैं छांड्यो सब घरबार।
होय दिगम्बर वन बसे, आतम शुद्ध विचार॥ते०॥२
रोग उरग-बिल वपु गिण्यो, भोग भुजंग समान।
कदलीतरु संसार है, त्याग्यो सब यह जान॥ते०॥३
रत्नत्रयनिधि उर धरैं, अरु निरग्रंथ त्रिकाल।
मार्‍यो कामखवीसको, स्वामी परमदयाल॥ते०॥४
पंच महाव्रत आदरैं, पांचों समिति समेत।
तीन गुपति पालैं सदा, अजर अमर पदहेत॥ते०॥५
धर्म धरैं दशलाछनी, भावैं भावना सार।
सहैं परीषह बीस द्वै, चारित-रतन-भँडार॥ते०॥६
जेठ तपै रवि आकरो, सूखै सरवर नीर।
शैल-शिखर मुनि तप तपैं, दाझैं नगन शरीर॥ते०॥७
पावस रैन डरावनी, बरसै जलधर धार।
तरुतल निवसैं तब यती, बाजै झंझा ब्यार॥ते०॥८
शीत पड़ै कपि-मद गलै, दाहै सब वनराय।
ताल तरंगनिके तटैं, ठाड़े ध्यान लगाय॥ते०॥९
इह विधि दुद्धर तप तपैं, तीनोंकाल मँझार।
लागे सहज सरूपमें तनसौं ममत निवार॥ते०॥१०

पूरव भोग न चिंतवैं, आगम बांछैं नाहिं ।
चहुंगतिके दुखसों डरैं, सुरति लगी शिवमाहिं ॥११॥
रंग महलमें पौढते, कोमल सेज बिछाय ।
ते पच्छिम निशि भूमिमैं, सोवें संवरिकाय ॥१२॥
गजचढ़ि चलते गरबसौं, सेना सजि चतुरंग ।
निरखि निरखि पग वे धरैं, पालैं करुणा अंग ॥१३॥
वे गुरु चरण जहां धरैं, जगमैं तीरथ जेह ।
सो रज मम मस्तक चढो, भूधर मांगै एह ॥ते०॥१४॥

(२२) (बुधजनजी)

मुनि बन आये बना ॥मुनि०॥टेक॥
शिवनगरी ब्याहनकौं उमगे, मोहित भविकजना ॥मु०॥१॥
रतनत्रय सिर सेहरा बांधैं, सजि संवर वसना ।
संग बराती द्वादश भावन, अरु दशधर्मपना । मु०॥२॥
सुमति नारि मिलि मंगल गावत, अजपा गीत घना ।
राग दोपकी आतिशबाजी, छूटत अगनि-कना ॥मु०॥३॥
दुविधि कर्मका दान बटत है, तोषित लोकमना ।
शुक्ल ध्यानकी अगनि जलाकरि, होमैं कर्मघना ॥४॥
शुभ वेल्यां शिव बनरि वरी मुनि, अद्भुत हरष बना ।
निज मंदिरमें निश्चल राजत बुधजन त्याग घना ॥५॥

१ शास्त्रस्तुति (पं० वनारसीदासजी)

जिनादेश जाता जिनेन्द्रा विख्याता,

विशुद्ध प्रबुद्धा नमों लोकमाता ।
दुराचार दुर्नैहरा शंकरानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैनवाणी ॥१॥
सुधाधर्मसंसाधनी धर्मशाला,
सुधातापनिर्नाशिनी मेघमाला ।
महामोहविध्वंसनी मोक्षदानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ।२।
अखैवृक्षशाखा व्यतीताभिलाषा,
कथा संस्कृता प्राकृता देशभाषा ।
चिदानन्द-भूपालकी राजधानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ।३।
समाधानरूपा अनूपा अक्षुद्रा,
अनेकान्तधा स्याद्वादाङ्कमुद्रा ।
त्रिधा सप्तधा द्वादशाङ्गी वखानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ।४।
अकोपा अमाना अदंभा अलोभा,
श्रुतज्ञानरूपी मतिज्ञानशोभा ।
महापावनी भावना भव्यमानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ।५।
अतीता अजीता सदा निर्विकारा,
विषैवाटिकाखंडिनी खड्गधारा ।

पुरापापविक्षेपकर्त्रृ कृपाणी,
नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ।६।
अगाधा अबाधा निरंध्रा निराशा,
अनन्ता अनादीश्वरी कर्मनाशा ।
निशंका निरंका चिदंका भवानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ।७।
अशोका मुदेका विवेका विधानी,
जगज्जन्तुमित्रा विचित्रावसानी ।
समस्तावलोका निरस्तानिदानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ।८।
जैनवाणी जैनवाणी सुनहिं जे जीव,
जे आगम रुचिधरें जे प्रतीति मन माहिं आनहि ।
अवधारहिं जे पुरुष समर्थ पद अर्थ जानहि ।।
जे हितहेतु बनारसी, देहिं धर्म उपदेश ।
ते सब पावहिं परम सुख, तज संसार कलेश ।।

(२) शास्त्रस्तुति

वीर-हिमाचलतैं निकसी,
गुरु गौतमके मुख-कुण्ड ढरी है;
मोह-महाचल भेद चली,
जगकी जड़ता-तप दूर करी है ।
ज्ञान-पयोनिधि माँहि रली,

बहु भंग-तरंगनिसों उछरी है ;
ता शुचि शारद-गंगनदी प्रति ,
मैं अंजुलि कर शीश धरी है ॥१॥
या जग-मन्दिरमें अनिवार ,
अज्ञान-अँधेर छयो अतिभारी ;
श्रीजिनकी धुनि दीप-शिखा सम ,
जो नहिं होत प्रकाशन-हारी ;
तो किस भाँति पदारथ-पाँति ,
कहा लहते ? रहते अविचारी ;
या विधि सन्त कहैं धनि हैं,
धनि हैं जिन-बैन बड़े उपकारी ॥२॥

(३)

केवलि-कन्ये, वाङ्मय गंगे ,
जगदम्बे, अघ नाश हमारे ;
सत्य-स्वरूपे, मंगल-रूपे ,
मन-मन्दिरमें तिष्ठ हमारे ॥१॥
जंबूस्वामी गौतम-गणधर ,
हुए सुधर्मा पुत्र तुम्हारे ;
जगतैं स्वयं पार ह्वै करके ,
दे उपदेश बहुत जन तारे ॥२॥
कुन्दकुन्द, अकलंकदेव अरु ,

विद्यानंदि आदि मुनि सारे;
तव कुल-कुमुद चंद्रमा ये शुभ,
शिक्षामृत दे स्वर्ग सिधारे ॥३॥
तूने उत्तम तत्त्व प्रकाशे,
जगके भ्रम सब क्षय कर डारे;
तेरी ज्योति निरख लज्जा-वश,
रवि-शशि छिपते नित्य बिचारे॥४॥
भव-भय पीड़ित, व्यथित चित्त जन,
जब जो आये शरण तिहारे;
छिन-भरमें उनके सब तुमने,
करुणा करि संकट सब टारे ॥५॥
जब तक विषय-कषाय नशै नहि,
कर्म-शत्रु नहिं जाय निवारे;
तब तक 'ज्ञानानन्द' रहै नित,
सब जीवनतैं समता धारे ॥६॥

(४) शास्त्र भक्ति (शिखरिणी छन्द)१

अकेला ही हूँ मैं करम सब आये सिमटिकें।
लिया है मैं तेरा शरण अब माता सटकिकें ॥
भ्रमावत है मोकों - करम दुख देता जनमका।
करों भक्ती तेरी, हरो दुख माता भ्रमनका ॥१॥

१. यह भक्ति शास्त्रजी बांचनेके बाद बोलनी चाहिये।

दुखी हूआ भारी, भ्रमत फिरता हूँ जगमें।
सहा जाता नाहीं, अकल घबरानी भ्रमनमैं ॥
करों क्या माँ मोरी, चलत वश नाहीं मिटन का।
करों भक्ती तेरी, हरो दुख माता भ्रमनका ॥२॥
सुनो माता मोरी, अरज करता हूँ दरदमैं।
दुखो जानों मोकों, डरप कर आयो शरनमैं ॥
कृपा ऐसी कीजे, दरद मिट जावै मरनका।
करों भक्ती तेरी, हरो दुख माता भ्रमनका ॥३॥
पिलावै जो मोकों, सुबुधिकर प्याला अमृतका।
मिटावै जो मेरा, सरब दुख सारा फिरनका ॥
परों पावाँ तेरे, हरो दुख सारा फिकरका।
करों भक्ती तेरी, हरो दुख माता भ्रमनका ॥४॥

सवैया।

मिथ्या-तम नाशवेको ज्ञानके प्रकाशवेको,
आपा-पर भासवेको भानुसी बखानी है।
छहों द्रव्य- जानवेको बंधविधि भानवेको,
स्वपर पिछानवेको परम प्रमानी है ॥ ५ ॥
अनुभौ बतायवेको जीवके जतायवेको,
काहू न सतायवेको भव्य उर आनी है।
जहाँ तहाँ तारवेको पारके उतारवेको,
सुख विस्तारवेको येही जिनवानी है ॥ ६ ॥

❀ दोहा ❀

यह जिनवानीकी थुती, अल्पबुद्धि परमान ।
'पन्नालाल' विनती करै, दे माता मोहि ज्ञान ॥७॥
हे जिनवानी भारती, तोहि जपौं दिनरैन ।
जो तेरा शरना गहै, सो पावै सुख चैन ॥८॥
जा वानीके ज्ञानतैं, सूझे लोकालोक ।
सो वानी मस्तक चढ़ो, सदा देत हों धोक ॥९॥

(५)

नित पीजौ धीधारी, [1]जिनवानि [2]सुधासम जानके ।नि०।टेक।
[3]वीरमुखारविंदतैं प्रगटी, जन्मजरा [4]गदटारी ।
गौतमादिगुरु उर-घट व्यापी, परम सुरुचिकरतारी ॥नि०॥१॥
[5]सलिलसमान [6]कलिलमलगंजन, बुधमनरंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्याजलदनिवारी ॥नि०॥२॥
[7]कल्यानकतरु उपवनधरिनी, [8]तरनी भवजलतारी ।
[9]बंधविदारन [10]पैनी छैनी, मुक्तिनसैनी सारी ॥नि०॥३॥
स्वपरस्वरूप प्रकाशनको यह, भानुकला अविकारी ।

१. जैनशास्त्रोंको । २. अमृत समान । ३. महावीर स्वामी के मुखकमलसे । ४. रोग । ५. जलके समान । ६. पापरूपी मैल को नष्ट करने वाली । ७. "मंगलतरुहि उपावन धरनी" ऐसा भी पाठ है । ८. नौका । ९. कर्मबंध । १०. तीखी छैनी ।

[1]मुनि-मन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, [2]शमसुखसुमन [3]सुवारी॥४

जाको सेवत [4]वेवत निजपद, नसत अविद्या सारी।
[5]तीनलोकपति पूजन जाको, जान त्रिजगहितकारी॥नि०॥५॥
कोटि जीभसौं महिमा जाकी, कहि न सके [6]पविधारी।
दौल अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारनहारी॥नि०॥६॥

(६) राग चर्चरी।

सांची तो गंगा यह वीतरागवानी,
अविच्छिन्न धारा निज धर्मकी कहानी॥सांची०॥टेक॥
जामें अति ही विमल अगाध ज्ञानपानी,
जहाँ नहीं संशयादि पंककी निशानी॥सांची०॥१॥
सप्तभंग जहँ तरंग उछलत सुखदानी,
संतचित [7]मरालवृन्द रमैं नित्य ज्ञानी॥ सांची० ॥ २ ॥
जाके अवगाहनतैं शुद्ध होय प्रानी,
भागचन्द्र निहचै घटमाहिं या प्रमानी॥ सांची० ॥ ३ ॥

(७) राग ईमन

महिमा है अगम जिनागमकी ॥ टेक ॥
जाहि सुनत जड़ भिन्न पिछानी, हम चिन्मूरति आतमकी।म०।१।

---

१. मुनियोकी मनरूपी कुमोदिनीको प्रफुल्लित करनेके लिये चन्द्रमाका प्रकाश। २. समता-सुखरूपी पुष्पोंकी। ३. अच्छी वाटिका। ४. अनुभव करते है। ५. तीनभुवनके राजा इन्द्रादिक। ६. वज्रधारी इन्द्र। ७. राजहंसोंका समूह

रागादिक दुख कारन जानैं, त्याग बुद्धि दीनी भ्रमकी।
ज्ञान ज्योति जागी उर अंतर, रुचि बाढ़ी पुनि शमदमकी।म०।२
कर्म बंधकी भई निरजरा, कारण परंपरा-क्रमकी।
भागचन्द शिवलालच लागौ, पहुँच नहीं है जहँ जमकी।म०।३॥

(८) राग दीपचन्दी कानेर।

जानके सुज्ञानी, जैनवानीकी सरधा लाइये ॥टेक॥
जा विन काल अनंते भ्रमता, सुख न मिलै कहुँ प्रानी।१।
स्वपर विवेक अखंड मिलत है जाहीके सरधानी ।जा०।२।
अखिल प्रमान सिद्ध अविरुद्धत, स्यातपद शुद्ध निशानी।३।
भागचन्द सत्यारथ जानी, परमधरमरजधानी ॥जा०॥४॥

(९) लावनी।

धन्य धन्य है घड़ी आजकी, जिनधुनि श्रवण परी।
तत्त्वप्रतीत भई अब मेरे, मिथ्यादृष्टि टरी ॥टेक॥
जड़तैं भिन्न लखी चिन्मूरति, चेतन स्वरस भरी।
अहंकार ममकार बुद्धि पुनि, परमें सब परिहरी ॥ध०॥१॥
पापपुण्य विधिबंध अवस्था, भासी अतिदुखभरी।
वीतराग विज्ञानभावमय, परनति अति विस्तरी ॥ध०॥२॥
चाह-दाह विनसी वरसी पुनि, समतामेघझरी।
बाढ़ी प्रीति निराकुल पदसौं, भागचन्द हमरी ॥धन्य०॥२॥

द्यानत-विलास

(११) राग सोरठ

रुल्यो चिरकाल, जगजाल चहुँगतिविषैं,

आज जिनराज तुम शरन आयो ॥टेक॥ सह्यो दुख घोर, नहिं छोर आवै कहत, तुमसौं कछु छिप्यो नहिं तुम बतायो ॥रु०॥१॥ तु ही संसारतारक नहीं दूसरो, ऐसो मुह भेद न किन्हीं सुनायो ॥रुल्यो०॥२॥ सकल सुर असुर नरनाथ वंदत चरन । नाभिनन्दन निपुन मुनिन ध्यायो ॥रु०॥३॥ तु ही अरहन्त भगवन्त गुणवन्त प्रभु खुले मुझ भाग अब दरश पायो ॥रुल्यो०॥४॥ सिद्ध हौं शुद्ध हौं बुद्ध अविरुद्ध हौं, ईश जगदीश वहु गुणनि गायो ॥रुल्यो०॥५॥ सर्व चिन्ता गई बुद्धि निर्मल भई, जब हि चित जुगल चरननि लगायो ॥रुल्यो०॥६॥ भयो निहचिन्त द्यानत चरन शर्न गहि, तार अब नाथ तेरो कहायो ॥रुल्यो०॥७॥

(७८)

अरहंत सुमर मन बावरे ! ॥टेक॥ ख्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु लौ लाव रे ॥अरहन्त०॥१॥ नरभव पाय अकारथ खोवै, विषयभोग जु बढ़ाव रे । प्राण गये पछितै है मनवा, छिन छिन छीजै आव रे ॥अरहंत०॥२॥ जुवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरंग रथ चाव रे । यह संसार सुपनकी माया, आँख मीचि दिखराव रे ॥अरहन्त०॥३॥ ध्याव ध्याव रे अब है दावरे, नाहीं मंगल गाव रे । द्यानत बहुत कहां लौं कहिये, फेर न कछू उपाव रे ॥अरहन्त०॥४॥

(७६)

प्रभु तेरी महिमा कहिय न जाय ।।टेक।। थुति करि सुखो दुखी निंदातैं, तेरैं समता भाय ।।प्रभु०।।१।। जो तुम ध्यावै, थिर मन लावै, सो किंचित् सुख पाय । जो नहिं ध्यावै ताहि करत हो, तीन भवनको राय ।। प्रभु० ।। २ ।। अंजन चोर महाअपराधी, दियो स्वर्ग पहुँचाय । कथा-नाथ श्रेणिक समदृष्टी, कियो नरक दुखदाय ।।प्रभु०।।३।। सेव असेव कहा चलै जियकी, जो तुम करो सु न्याय । द्यानत सेवक गुन गहि लीजै, दोष सबै छिटकाय ।प्रभु०।४।

समयसार नाटक (पं० बनारसीदासजी)

सम्यग्दृष्टीकी स्तुति ।। सवैया २३ सा ।।

भेद विज्ञान जग्यो जिन्हके घट, सीतल चित्त भयो जिम चंदन । केलि करे शिवमारगमें, जगमाहि जिनेश्वरके लघुनंदन ।। सत्य स्वरूप सदा जिन्हके, प्रगट्यो अवदात मिथ्यात निकंदन । शांत दशा तिनकी पहिचानि, करे कर-जोरि बनारसि वंदन ।।६।।

सवैया ३१ सा

स्वारथके सांचे परमारथके सांचे चित्त, सांचे सांचे बैन कहे सांचे जैनमती है । काहूके विरुद्धी नांहिं परजाय बुद्धी नांहि, आतमगवेषी न गृहस्थ है न यती है ।। रिद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घटमें प्रगट सदा, अंतरकी लच्छिसौं

अजाची लछपती है। दास भगवंतके उदास रहै जगतसौं सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती है ॥७॥ जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकोसो, हिरदे हरख महा मोहको हरतु है। सांचा सुख मानें निज महिमा अडोल जानें, आपु ही में आपनो स्वभाव ले धरतु है ॥ जैसे जलकर्दम कतकफल भिन्न करे, तैसे जीव अजीव विलछन करतु है। आतम सकति साधे ग्यानको उदो आराधे, सोई समकिती भव-सागर तरतु है ॥८॥ धरम न जानत बखानत भरमरूप, ठौर ठौर ठानत लराई पक्षपातकी। भूल्यो अभिमानमें न पांव धरे धरनीमें, हिरदेमे करनी विचारे उतपातकी ॥ फिरे डांवाडोलसौ करमके कलोलनिमे, ह्वै रही अवस्था ज्यूं वभूल्या कैसे पातकी। जाकी छाती तानी कारी कुटिल कुवाती भारी, ऐसो ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी ॥९॥

कवि वर्णन सवैया २३ सा

चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्धसमान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग, कियो परसंग महातम घेरो ॥
ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहूँ गुण नाटक आगमकेरो।
जासु प्रसाद सधे शिवमारग, वेगि मिटे भववास वसेरो ।११।

समयसार नाटक ग्रंथकी महिमा।

॥ सवैया ३१ सा ॥

मोक्ष चलिवे शकोन करमको करेवोन, जाके रस भौन

बुध लोन ज्यों घुलत है। गुणको गरंथ निरगुणको सुगम पंथ, जाको जस कहत सुरेश अकुलत है। याहीके जु पच्छी ते उड़त ज्ञान गगनमें, याहीके विपच्छी जगजालमें रुलत है। हाटकसो विमल विराटकसो विसतार, नाटक सुनत हिये फाटक खुलत है ॥१५॥

जिनवाणीका वर्णन ।

॥ सवैया २३ सा ॥

जोग धरें रहे जोग सु भिन्न, अनंत गुणातम केवलज्ञानी ।
तासु हृदे द्रहसो निकसी, सरिता सम ह्वै श्रुत सिंधु समानी ।
याते अनंत नयातम लच्छण, सत्य सरूप सिद्धांत बखानी ।
बुद्धि लखे न लखे दुरबुद्धि, सदा जगमाहि जगे जिनवाणी ॥३॥

तीर्थंकरके देहकी स्तुति ।

॥ सवैया ३१ सा ॥

जाके देह द्युतिसों दशो दिशा पवित्र भई, जाके तेज आगे सब तेजवंत रुके हैं। जाको रूप निरखि थकित महा रूपवंत, जाके वपु वाससों सुवास और लुके हैं। जाकी दिव्यध्वनि सुनि श्रवणको सुख होत, जाके तन लछन अनेक आय ढिग ढुके हैं। तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुण, निश्चय निरखि शुद्ध चेतनसों चुके हैं ॥२५॥

शुद्ध परमात्म स्तुतिका दृष्टान्त कहकर निश्चय अर व्यवहारको निर्णय करे हैं ॥

❀ कवित्त छन्द ❀

तनु चेतन व्यवहार एकसें, निहचे भिन्न भिन्न हैं दोइ।
तनुकी स्तुति विवहार जीवस्तुति, नियत दृष्टि मिथ्याश्रुति सोइ।
जिन सो जीव जीव सो जिनवर, तनु जिन एक न माने कोइ ॥
ता कारण तनकी जो स्तुति, सो जिनवरकी स्तुति नहिं होइ ॥

जिन स्वरूप यथार्थ कथन।

❀ दोहा ❀

जिनपद नाहिं शरीरको, जिनपद चेतन मांहि।
जिन वर्णन कछु और है, यह जिनवर्णन नांहि ॥२७॥

तीर्थंकरकी निश्चय गुण स्वरूप स्तुति कथन।

॥ सवैया ३१ सा ॥

जामें लोकालोकके स्वभाव प्रतिभासे सब, जगी ज्ञान शकति विमल जैसी आरसी। दर्शन उद्योत लियो अंतराय अंत कियो, गयो महामोह भयो परम महाऋषी ॥ सन्यासी सहज जोगी जोगसुं उदासी जामें, प्रकृति पच्यासी लग रही जरि छारसी। सोहै घट मंदिरमें चेतन प्रगटरूप, ऐसो जिनराज ताहि वंदत बनारसी ॥२९॥

॥इति श्री समयसार नाटकका प्रथम जीवद्वार समाप्त भया॥१॥

द्वितीय अजीवद्वार प्रारंभ।

ज्ञान अजीवकूं पण जाने है तातैं संपूर्ण ज्ञानकी अवस्था निरूपण करै है।

॥ सवैया ३१ सा ॥

परम प्रतीति उपजाय गणधरकी सी, अंतर अनादि की विभावता विदारी है। भेदज्ञान दृष्टिसों विवेककी, शकति साधि, चेतन अचेतनकी दशा निरवारी है ॥ करम को नाश करि अनुभौ अभ्यास धरि, हियेमें हरखि निज शुद्धता सँभारी है। अंतराय नाश गयो शुद्ध परकाश भयो ज्ञानको विलास ताको वंदना हमारी है ॥२॥

अथ पुण्यपाप एकत्व करण चतुर्थद्वार प्रारंभ ॥४॥

पाप पुण्य द्वार विषे प्रथम ज्ञानरूप चंद्रके कलाकूं नमस्कार करे है। ॥ कवित्त ॥

जाके उदै होत घट अंतर, विनसे मोह महा तम रोक। शुभ अर अशुभ करमकी दुविधा, मिटे सहज दीसे इक थोक ॥ जाकी कला होत संपूरण प्रतिभासे सब लोक अलोक। सो प्रबोध शशि निरखि, बनारसि सीस नमाय देत पग धोक ॥२॥

अथ पंचम आश्रवद्वार प्रारंभ ॥५॥

आश्रव सुभटको नाश करनहार ज्ञान सुभट है तिस ज्ञान कूं नमस्कार करे है ॥ सवैया ३१ सा ॥

जे जे जगवासी जीव थावर जंगमरूप, ते ते निज वस करि राखे बल तोरिके। महा अभिमानी ऐसो आस्रव

अगाध जोधा, रोपि रण थंभ ठाड़ो भयो मूंछ मोरिकै ॥
आयो तिहि थानक अचानक परम धाम, ज्ञान नाम सुभट
सवायो बल फोरकै। आश्रव पछाड्यो रणथंभ तोड़ि
डार्यो तोहि निरख बनारसी नमत कर जोरिकै ॥२॥

अथ छट्ठो संवरद्वार प्रारंभ ॥६॥

संवर द्वारके आदिमें ज्ञानकूं नमस्कार करे हैं।

॥ सवैया ३१ सा ॥

आतमको अहित अध्यातम रहित ऐसो, आश्रव महा-
तम अखंड अंडवत है। ताको विस्तार गिलिवेकों परगट
भयो, ब्रह्मंडको विकाशी ब्रह्ममंडवत है॥ जामें सब रूप
जो सबमें सब रूपसों पै सबनिसों अलिप्त अकाश खंडवत
है। सोहै ज्ञानभानु शुद्ध संवरको भेष धरे, ताकी रुचि रेख
को हमारी दण्डवत है ॥२॥

अथ सप्तम निर्जराद्वार प्रारंभ ॥७॥

निशंकितादि अष्टांग सम्यक्तीकी महिमा कहे हैं

छप्पय छन्द ॥

जो परगुण त्यागंत, शुद्ध निज गुण गहंत ध्रुव।
विमल ज्ञान अंकुरा, जास घट महि प्रकाश हुव॥
जो पूरब कृतकर्म, निर्जरा धारि बहावत।
जो नव बंध निरोधि, मोक्ष मारग मुख धावत॥
निःशंकितादि जस अष्ट गुण, अष्ट कर्म अरि संहरत।

सो पुरुष विचक्षण तासु पद, बनारसी वंदन करत ॥५६॥

अथ अष्टम बंधद्वार प्रारंभ ॥८॥

सम्यक्ती [भेदज्ञानी] कूं नमस्कार करे है।

॥ सवैया ३१ सा ॥

मोहमद पाइ जिन्ह संसारी विकल कीने, याहीते अजानवान विरद वहत है। ऐसो बधवोर विकराल महा जाल सम, ज्ञान मंद करे चंद राहु ज्यों गहत है॥ ताको बल भंजिवेकों घटमें प्रगट भयो उद्धत उदार जाको उद्दिम महत है। सो है समकित सूर आनन्द अंकूर ताहि, निरखि बनारसी नमो नमो कहत है ॥२॥

अथ नवमो मोक्षद्वार प्रारंभ ॥ ९ ॥

॥ सवैया ३१ सा ॥

भेदज्ञान आरासों दुफारा करे ज्ञानी जीव, आतम क-रम धारा भिन्न भिन्न चरचे। अनुभौ अभ्यास लहे परम धरम गहे, करम भरमको खजानो खोलि खरचे॥ योंही मोक्षमग धावे केवल निकट आवे, पूरण समाधि लहे परम को परचे। भयो निरदौर याहि करनो न कछु और, ऐसो विश्वनाथ ताहि बनारसि अरचे ॥२॥

अथ दशमो सर्वविशुद्धिद्वार प्रारंभ ॥ १० ॥

❀ दोहा ❀

जो निश्चै निर्मल सदा, आदि मध्य अरु अन्त।

सो चिद्रूप बनारसी, जगत मांहि जैवंत ॥२॥

अथ बारहमो साध्य साधक द्वार प्रारंभ ॥१२॥

❀ सोरठा ❀

जाके मुक्ति समीप, भई भवस्थिति घट गई ।
ताकी मनसा सीप, सुगुरु मेघ मुक्ता वचन ॥३॥

❀ दोहा ❀

ज्यों वर्षे वर्षा समैं, मेघ अखंडित सार ।
त्यों सद्गुरु वाणी खिरै, जगत जीव हितकार ॥४॥
शब्द मांहि सद्गुरु कहै, प्रगटरूप निजधर्म ।
सुनत विचक्षण श्रद्दहै, मूढ न जाने मर्म ॥१२॥

जैसे काहू नगरके वासी द्वै पुरुष भूले, तामें एक नर सुष्ट एक दुष्ट उरको । दोउ फिरैं पुरके समीप परे कुवटमें, काहू और पंथिककों पूछे पंथ पुरको ॥ सो तो कहे तुमारो नगर ये तुमारे ढिग, मारग दिखावे समझावे खोज पुरको । एते पर सुष्ट पहचाने पै न माने दुष्ट, हिरदे प्रमाण तैसे उपदेश गुरुको ॥१३॥ जैसे काहू जंगलमें पावसको समैं पाइ, अपने सुभाय महामेघ बरखत है । आमल कषाय कटु तीक्षण मधुर क्षार, तैसा रस बाढ़े जहाँ जैसा दरखत है ॥ तैसे ज्ञानवंत नर ज्ञानको बखान करे, रस कोउ माही है न कोउ परखत है । बोही धुनि सुनि कोउ गहे कोउ रहे सोइ, काहूको विपाद होइ कोउ हरखत है ॥१४॥

चतुर्दश गुणस्थानाधिकार प्रारंभ ॥

॥ सवैया ३१ सा ॥

जाके मुख दरससों भगतके नैन नीकों, थिरताकी बानी बढ़े चंचलता विनसी। मुद्रा देखें केवलीकी मुद्रा याद आवे जहाँ, जाके आगे इन्द्रकी विभूति दीसे तिनसी ॥ जाको जस जपत प्रकाश जगे हिरदेमें, सोइ शुद्ध मति होइ हुतिजो मलिनसी। कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी, सो है जिनकी छबि सु विद्यमान जिनसी ॥२॥ जाके उर अंतर सुदृष्टिकी लहर लसि, विनसी मिथ्यात मोह निद्राकी समारषी। सैलि जिन शासनकी फैलि जाके घट भयो, गरवको त्यागि षट दरवको पारषी ॥ आगमके अक्षर परे है जाके श्रवणमें, हिरदे भंडारमें समानी वाणी आरषी। कहत 'बनारसी' अलप भव थिति जाकी, सोई जिन प्रतिमा प्रवाणे जिन सारषी ॥३॥

॥ सवैया ३१ सा ॥

जो अडोल परजंक मुद्राधारी सरवथा, अथवा सु काउसर्ग मुद्रा थिर पाल है। क्षेत्र सपरस कर्म प्रकृतीके उदे आये, विना डग भरे अंतरिक्ष जाकी चाल है ॥ जाकी थिति पूरव करोड़ आठ वर्ष घाटि, अंतर मुहूरत जघन्य जग जाल है। सो है देव अठारह दूषण रहित ताको, बनारसि कहे मेरी बंदना त्रिकाल है ॥१०७॥

एकीभाव स्तोत्र

(कविवर भूधरदास-कृत हिन्दी-पद्यानुवाद)

वादिराज मुनिराजके, चरन-कमल चित लाय;
भाषा एकीभावकी, करूँ स्व-पर सुखदाय ॥
जो अति एकीभाव भयो मानो अनिवारी ।
सो मुझ कर्म-प्रबन्ध करत भव-भव दुख भारी ॥
ताहि तिहारी भक्ति-जगत-रवि जो निरवारै ।
तो अब और कलेश कौन सो नाहिं विदारै ॥१॥
तुम जिन जोति-सरूप दुरित-अँधियार निवारी ।
सो गनेस-गुरु कहैं तत्त्व-विद्या-धनधारी ॥
मेरे चित-घर माहिं बसौ तेजोमय यावत ।
पाप-तिमिर अवकास तहाँ सो क्योंकर पावत ॥२॥
आनँद आँसू बदन धोय तुमसों चित सानै ।
गदगद सुरसौं सुयश-मंत्र पढ़ि पूजा ठानै ॥
ताके बहुविधि व्याधि-व्याल चिरकाल निवासी ।
भाजैं थानक छोड़ देह-बाँवइ के वासी ॥३॥
दिवितैं आवनहार भये भवि-भाग उदयबल ।
पहले ही सुर आय कनकमय कीय महीतल ॥
मन-गृह ध्यान-दुआर आय निवसो जगनामी ।
जो सुवरन तन करो कौन यह अचरज स्वामी ॥४॥

प्रभु सब जगके बिना हेतु बान्धव उपकारी।
निरावरन सर्वज्ञ, शक्ति जिनराज तिहारी॥
भक्ति-रचित मम चित्त-सेज नित वास करोगे।
मेरे दुख-सन्ताप देखि किम धीर धरोगे ? ॥५॥
भव-वनमें चिरकाल भ्रमो कछु कहिय न जाई।
तुम थुति-कथा-पियूष-वापिका भागन पाई॥
शशि तुषार घनसार हार शीतल नहिं जा सम।
करतन्हौन ता माहिं क्यों न भवताप बुझै मम॥६॥
श्रीविहार परिवाह होत शुचि-रूप सकल जग।
कमल कनक आभाव सुरभि श्रीवास धरत पग॥
मेरो मन-सर्वंग परस प्रभुको सुख पावै।
अब सो कौन कल्यान जो न दिन २ ढिग आवै॥७॥
भव तज सुखपद बसे काममद सुभट सँहारे।
जो तुमको निरखंत, सदा प्रिय दास तिहारे॥
तुम वचनामृत पान भक्ति—अंजुलिसों पीवै।
तिन्हें भयानक क्रूर रोग-रिपु कैसे छीवै॥८॥
मानथम्भ पाषान आन पाषान पटन्तर।
ऐसे और अनेक रतन दीखैं जग—अन्तर॥
देखत दृष्टि-प्रमान मान-मद तुरत मिटावै।
जो तुम निकट न होय शक्ति यह क्योंकर पावै॥९॥
प्रभुतन-पर्वत-परस पवन उरमें निवहै है।

तासों ततछिन सकल रोग-रज बाहिर ह्वै है ॥
जाके ध्यानाहूत बसो उर-अम्बुज माहीं ।
कौन जगत उपकार करन समरथ सो नाहीं ॥१०॥
जनम-जनमके दुःख सहे सब ते तुम जानो ।
याद किये मुझ हिये लगें आयुधसे मानो ॥
तुम दयाल, जगपाल, स्वामि, मैं शरन गही है ।
जो कछु करनो होय करो परमान वही है ॥११॥
मरन-समय तुम नाम मंत्र जीवकतैं पायो ।
पापाचारी स्वान प्रान तज अमर कहायो ॥
जो मणिमाला लेय जपै तुम नाम निरन्तर ।
इन्द्र सम्पदा लहै कौन संशय इस अन्तर ॥१२॥
जो नर निर्मल ज्ञान मान शुचि चारित साधै ।
अनवधि सुखकी सार भक्ती-कूं भी नहिं लाधै ॥
सो शिव-वांछक पुरुष मोक्ष-पट केम उघारै ।
मोह-मुहर दिढ़ करी मोक्ष-मन्दिरके द्वारै ॥१३॥
शिवपुर-केरो पन्थ पाप-तमसों अति छायो ।
दुख-सरूप बहु कूप-खाड़सों विकट बतायो ॥
स्वामी, सुखसों तहाँ कौन जन मारग लागैं ।
प्रभु-प्रवचन-मणिदीप जौनके आगैं-आगैं ॥१४॥
कर्म-पटल भू माहिं दबी आतम-निधि भारी ।
देखत अतिसुख होय विमुखजन नाहिं उघारी ॥

तुम सेवक ततकाल ताहि निहचैं करि धारै ।
थुति-कुदालसों खोद बंध-भू कठिन विदारै ॥१५॥
स्याद्वाद-गिरि उपज मोक्ष-सागरलों धाई ।
तुम चरणाम्बुज-परस भक्ति-गंगा सुखदाई ।
मो चित निर्मल थयो न्हौन-रुचि-पूरव तामैं ।
अब वह हो न मलीन कौन, जिन, संशय यामैं।१६।
तुम शिवसुखमय प्रगट करत प्रभु चिंतन तेरो ।
मैं भगवान समान, भाव यों वरतै मेरो ॥
यदपि झूठ है, तदपि तृप्ति निश्चल उपजावै ।
तुव प्रसाद सकलंक जीव वांछित फल पावै ॥१७॥
वचनजलधि तुम देव सकल त्रिभुवनमें व्यापै ।
भंग-तरंगिनि विकथ-वाद-मल मलिन उथापै ।
मन-सुमेरुसों मथैं ताहि जे सम्यग्ज्ञानी ॥
परमामृतसों तृपत होहिं ते चिरलों प्रानी ॥१८॥
जो कुदेव छवि-हीन वसन-भूषन अभिलाखै ।
वैरीसों भयभीत होय, सो आयुध राखै ॥
तुम सुन्दर सर्वंग, शत्रु समरथ नहिं कोई ।
भूषन-वसन गदादि ग्रहन काहेको होई ? ॥१९॥
सुरपति सेवा करै, कहा प्रभु, प्रभुता तेरी ।
सो सलाघना लहै, मिटै जगसों जगफेरी ॥
तुम भवजलधि जिहाज तोहि शिवकंत उचरिये ।

तुही जगतजन-पाल, नाथ, थुतिकी थुति करिये।२०।
वचन-जाल जड़-रूप, आप चिन्मूरति भाँई ।
तातैं थुति आलाप नाहिं पहुँचै तुम ताँई ॥
तौ भी निर्फल नाहिं भक्ति-रस-भीने वायक ।
सन्तनको सुरतरु समान वांछित वर-दायक ॥२१॥
कोप कभी नहिं करो, प्रीति कबहू नहिं धारो ।
अति उदास बेचाह चित्त, जिनराज. तिहारो ॥
तदपि आन जग बहै बैर तुम निकट न लहिये ।
यह प्रभुता जगतिलक कहाँ तुम बिन सरदहिये।२२।
सुर-तिय गावैं सुजस सर्व गति ज्ञान-सरूपी ।
जो तुमको थिर होय नमैं भवि आनँद-रूपी ।
ताहि क्षेमपुर चलन बाट बाकी नहिं हो है ॥
श्रुतके सुमरन माहिं सो न कबहूं नर मोहै॥२३॥
अतुल चतुष्टय-रूप तुम्हे जो चितमैं धारैं ।
आदरसों तिहुँकाल माहिं जग-थुति विस्तारैं ॥
सो सुकृत शिव-पंथ भक्ति रचना कर पूरैं ।
पंचकल्यानक ऋद्धि पाय निहचैं दुख चूरैं॥२४॥
अहो जगतपति पूज्य, अवधिज्ञानी मुनि हारे ।
तुम गुन कीर्तन माहिं, कौन हम मंद विचारे ॥
थुति-छलसों तुम-विषैं देव आदर विस्तारे ।
शिव-सुख पूरनहार कलप-तरु यही हमारे॥२५॥

वादिराज मुनितैं अनु वैयाकरणी सारे;
वादिराज मुनितैं अनु तार्किक विद्यावारे।
वादिराज मुनितैं अनु हैं काव्यनके ज्ञाता;
वादिराज मुनितैं अनु हैं भविजनके त्राता।
मूल अर्थ बहुविधि कुसुम, भाषा सूत्र मँझार।
भक्तिमाल 'भूधर' करी, करो कंठ सुखकार॥

भक्तामर स्तोत्र

(कवि गिरिधर शर्मा कृत हिन्दी-पद्यानुवाद)

हैं भक्त - देव - नत - मौलि - मणिप्रभाके,
उद्योत-कारक, विनाशक पापके हैं;
आधार जो भव-पयोधि पड़े जनोंके,
अच्छी तरा नम उन्हीं प्रभुके पदोंको ॥१॥
श्री आदिनाथ विभुकी स्तुति मैं करूंगा,
की देवलोकपतिने स्तुति है जिन्होंकी;
अत्यन्त सुन्दर जगत्रय-चित्तहारी,
सुस्तोत्रसे, सकल शास्त्र रहस्य पाके ॥२॥
हूँ बुद्धिहीन, फिर भी बुध-पूज्यपाद!
तैयार हूं स्तवनको निर्लज्ज होके;
है और कौन जगमें तज बाल को, जो,
लेना चहे सलिल-संस्थित चन्द्र-बिम्ब ॥३॥

होवे बृहस्पति-समान सुबुद्धि तो भी,
है कौन जो गिन सके तव सद्‌गुणों को ?
कल्पान्तवायु-वश सिन्धु अलंघ्य जो है,
है कौन जो तिर सके उसको भुजासे ? ॥४॥
हूँ शक्तिहीन फिर भी करने लगा हूँ,
तेरी प्रभो, स्तुति, हुआ वश-भक्तिके मैं;
क्या मोहके वश हुआ शिशुको बचाने,
है सामना न करता मृग सिंहका भी ? ॥५॥
हूँ अल्पबुद्धि, बुध-मानवकी हँसीका,
हूँ पात्र, भक्ति-तव है मुझको बुलाती;
जो बोलता मधुर कोकिल है मधूमें,
है हेतु आम्र-कलिका बस एक उसका ॥६॥
तेरी किये स्तुति, विभो, बहु जन्मके भी,
होते विनाश सब पाप मनुष्यके हैं;
भौंरे समान अतिश्यामल ज्यों अँधेरा,
होता विनाश रविके करसे निशाका ॥७॥
यों मान, की स्तुति शुरू मुझ अल्पधीने,
तेरे प्रभाव-वश, नाथ, वही हरेगी;
सल्लोकके हृदयको; जल-बिन्दु भी तो,-
मोती समान नलिनी-दलपै सुहाते ॥८॥
दुर्दोष दूर तव हो स्तुतिका बनाना,

तेरी कथा तक हरे जगके अघोंको;
हो दूर सूर्य, करती उसकी प्रभा ही,
अच्छे प्रफुल्लित सरोजनको सरों में ॥९॥
आश्चर्य क्या, भुवनरत्न, भले गुणोंसे,
तेरी किये स्तुति बने तुझसे मनुष्य !
क्या काम है जगतमें उन मालिकोंका,
जो आत्म-तुल्य न करें निज-आश्रितोंको? ।१०
अत्यन्त सुन्दर, विभो, तुझको विलोक,
अन्यत्र आँख लगती नहिं मानवोंकी;
क्षीराब्धिका मधुर सुन्दर वारि पीके,
पीना चहे जलधिका जल कौन खारा? ॥११॥
जो शान्तिके सुपरमाणु, प्रभो, तनूमें,
तेरे लगे, जगतमें उतने वही थे;
सौन्दर्य-सार जगदीश्वर चित्तहर्ता,
तेरे समान इससे नहिं रूप कोई ॥१२॥
तेरा कहाँ मुख सुरादिक नेत्र-रम्य,
सर्वोपमान विजयी, जगदीश, नाथ !
त्यों ही कलंकित कहाँ वह चन्द्रबिम्ब,
जो हो पड़े दिवसमें द्युतिहीन फीका ॥१३॥
अत्यन्त सुन्दर कलानिधिकी कलासे,
तेरे मनोज्ञ गुण, नाथ, फिरें जगोंमें;

है आसरा त्रिजगदीश्वरका जिन्होंको,
रोके उन्हें त्रिजगमें फिरते न कोई ॥१४॥
देवाङ्गना हर सकीं मनको न तेरे;
आश्चर्य नाथ, इसमें कुछ भी नहीं है:
कल्पान्तके पवनसे उड़ते पहाड़,
पै मन्दराद्रि हिलता तक है कभी क्या ? ॥१५॥
वत्ती नहीं, नहिं धुआँ, नहिं तैल पूर,
भारी हवा तक नहीं सकती बुझा है:
सारे त्रिलोक विच है करता उजेला,
उत्कृष्ट दीपक विभो, द्युतिकारि तू है ॥१६॥
तू हो न अस्त, तुझको गहता न राहु,
पाते प्रकाश तुझसे जग एकसाथ;
तेरा प्रभाव रुकता नहिं बादलोंसे,
तू सूर्यसे अधिक है महिमा-निधान ! ॥१७॥
मोहान्धकार हरता, रहता उगा ही,
जाता न राहु-मुखमें, न छुपे घनोंसे,
अच्छे प्रकाशित करे जगको, सुहावे,
अत्यन्त कान्तिधर, नाथ, मुखेन्दु तेरा ॥१८॥
क्या भानुसे दिवसमें, निशिमें शशीसे,
तेरे, प्रभो, सुमुखसे तम नाश होते;
अच्छी तरा पक गया जग-बीच धान,

है काम क्या जल-भरे इन बादलोंसे ॥१९॥

जो ज्ञान निर्मल, विभो, तुझमें सुहाता,
भाता नहीं वह कभी पर-देवतामें,
होती मनोहर छटा मणि-मध्य जो है,
सो काचमें नहिं; पड़े रवि-बिम्बके भी ॥२०॥

देखे भले, अयि विभो, पर-देवता ही,
देखे जिन्हें हृदय आ तुझमें रमे ये;
तेरे विलोकन किये फल क्या प्रभो जो,
कोई रमे न मनमें पर-जन्ममें भी ? ॥२१॥

माएँ अनेक जनतीं जगमें सुतोंको,
हैं किन्तु वे न तुझसे सुतकी प्रसूता;
सारी दिशा धर रहीं रविका उजेला,
पै एक पूरब-दिशा रविको उगाती ॥२२॥

योगी तुझे परम-पूरुष हैं बताते,
आदित्य-वर्ण मलहीन तमिस्र-हारी;
पाके तुझे, जय करें सब मौतको भी,
है और ईश्वर नहीं वर मोक्ष-मार्ग ॥२३॥

योगीश, अव्यय, अचिंत्य, अनङ्गकेतु,
ब्रह्मा, असंख्य परमेश्वर, एक, नाना,-
ज्ञान-स्वरूप, विभु, निर्मल, योगवेत्ताः
त्यों आद्य, सन्त तुझको कहते अनन्त ॥२४॥

तू बुद्ध है विबुध-पूजित-बुद्धिवाला,
कल्याण-कर्तृवर शंकर भी तुही है;
तू मोक्ष-मार्ग विधि-कारक है विधाता,
है व्यक्त, नाथ, पुरुषोत्तम भी तुही है ॥२५॥
त्रैलोक्य-आर्ति-हर नाथ, तुझे नमूं मैं,
हे भूमिके विमल रत्न, तुझे नमूं मैं;
हे ईश सर्व जगके, तुझको नमूं मैं;
मेरे भवोदधि-विनाश, तुझे नमूं मैं ॥२६॥
आश्चर्य क्या गुण सभी तुझमें समाये,
अन्यत्र क्योंकि न मिली उनको जगा ही;
देखा, न, नाथ, मुख भी तव स्वप्नमें भी,
पा आसरा जगतका सब दोषने तो ॥२७॥
नीचे अशोक तरुके तन है सुहाता,
तेरा विभो, विमल रूप प्रकाश-कर्ता;
फैली हुई किरणका, तमका विनाशी,
मानो समीप घनके रवि-बिम्ब ही है ॥२८॥
सिंहासन-स्फटिक रत्न-जड़ा उसीमें,
भाता, विभो, कनक-कान्त शरीर तेरा;
ज्यों रत्न-पूर्ण उदयाचल शीशपै जा,
फैला स्वकीय किरणें रवि-बिम्ब सोहै ॥२९॥
तेरा सुवर्ण-सम देह, विभो, सुहाता,

है, श्वेत कुन्द-सम चामरके उड़ेसे;
सोहे सुमेरुगिरि, कांचन कान्तिधारी,
ज्यों चन्द्रकान्ति-धर निर्भरके बहेसे ॥३०॥
मोती मनोहर लगे जिनमें, सुहाते,
नीके हिमांशु-सम, सूरज-ताप-हारी;
हैं तीन छत्र शिरपै अति रम्य तेरे,
जो तीन लोक परमेश्वरता बताते ॥३१॥
गम्भीर नाद भरता दश ही दिशा में,
सत्संगकी त्रिजगको महिमा बताता;
धर्मेशकी कर रहा जय-घोषणा है,
आकाश बीच बजता यशका नगारा ॥३२॥
गन्धोद-बिन्दु-युत मारुतकी गिराई,
मन्दारकादि तरुकी कुसुमावलीकी;
होती मनोरम महा सुरलोकसे है,
वर्षा, मनो तव लसे वचनावली है ॥ ३३ ॥
त्रैलोक्यकी सब प्रभामय वस्तु जीती,
भामण्डल प्रबल है तव, नाथ, ऐसा !
नाना प्रचण्ड रवि-तुल्य सुदीप्ति-धारी,
है जीतता शशि सुशोभित रातको भी ।३४॥
है स्वर्ग-मोक्ष-पथ-दर्शनको सु नेता,
सद्धर्मके कथनमें पटु है जगोंके;

दिव्यध्वनि प्रकट अर्थमयी, प्रभो, है,
तेरी, लहे सकल मानव बोध जिससे ॥२५॥
फूले हुए कनकके नव पद्मके-से,
शोभायमान नखकी किरण-प्रभासे;
तूने जहाँ पग धरे अपने, विभो, हैं,
नीके वहाँ विबुध पङ्कज कल्पते हैं ॥ २६ ॥
तेरी विभूति इस भाँति, विभो, हुई जो,
सो धर्मके कथनमें न हुई किसीकी;
होते प्रकाशित, परन्तु तमिस्र-हर्ता,
होता न तेज रवि-तुल्य कहीं ग्रहोंका ॥२७॥
दोनों कपोल झरते मदसे सने हैं,
गुंजार खूब करती मधुपावली है;
ऐसा प्रमत्त गज होकर क्रुद्ध आवे,
पावें न किंतु भय, आश्रित लोक तेरे ॥२८॥
नाना करीन्द्रदल-कुम्भ विदारके, की
पृथ्वी सुरम्य जिसने गज-मोतियोंसे;
ऐसा मृगेन्द्र तक चोट करे न उसपै,
तेरे पदाद्रि जिसका शुभ आसरा है ॥२९॥
झालें उठें, चहुँ उड़ें जलते अँगारे,
दावाग्नि जो प्रलय-वह्नि समान भासे;
संसार भस्म करने-हित पास आवे,

त्वत्कीर्ति-गान शुभ-वारि उसे शमावे ॥४०॥
रक्ताक्ष क्रुद्ध पिक-कण्ठ समान काला,
फुङ्कार सर्प फणको कर उच्च धावे;
निःशंक हो जन उसे पगसे उलाँघे,
त्वन्नाम नाग-दमनी जिसके हिये हो ॥४१॥
घोड़े जहाँ हिनहिने, गरजे गजाली,
ऐसे महाप्रबल सैन्य धराधिपोंके;
जाते सभी बिखर हैं तव नाम गाये,
ज्यों अंधकार, उगते रविके करोंसे ।४२॥
बर्छे लगे बह रहे गज-रक्तके हैं,
तालाबसे, विकल हैं तरणार्थ योद्धा;
जीते न जाँय रिपु, संगर बीच ऐसे,
तेरे प्रभो, चरण-सेवक जीतते हैं ॥ ४३ ॥
हैं काल-नृत्य करते मकरादि जन्तु,
त्यों वाड़वाग्नि अति भीषण सिन्धुमें है;
तूफ़ानमें पड़ गये जिनके जहाज,
वे भी, प्रभो, स्मरणसे तव, पार होते ॥४४॥
अत्यन्त पीड़ित जलोदर-भारसे हैं,
है दुर्दशा, तज चुके निज-जीविताशा;
वे भी लगा तव पदाब्ज-रजःसुधाको,
होते, प्रभो, मदन-तुल्य सुरूप-देही ॥ ४५ ॥

सारा शरीर जकड़ा दृढ़ साँकलोंसे,
बेड़ी पड़ें छिल गईं, जिनकी सुजाँघें;
त्वन्नाम-मंत्र जपते-जपते उन्होंके,
जल्दी स्वयं झर पड़ें सब बन्ध-बेड़ी ॥४६॥
जो बुद्धिमान इस सुस्तवको पढ़ें हैं,
होके विभीत उनसे भय भाग जाता;
दावाग्नि-सिंधु-अहिका, रण-रोगका, त्यों,
पंचास्य, मत्त गजका, सब बन्धनोंका ॥४७॥
तेरे मनोज्ञ गुणसे स्तव-मालिका ये,
गूँथी, प्रभो, त्रिविधवर्ण सुपुष्पवाली;
मैंने सभक्ति, जनकण्ठ धरे इसे जो;
सो 'मानतुङ्ग' सम प्राप्त करे सुलक्ष्मी ॥४८॥

महाकवि बुधजन-कृत

छहढाला

मंगलाचरण, सोरठा ।

सर्व द्रव्यमें सार, आतमको हितकार हैं;
नमहुं ताहि चितधार, नित्य निरंजन जानके ।

पहिली ढाल

चौपाई १५ मात्रा।

आयु घटत [1]तेरी दिन-रात, होय [2]निचींत रह्यो क्यों भ्रात?
जोबन, धन, तन, [3]किंकर, नारि, सब हैं जल-[4]बुद्‌बुद उनहारि।
पूरन आयु बधै [5]खिन नाहिं, दिये कोटि धन तीरथ माँहिं;
इन्द्र चक्रपति हू कहा करैं, आयु अंततें वे हू मरैं॥ २॥
यो संसार असार महान, सार आपमें '[6]आपा' जान;
सुखतैं दुख, दुखतैं सुख होय, [7]समता चारों [8]गति नहिं कोय।३
अनंतकाल गति-गति दुख [9]लह्यो, बाकी काल अनंतो कह्यो;
सदा अकेलो '[10]चेतन' एक, ते माँही गुन बसत अनेक।४
'[11]तू' न किसीका, कोइ नहिं [12]तोय, तेरौ सुखदुख 'तो'कों होय;
यातैं 'तो' कों 'तू' उर धार, पर-[13]द्रव्यनितैं मोह [14]निवार।५।
हाड़-माँस तन लिपटी चाम, रुधिर-मूत-मल-पूरित [15]धाम;

१. अपनी आत्मा या मनको समझानेके लिए, उसे शरीरसे भिन्न, 'तेरी' कहकर सम्बोधन किया गया है। २. निश्चित। ३. सेवक आदि। ४. पानीका बुलबुला; उनहारि=समान; अर्थात् ये सब पानीके बुद्‌बुदेके समान नष्ट होनेवाले है। ५. बधै=बढ़ती; खिन=क्षण; अर्थात् निश्चित आयुसे एक क्षण भी ज्यादा नहीं जी सकते। ६. आत्मामे अपनापन। ७. रागद्वेषरहित परिणति ८. स्वर्ग, नरक, मनुष्य और तिर्यंच गति। ९. पाया। १०. आत्मा यानी मै स्वयं। ११ आत्मा। १२. तेरा। १३. आत्मासे भिन्न शरीर आदि संसारके सभी पदार्थ। १४. छोड़ दे। १५. खून-मूत्र-मलसे भरा घर।

सोहू थिर न रहै, खय [1] होय, याको तजें मिलै [2] शिवलोय ॥६॥
हित-अनहित तन-कुल-जन माहिं, खोटी [3] बानि हरो क्यों नाहिं ?
यातैं पुद्गल-करमन जोग, प्रनवै दायक सुख-दुख रोग ॥७॥
पाँचों इन्द्रिनके तज [4] फैल, चित्त निरोधि,लागि शिव- [5] गैल;
'तो' में तेरो तू करि [6] सैल, कहा रह्यो ह्वै कोल्हू [7] बैल ।८।
तजि कषाय, मनकी चल चाल, ध्यावो अपना रूप [8] रसाल;
झरैं करम-बन्धन दुख-दान, बहुरि प्रकाशै केवल-ज्ञान ॥९॥
तेरो जनम हुवो नहिं जहाँ, ऐसो [9] खेतर नाहीं कहाँ;
याही जनम-भूमिका [10] रचो, चलो निकसि तो [11] विधितैं बचो ।
सब व्यौहार क्रियाका [12] ज्ञान, भयो अनंती बार प्रधान;
[13] निपट कठिन 'अपनी' [14] पहचान, ताकों पावत होत कल्यान
धरम सुभाव आप [15] सरधान, धर्म न शील, न न्हौन न दान;
'बुधजन' गुरुकी [16] सीख विचार, [17] गहो धाम आतम-हितकार;

१. सो भी स्थिर नहीं रहता, क्षय हो जाता है। २. मोक्ष। ३. बुरी आदत। ४. इन्द्रियोंके काम या दासता छोड़कर। ५. चित्तको वश करके मोक्ष-मार्गमें लग। ६. तू अपनी आत्मामें आप सैर कर। ७. क्यों झूठमूठको कोल्हूके बैलकी तरह अपने ज्ञानपर मिथ्यात्वकी पट्टी बांधे हुए, दूसरोंके लिए संसारमें घूम रहा है। ८ मनोहर। ९. क्षेत्र। १०. इस जन्म-मरणकी दुःख पूर्ण भूमिमें रच रहा है। ११. आठ कर्मोसे। १२. सम्यग्दर्शन-रहित बाहरकी क्रिया या चारित्रका ज्ञान। १३. अत्यन्त। १४. स्वरूप। १५. धर्मका स्वरूप आत्माका श्रद्धान है। १६. शिक्षा। १७. ग्रहण करो।

दूसरी ढाल।

जोगीरासा (नरेन्द्र छन्द)

सुन, रे [1]जीव, कहत हूँ तोकों, तेरे हितके [2]काजै;
ह्वै निश्चल मन, जब तू धारै, तब कछु-इक तो [3]लाजै।
जो दुखतैं थावर-[4]तन पायो, वरन सकूँ सो नाहीं;
ठारै [5]बार मुवो अरु जीयो, एक साँसके माहीं ॥ १ ॥
काल अनन्तानन्त रह्यो यों, पुनि [6]विकलत्रय हूवो;
बहुरि असैनी निपट अज्ञानी, छिन-छिन जीयो, [7]मूवो।
ऐसें जनम गयो करमन-वश, तेरो वश नहिं चाल्यो;
पुण्य उदय सैनी पशु हूवो, तब हू ज्ञान न [8]भाल्यो ॥ २ ॥
जबर मिल्यो तिन तोहि सतायो, निबल मिल्यो, तैं खायो;
मात तिया-सम भोगी [9]पापी, तातैं नरक [10]सिधायो।
कोटिक बीछू काटत जैसें, ऐसी भूमि तहाँ है;
रुधिर-राध-[11]परवाह बहत है, दुरगँध [12]निपट जहाँ है॥३॥
घाव करत असि-[13]पत्र अंगमें, शीत-उष्ण तन [14]गालै;

---

१. हे मेरी अन्तरात्मा, सुन। २. लिए। ३. कुछ तो शरम आयेगी। ४. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वृक्षादि वनस्पति-शरीर। ५. अठारहबार। ६. दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय और चौ-इन्द्रिय जीव। ७. पैदा हुआ, और मरता रहा। ८. फिरभी ज्ञान नहीं पाया। ९. यहां तक पापी कि, माताके साथ भी स्त्री-जैसा भोग करनेवाला,- फिर और-और पापोंकी तो गिनती ही क्या? १०. गया। ११. खून और पीवकी नदी। १२. बहुत ही अधिक। १३. तलवार-जैसी धारवाले पत्ते। १४. सरदी-गरमी ऐसी कि शरीर गल-गल जाता है।

कोई काटै [1]करवत कर गहि, कोई [2]पावक जालैं।
जथाजोग सागर-थिति [3]भुगतै, दुखको अंत न आवै;
कर्म-विपाक [4]असाही ह्वै तो, मानुष-गति तब पावै ॥४॥
मात-उदरमें रहै [5]गींद ह्वै, निकसत ही [6]विललावै;
डंभा, दाँत, गला, विसफोटक, डाँकिनितैं बचि [7]जावै।
तौ जोबनमें भामिनिके सँग, निशि-दिन भोग [8]रचावै;
अन्धा ह्वै [9]धन्धे दिन खोवै, बूढ़ा नार [10]हलावै ॥ ५ ॥
जम पकरै, तब जोर न चालै, सैनासैन [11]बतावै;
मन्द-कषाय होय तो भाई, भवनत्रिक-[12]पद पावै।

१. करौत या आरा। २. आग, जालै=जलाता है। ३. यथायोग्य अर्थात् जिस नरकमें जितने सागरकी आयु हो, उसको पूरा भोगता है। ४. ऐसा ही कोई प्रबल शुभ कर्मका उदय आवै, तब। ५. गर्भावस्थामें माँ के पेटमे सिमटा हुआ उल्टा टँगा रहता है। ६. फड़फड़ाता है। ७. बचपनमे इन सब आपत्तियोंसे बच जाय, तब कहीं। ८. तो यौवनमें रातदिन स्त्रीके साथ भोग-विलासमें लीन हो जाता है। ९. रोजगार-धन्धेमे। १०. अंतमे बूढ़ा हो जाता है, तब शरीर शिथिल हो जानेसे धर्म-ध्यान कुछ भी करते नही बनता। ११. अंतिम दशामे जब मरनेका समय आता है, तब (समाधि-मरणसे सद्गति प्राप्त करना तो दूर रहा) जबान बन्द हो जानेसे अधूरे सांसारिक कामोंकी पूर्तिके लिए इशारे करते २ दुर्लभ मनुष्य-जन्मसे हाथ धोकर दूसरी पर्यायमे चला जाता है। १२. भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क।

परकी सम्पति लखि अति [1]झूरै, कै [2]रति काल गँवावै;
आयु-अन्त माला मुरझावै, तब लखि-लखि पछतावै ॥६॥
[3]चवै तहाँतैं थावर होवै, रुलि है काल अनन्ता;
या विधि पंच [4]परावृत पूरत, दुखको नाहीं अन्ता।
काल-[5]लब्धि, जिन-गुरु-किरपातैं, आप 'आप' को जानै;
तब ही 'बुधजन' भवदधि तरिकैं, पहुँचि जाय शिव-[6]थानै ॥७॥

तीसरी ढाल
(पद्धरि छन्द)

या विधि भव-वन माहिं जीव,
वस-[7]मोह [8]गहल सूतै सदीव;
उपदेश तथा सहजै [9]प्रबोध,
तब ही जागै ज्यों उठत जोध ॥ १ ॥
जब चितवत अपने माहिं आप,
हूँ चिदानन्द, नहिं पुण्य-पाप;
मेरो नाहीं है राग-[10]भाव,
ये तो विधि-वश उपजे [11]विभाव ॥ २ ॥
हूँ नित्य [12]निरंजन, [13]सिध समान,

१. कुढ़ता है। २. या भोगविलासमे समय गँवाता है। ३. मरने पर। ४. पंच परिवर्तन-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। ५. करण-लब्धिकी प्राप्ति होनेपर। ६. मोक्ष स्थान। ७. मोहनीय कर्म-वश। ८. गाफिल। ९. ज्ञान। १०. 'आत्मासे भिन्न रागद्वेष आदि विभाव। ११. ये तो कर्मोंके वश विपरीत भाव उत्पन्न हुए है। १२ रागद्वेषरहित शुद्धात्मा। १३. कर्ममलरहित सिद्ध।

ज्ञानावरनी आच्छाद ज्ञान;[1]
निश्चय सुध इक, व्योहार भेव,[2]
गुन गुनी, अंग अंगी, अछेव[3] ॥ ३ ॥
मानुष, सुर, नारक, पशु प्रजाय,
शिशु, युवा, वृद्ध, बहुरूप काय;
धनवान, दरिद्री, दास, राव,
ये तो [4]विडम्बना, मुझ न भाव ॥ ४ ॥
रस, फरस, गन्ध, वरनादि नाम,
मेरे नाहीं, मैं ज्ञान-धाम;[5]
हूँ एक रूप, नहिं होत और,
मुझमें प्रतिबिम्बित सकल ठौर ॥ ५ ॥
तन पुलकित, उर हरषित सदीव,
ज्यों भई रङ्क-घर [6]रिधि अतीव:
जब प्रबल [7]अप्रत्याख्यान थाय,
तब चित-[8]परनति ऐसी उपाय ॥ ६ ॥
सो सुनो भविक, चित धारि कान,

१. ज्ञानावरणी कर्मने मेरा अनंत ज्ञान ढक रक्खा है। २ निश्चयसे आत्माका शुद्ध रूप ही सत्य है, उसमे कोई भेद नही । भेद सिर्फ व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। ३. गुण=आत्माका ज्ञान-दर्शन, गुणी=आत्मा; अछेव=अभेद । अर्थात् निश्चयनयसे गुण और गुणीमे कोई भेद नही। ४. असत्य । ५. ज्ञानका स्थान, ज्ञानमय। ६. रिद्धि। ७ अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदय होनेपर । ८ आत्माकी परणति ।

बरनत हूँ ताको विधि-विधान;
सब करै काज, घर माहिं वास,
ज्यों भिन्न कमल जलमें निवास[1] ॥ ७ ॥
ज्यों सती अङ्ग माहीं सिंगारि,
अति करत प्यार ज्यों नगरि-नारि;
ज्यों धाय लड़ावत आन बाल,
त्यों भोग करत नाहीं खुशाल ॥ ८ ॥
जहँ उदय मोह चेष्टित प्रभाव,
नहिं होय रंचहू त्याग भाव;
तहँ करै मन्द खोटी कषाय,
घरमें उदास है, अथिर थ्याय[2] ॥ ९ ॥
सबकी रक्षा जुत-न्याय-नीति,
जिन-शासन गुरुकी दिढ़ प्रतीति;
बहु रुलै[3] अर्ध-पुद्गल-प्रमान,
अन्तरमुहूर्त ले परम-थान[4] ॥१०॥
वे धन्य जीव, धनि भाग सोय,
जाके ऐसी परतीति जोय;
ताकी महिमा ह्वै स्वर्ग लोय,
'बुधजन' भाषै मोतैं न होय ॥११॥

१. सांसारिक सब काम करता हुआ भी, सदैव पर-परणतिसे अपनेको भिन्न समझता है। २. अनित्य जानकर। ३. भ्रमण करता है। ४. मोक्ष।

चौथी ढाल

(सोरठा)

उग्यो आतम-सूर, दूर भयो मिथ्यात तम;
अब प्रगटे गुन भूर, तिनमें कछुइक कहत हूँ ॥ १ ॥
शंका मनमें नाहिं, तत्त्वारथ-सरधानमें;
निरवांछा चित माहिं, परमारथमें रत रहै ॥२॥
नेक न करत गिलान, [1]बाह्मि मलिन मुनि-तन लखैं;
नाहीं होत अजान, तत्त्व-कुतत्त्व विचारमें ॥३॥
उरमें दया विशेष, गुन प्रगटै औगुन ढकै;
शिथिल धर्मतैं देख, जैसैं-तैसैं दिढ़ करै ॥४॥
साधरमी पहिचान, धरै [2]हेत [3]गोवत्स लों;
महिमा होत महान, धर्म-काज ऐसें करैं ॥५॥
मद नहिं जो नृप तात, मद नहिं भूपति-ज्ञान को;
मद नहिं [4]विभौ लहात, मद नहिं सुन्दर रूपको ॥६॥
मद नहिं जो विद्वान्, मद नहिं तनमें जो मदन;
मद नहिं जो परधान, मद नहिं सम्पति-कोपको ॥७॥
हूवो आतम-ज्ञान, तजि रागादि विभाव [5]पर;
ताकैं ह्वै क्यों मान, जात्यादिक [6]वसु अथिरको ॥ ८ ॥

---

१. बाह्य, बाहरी । २. स्नेह–प्रेम । ३. गाय और बछड़ेके समान साधर्मी भाइयोसे प्रेम रखता है । ४. वैभव । ५. राग-द्वेष आदि विभाव, जो आत्मासे भिन्न हैं । ६. आठ, उसके जातिमद आदि आठ अथिर मद नही होते ।

वन्दत है अरहन्त, जिन-मुनि जिन-सिद्धान्त को;
नवै न देख महन्त, कुगुरु कुदेव [1]कुग्रन्थको ॥९॥
कुत्सित आगम देव, कुत्सित गुरु पुनि [2]सेवका;
परशंसा षट भेव, करै न समकितवान ह्वै ॥१०॥
प्रगटा इसा सुभाव, करा अभाव मिथ्यातका;
वन्दै ताके पाँव, 'बुधजन' मन-वच-कायतैं ॥११॥

पाँचवीं ढाल

(चाल छन्द)

तिरजंच मनुष दोउ गतिमें, व्रत-धारक सरधा चितमें;
सो [3]अगलित नीर न पीवै, निशि-भोजन तजत सदीवै ॥१॥
मुख अभख वस्तु नहिं लावै, जिन-भक्ति त्रिकाल रचावै;
मन-वच-तन कपट निवारै, कृत-कारित-मोद [4]सँवारै ॥२॥
जैसी उपशमत [5]कषाया, तैसा तिन त्याग बनाया;
कोउ सात बिसनको त्यागै, कोउ अणुव्रतमें मन पागै ।३।
त्रस जीव कभू नहिं मारै, विरथा थावर न संहारै;
पर-हित विन झूठ न बोलै, मुख साँच बिना नहिं खोलै ।४।

१. सम्यग्दृष्टि मिथ्या देव-गुरु-शास्त्रको नमस्कार नहीं करता ।
२. कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रकी सेवा नही करता । ३. अनछना पानी नही पीता । ४. मिथ्यात्व-पोषक काम स्वयं करने, दूसरेसे कराने और दूसरेके किये हुए कामके अनुमोदन करनेसे आपको बचाये रखता है । ५ जिसकी जैसी कषायें शान्त हुई है, वह वैसा त्याग करता है ।

जल- [1]मृतिका बिन धन सबहू; बिन दियो लेय नहिं कबहू;
ब्याही [2]बनिता बिन नारी, लघु बहिन, बड़ी महतारी ॥५॥
तिसनाका जोर संकोचै, ज्यादा परिग्रहको मोचै;
दिसकी मरजादा लावै, बाहर नहिं पाँव हिलावै ॥६।
ताहूमें पुर, सर, [3]सरिता, नित राखत अघतैं डरता;
सब अनरथदंड न करि है, छिन-छिन निज-धर्म सुमरि है ॥७॥
दर्ब, थान, काल, सुध भावै, समता सामायिक ध्यावै;
पोषह एकाकी हो है, निष्किंचन मुनि ज्यों सोहै ॥८॥
परिग्रह परिमान विचारै, नित नेम भोगका धारै;
मुनि आवन [4]बिरिया जावै, तब जोग असन मुख लावै ॥९॥
यें उत्तम किरिया करता, नित रहै पापतैं डरता;
जब निकट मृत्यु निज जानै, तब ही सब ममता [5]भानै ॥१०॥
ऐसे पुरुषोत्तम केरा, 'बुधजन' चरननका चेरा;
वे निश्चय सुर-पद पावैं, थोरे दिनमे शिव जावैं ॥११॥

छठी ढाल

(चाल "अहो जगतगुरु देव")

अथिर ध्याय परजाय, भोगतें होय उदासी;
नित्य निरंजन जोति, आतमा घटमें भासी ॥१॥
सुत-दारादि बुलाय, सबनितें मोह निवारा;
त्यागि शहर-धन-धाम, वास बन बीच विचारा ॥२॥

---

१. मिट्टी । २. स्त्री । ३. नदी । ४. समय । ५. छोड़दे ।

भूषन वसन उतारि, नगन ह्वै आतम चीना;
गुरु ढिग दीक्षा धारि, शीश-कच लौंच जु कीना ॥३॥
त्रस-थावरका घात, त्याग, मन-वच-तन लीना;
झूठ वचन परिहार, गहै नहिं जल विन दीना ॥४॥
चेतन जड़ तिय भोग,-तज्या, गति-गति दुखकारा;
अहि-कंचुकि ज्यों जान, चित्ततैं परिग्रह डारा ॥५॥
गुपति पलनके काज, कपट मन वच-वच-तन नाहीं;
पाँचों सुमति सँवारि, परीषह सहि है आहीं ॥६॥
छाँडि सकल जंजाल, आप करि आप 'आप' में;
अपने हितकों आप, करौ ह्वै शुद्ध जापमें ॥७॥
ऐसी निश्चल काय, ध्यानमें मुनिजन केरी;
मानौ पाथर-रची, किधौं चितराम उकेरी ॥८॥
चार घातिया नाशि, ज्ञानमें लोक निहारा;
दे जिन-मत आदेश, भविकको दुखतें टारा ॥९॥
बहुरि अघाते तोरि, समय में शिवपद पाया;
अलख अखंडित ज्योति, शुद्ध चेतन ठहराया ॥१०॥
काल अनन्तानन्त, जैसेके तैसे रहि हैं;
अविकारी अविनाश, अचल अनुपम सुख लहि हैं ॥११॥
ऐसी भावन भाय, ऐसे जे कारज करि हैं;
ते ऐसे ही होय, दुष्ट करमनकों हरि हैं ॥१२॥
जिनके उर विश्वास, वचन-जिनशासन नाहीं;

ते भोगातुर होय, सहैं दुख नरकन माँहीं ॥१३॥
सुख-दुख पूर्व-विपाक, अरे मत कलपै जीया;
कठिन-कठिनतें मीत, जनम मानुष तैं लीया ॥१४॥
सो विरथा मत खोय, जोय आपा पर भाई;
गई न लाभै फेरि, उदधिमें डूबी राई ॥१५॥
भला नरकका वास, सहित समकित जे पाता;
बुरे बने जे देव, नृपति, मिथ्यामत-माता ॥१६॥
नहीं खरच धन होय, नहीं काहूतें लरना;
नहीं दीनता होय, नहीं घरका परिहरना ॥१७॥
समकित सहज सुभाव, 'आप' का अनुभव करना;
या बिन जप-तप वृथा, कष्टके माहीं परना ॥१८॥
कोटि बातकी बात, अरे 'बुधजन' उर धरना;
मन-वच-तन सुध होय, गहो जिनमतका सरना ॥१८॥

❀ दोहा ❀

ठारासै पंचास, अधिक नव संवत जानो;
तीज सुकुल वैशाख, 'ढाल षट्' शुभ उपजानो ॥१९॥

श्रीवृहत्स्वयंभूस्तोत्रसे (श्री समंतभद्राचार्यकृत)

शतह्रदोन्मेष-चलं हि सौख्यं,
तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं,
तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥ १३ ॥

अर्थ—निश्चयसे इन्द्रिय विषयोंका सुख बिजलीकी चमकके समान क्षणभर भी स्थिर रहने वाला नहीं है। तृष्णारूपी रोगके बढ़ानेका एक मात्र कारण है। इन्द्रिय-विषयोंके सेवनसे तृप्ति न होकर उल्टी तृष्णा बढ़ जाती है। तृष्णाकी बढ़वारी निरंतर संताप उत्पन्न करती है और वह ताप इस संसारको अनेक दुःखोंकी परंपरासे पीड़ित करता रहता है। ऐसा आपने (पीड़ित जनताको उसके दुःखका सच्चा निदान बताते हुए) उपदेश दिया है ॥१३॥

(४) श्री अभिनन्दननाथ भगवानकी स्तुति

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्,
दयावधूं क्षांतिसखीमशिश्रियत्।
समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये,
द्वयेन नैर्ग्रंथ्यगुणेन चायुजत् ॥१६॥

अर्थ—आपके जन्म लेते ही लोकमें सुखादि गुणोंकी बढ़वारी हो जानेसे आप 'अभिनन्दन' इस सार्थक नामके धारी हो। आपने क्षमासखी वाली दयावधूको अपनाया है। हे जिनेन्द्र! आप आत्मध्यानमें लीन हैं और उस आत्मध्यानकी प्राप्तिके लिये ही आपने बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहको छोड़कर अपनेको निर्ग्रंथपनेके गुणसे सुशोभित किया है ॥ १६ ॥

अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपिच,
ममेदमित्याभिनिवेशिकग्रहात्।
प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च,
क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद् भवान्।१७।

अर्थ—अचेतन (जड़) शरीरमें और शरीर संबंधसे पैदा होने वाले सुख दुःखादिक तथा स्त्री पुत्रादिकमें 'यह मेरे हैं मैं इनका हूँ' इस प्रकारके मिथ्या अभिप्रायको लिये हुए होनेसे तथा क्षणभंगुर पदार्थोंमे नित्य बने रहनेका निश्चय कर लेनेके कारण जगतके प्राणी कष्ट उठा रहे हैं उन्हें आपने जीवादि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप बतलाकर सच्चे मार्गपर लगाया है ॥ १७ ॥

क्षुधादि-दुःख-प्रतिकारतः स्थिति-
र्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनो-
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत्॥१८॥

अर्थ—भूख-प्यास आदिके दुःखोंको मिटानेके लिये भोजन पानादिका सेवन करनेसे और इन्द्रियके विषयभोगों से उत्पन्न होने वाले अति थोड़े एवं अतृप्तिकारी क्षणिक सुखके सेवनसे इस शरीरधारी जीवकी स्थिति शरीरमें सदा नहीं रहती और न तृप्ति ही होती है। ऐसी दशामें क्षुधादि दुःखोंके इस क्षणस्थाई प्रतिकार और इन्द्रियविषयजन्य

अल्पसुखके सेवनसे न तो वास्तवमें इस शरीरका कोई उपकार बनता है और न शरीरधारी जीवका ही कुछ भला होता है। इस प्रकार हे भगवन्! आपने मिथ्या भ्रमके चक्करमें पड़े हुए जगतको रहस्यकी यह सब बात समझाई है ॥ १८ ॥

जनोऽतिलोलोप्यनुबन्धदोषतो,
भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित्,
कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत्।१९

अर्थ—अत्यन्त आसक्तिके वशसे विषयसेवनमें अत्यंत लोलुपी भी मनुष्य इस लोकमें राजदण्डादिके भयसे दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं करता, फिर जो मनुष्य इस लोक तथा परलोकमें होनेवाले विषयासक्तिके भयंकर परिणामों को भले प्रकार जानता है वह कैसे विषयसुखमें आसक्त हो सकता है? नहीं हो सकता, ऐसा आपने जगतको उपदेश किया है ॥ १९ ॥

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्,
तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं,
ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥ २० ॥

अर्थ - इन्द्रिय भोगोंमें आसक्तपना और तृष्णाकी बढ़वारी दोनों ही इस लोलुपी प्राणीके लिये दुःखदाई हैं। इन्द्रिय विषयजन्य थोड़ेसे सुखके मिलनेपर भी इस प्राणी की स्थिति सुखमय नहीं होती, प्रत्युत उसका संताप बढ़ जाता है। इस प्रकार जगतके लोगोंका उपकार करने वाला चूंकि आपका शासन है, इसलिये हे अभिनन्दन प्रभो! आप ही जगतके शरणभूत हैं, ऐसा सत्पुरुषोंने माना है ॥ २० ॥

(७) श्री सुपार्श्वनाथ भगवानकी स्तुति

स्वास्थ्यं यदात्यंतिकमेष पुंसां,
स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा।
तृषोनुषङ्गान्न च तापशांति-
रितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥२१॥

अर्थ—जो कर्मादिमलसे छूटकर अपने अनन्तज्ञानादि स्वरूप स्वात्मामें अत्यन्त अविनाशी स्थिति है यही जीवात्माओंका निजी (सच्चा) प्रयोजन है। क्षणभंगुर इन्द्रिय सुखोंका भोग निजी प्रयोजन नहीं है। क्योंकि भोगोंके भोगनेसे भोगाकांक्षाकी बढ़वारी होती जाती है और उससे चाहकी दाह शांत नहीं होती है। यह स्वार्थका सच्चा स्वरूप परम शोभनीक शरीरके अङ्गोंके धारक श्री सुपार्श्वनाथ भगवानने बतलाया है ॥ २१ ॥

अजङ्गमं जंगमनेययन्त्रं,

यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।

बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च,

स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥३२॥

अर्थ—जैसे जड़ यंत्र (हाथी, घोड़ा, मशीन आदि) जंगमपुरुष (चलानेवाले पुरुष के द्वारा चलाया जाता है उसी प्रकार जीवके द्वारा धारण किया हुआ यह शरीर जड़ है । चैतन्य जीवकी प्रेरणासे काममें प्रवृत्ति करता है । साथ ही यह शरीर अति घिनावना है, दुर्गन्धमय है, नाशवान है, दुःखोंका कारण है । इस शरीरमें राग करना वृथा है ऐसी हितकी शिक्षा आपने दी है ॥ ३२ ॥

आपके द्वारा आत्महितका उपदेश मिलनेपरभी संसारी जीवों की आत्महितमें प्रवृत्ति क्यों नही होती ? इसका उत्तर—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं,

हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।

अनीश्वरो जंतुरहंक्रियार्तः,

संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३३॥

अर्थ—कर्मका शुभ व अशुभ उदयरूप अंतरंग कारण और अनुकूल व प्रतिकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके मिलनेरूप बाह्य कारण, इन दोनों कारणोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला

सुख दुखरूप कार्य ही जिसका लक्षण है ऐसा यह कर्मोंका तीव्र उदय (होनहार) किसी तरह भी टाले नहीं टलता। यानी आत्मकल्याणकारी उपदेशके मिलनेपर भी आत्म-कल्याणमें प्रवृत्त नहीं होने देता। अहङ्कारसे पीड़ित हुआ संसारी जीव सुखादिकरूप कार्यकी प्राप्तिके लिये अनेक सह-कारी कारण जुटाता है फिर भी सफल नहीं होता। अर्थात् कर्मोदयके सहाई न होनेके कारण अहङ्कार रखा ही रह जाता है। ऐसा आपने यथार्थ उपदेश दिया है ॥३३॥

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो,
नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो,
वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥३४॥

अर्थ—संसारी प्राणी मौतसे सदा डरता रहता है परंतु (चाहने मात्रसे) उस मृत्युसे छुटकारा नहीं, नित्य ही कल्याण या मोक्ष चाहता है परंतु (कर्मवश) उसका लाभ नहीं होता। फिर भी यह मूढ प्राणी भय और इच्छाके वशीभूत हुआ अपने आप व्यर्थमें ही दुःखी होता रहता है। ऐसा आपने उपदेश दिया है ॥३४॥

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता,
मातेव बालस्य हितानुशास्ता।

गुणावलोकस्य जनस्य नेता

मयाऽपि भक्त्या परिणूयतेऽद्य ।३५

अर्थ—आप जीवादि विश्व तत्त्वोंके संशयादि रहित ज्ञाता हैं। जैसे माता बालक को हितकारी शिक्षा देती है उसी तरह आप अज्ञानी भव्य जीवोंको आत्महितका उपदेश देने वाले हैं। और आप ही सम्यग्दर्शनादि गुणोंके खोजी भव्यजनको गुणोंकी प्राप्तिका यथार्थ मार्ग दिखाने वाले हैं। इसीसे मैं भी इस समय भक्तिपूर्वक आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ हूँ। अर्थात् आपकी स्तुति करनेसे मुझे भी आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिका मार्ग सूझ पड़ा है ॥३५॥

(१०) श्री शीतलनाथ भगवानकी स्तुति

न शीतलाश्चन्दनचंद्ररश्मयो,

न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः।

यथा मुनेस्तेऽनघ वाक्यरश्मयः,

शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ।४६

अर्थ—हे निर्दोष श्रीशीतल भगवन् ! आप प्रत्यक्ष ज्ञानी मुनिकी परम शांत जलसे भरी हुई वचनरूपी किरणें भेदज्ञानी पंडितोके लिए संसारताप नाश करनेके हेतु जैसी शीतल (सुख-शांति देने वाली) होती हैं, वैसी चंदन तथा चन्द्रमाकी किरणें शीतल नहीं हैं, न गंगाका पानी शीतल

है और न मोतियोंके हारकी मालाएँ ही शीतल हैं। अर्थात् ये शीतल पदार्थ मात्र शारीरिक तापको भले ही हरलें, परंतु इनमेंसे कोई भी संसारतापजन्य दुःखको मिटानेमें समर्थ नहीं हैं यह शक्ति तो आपके वचनरूपी किरणोंमें ही है। अतः सच्ची सुखशांति प्रदान करनेके कारण सार्थक नामधारी आप ही हो ॥ ४६ ॥

सुखाऽभिलाषाऽनलदाहमूर्च्छितं,
मनो निजं ज्ञानमयाऽमृताऽम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाह-मोहितं,
यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम् ।४७

अर्थ—जैसे वैद्य विष-दाहसे मूर्च्छित हुए अपने शरीरको विषके दूर करनेवाले मंत्रोंके गुणोंसे विष रहित कर देता है उसी प्रकार आपने इन्द्रिय विषय सुखोंकी चाहरूपी अग्निकी जलनसे मूर्च्छाको प्राप्त (हेयोपादेयके ज्ञानसे शून्य) हुए अपने मनको ज्ञानमय अमृतजलोंके सिञ्चनसे मूर्च्छा रहित करके शांत किया है ॥ ४७ ॥

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया,
दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवान-
जागरेवाऽऽत्मविशुद्धवर्त्मनि ॥४८॥

अर्थ—संसारी जीव अपने जीवनको बनाये रखनेकी तथा इन्द्रियोंके सुख भोगनेकी तृष्णाके वशीभूत हुए दिनमें तो परिश्रम करनेसे खेद-खिन्न रहते हैं और रात्रिमें सो जाते हैं। परन्तु हे आर्य श्री शीतलनाथ तीर्थङ्कर ! आप प्रमादको बिलकुल छोड़ करके रातदिन आत्माको विशुद्ध करने वाले मार्गमें जागते ही रहे हैं। अर्थात् संसारी जीव अपने जीवनके अमूल्य क्षणोंको तृष्णाके वशीभूत होकर अशांतिके मार्गमें गँवा देते हैं और आत्मकल्याणकी ओर से बेखबर रहते हैं अतः सच्ची शांतिकी प्राप्तिसे वंचित रह जाते हैं। सच्ची शांतिके इच्छुकोंको आपके समान प्रमाद रहित होकर रातदिन आत्महित करनेमें सावधान रहना चाहिये ॥ ४८ ॥

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया,
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्म-जरा-जिहासया,
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥४९॥

अर्थ—कितने ही (अज्ञानी) तपस्वी जन संतान, धन तथा परलोक के सुखकी तृष्णाके वशीभूत होकर धार्मिक क्रियाकाण्डरूप कर्म करते हैं परंतु आपने समता धारणकर पुनर्जन्म और बुढ़ापेको दूर करनेकी इच्छासे मन-वचन-काय तीनोंकी प्रवृत्ति को ही रोक दिया।

अर्थात् सांसारिक सुखोंके इच्छुक धार्मिक अनुष्ठान करने पर भी संसारमें ही भ्रमते रहते हैं क्योंकि जैसा उनका लक्ष्य है वैसा ही फल प्राप्त करते हैं। जन्म-जरा-मरण के न चाहने वालोंको आपके समान त्रिगुप्ति धारणकर आत्महित करने में ही तन्मय रहना चाहिये ॥ ४९ ॥

त्वमुत्तमज्योतिरजः क निर्वृतः,
क ते परे बुद्धिलवोद्धव-क्षताः ।
ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरै,-
र्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे ॥ ५० ॥

अर्थ—हे श्रीशीतलनाथ जिनेन्द्र ! कहाँ तो आप परमोत्कृष्ट केवलज्ञानके धनी, पुनर्जन्मसे रहित तथा परम सुखी ? और कहाँ वे दूसरे तनिकसी बुद्धिके अहंकारसे नाशको प्राप्त होनेवाले ? कितना महान् अंतर है ! इसीलिये अपने आत्मकल्याणकी प्राप्तिकी भावनामें तत्पर गणधरादिक देवोंके द्वारा आप पूजे जाते हैं॥ ५० ॥

(१२) श्री वासुपूज्य भगवानकी स्तुति

शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु,
त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः ।
मयाऽपि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र,
दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥५६ ॥

अर्थ—हे मुनिनाथ ! आप वसुपूज्य राजाके पुत्र श्री वासुपूज्य स्वामी ! मंगलमय गर्भ, जन्म, तप आदि कल्याणकोंकी क्रियाओंके अवसर पर पूजाको प्राप्त हुए हैं, इन्द्रादि देवोंके द्वारा पूजे जाते हैं और मुझ तुच्छ बुद्धिके द्वारा (समन्तभद्रसे) भी पूज्य हैं क्योंकि दीपककी ज्योतिसे क्या सूर्य नहीं पूजा जाता है ? अपि तु, पूजा ही जाता है।

विशेषार्थ—प्रभो ! कहाँ आप अनन्तगुणके धनी और कहाँ मैं अल्पबुद्धि ! तथापि भक्तिवश पूजा करता ही हूँ। जैसे लोग दीपककी अति तुच्छ लौसे सूर्यकी पूजा करते हैं वैसे मैं आपकी भक्ति कर लूँ तो कोई अचरजकी बात नहीं है ॥ ५६ ॥

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे,
　　न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथाऽपि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः,
　　पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ ५७ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपमें राग भावका अभाव है अतः आपकी पूजा करनेसे आपको कोई प्रयोजन नहीं है। इसी तरह आपमें द्वेष भावका अभाव है इसलिये आपकी निन्दा करनेसे भी आपको कोई प्रयोजन नहीं है। यह सब ठीक है किन्तु फिरभी आपके पवित्र गुणोंका

स्मरण पापरूपी मैलका नाश करके हमारे चित्तको पवित्र कर ही देता है।

विशेषार्थ—वीतराग भगवान अपने पुजारीके ऊपर प्रसन्न नहीं होते तथा अपने शत्रुके ऊपर कुपित नहीं होते; फिर उनकी भक्तिसे क्या लाभ? आचार्यश्रीने इसका समाधान किया है कि आपके पवित्र गुणोंके स्मरणसे चित्तकी निर्मलता एवं विशुद्धि होती है अतः आपकी पूजा-वन्दना हम अपने ही हितके लिये करते हैं॥ ५७॥

पूज्यं जिनं त्वाऽर्चयतो जनस्य,
सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य,
न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥५८॥

अर्थ—हे नाथ! आपकी स्तुति-पूजन करते हुए आरंभादिक द्वारा कुछ पापका उपार्जन अवश्य होता है; किंतु वह हानिकारक इस कारण नहीं कि पुण्यकर्मकी बहुलतामें वह कुछ कार्यकारी नहीं रहता, जिस तरह कि शीतल तथा कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्र-जलको एक विषकी बूंद खराब नहीं कर सकती॥५८॥

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूते-
र्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः।

अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूत-
मभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥ ५९ ॥

अर्थ—अन्तरङ्गमें विद्यमान अभ्यन्तर मूलकारण अर्थात् उपादान योग्यताके गुण और दोषको प्रकट करनेमें जो बाह्य वस्तु कारण होती है वह उस उपादानके लिये अङ्गभूत अर्थात् सहकारी कारण है। केवल अभ्यन्तर कारण अपने गुण दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है। भले ही अध्यात्मवृत्त पुरुषके लिये बाह्यनिमित्त गौण हो जाय पर उनका अभाव नहीं हो सकता ॥ ५९ ॥

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं,
कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां,
तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ।६०

अर्थ—आपके दर्शनमें कार्योत्पत्तिके लिये बाह्य और आभ्यन्तर (निमित्त और उपादान) दोनों कारणोंकी समग्रता (पूर्णता) ही द्रव्यगत (द्रव्यमें प्राप्त हुआ) निज स्वभाव है। इसके बिना संसारी जीवोंके लिये मोक्षका उपाय भी अन्य और कोई नहीं है। इसीसे हे परमऋद्धि-सम्पन्न ऋषि वासुपूज्य! आप गणधरादि ज्ञानी जनोंके द्वारा पूजा-वन्दना किये जानेके योग्य हैं।

भावार्थ—निमित्त और उपादान कारणोंकी पूर्णताके होनेपर ही कार्यकी सिद्धि हो सकती है। जैसे घटके लिये मिट्टी (उपादान कारण) तथा चाक आदि (निमित्त कारण) दोनों साधनोंकी पूर्णता आवश्यक है उसी प्रकार मोक्ष प्राप्तिके लिये भी दोनों ही कारणोंकी आवश्यकता है उपादान (अन्तरङ्ग) कारण तो शुद्ध भाव हैं, उन शुद्ध भावोंकी प्राप्तिके लिये वे सभी कारण निमित्त हैं जो शुद्ध भावके साधक पड़ते हैं ॥ ६० ॥

आगेकी स्तुतियोंसे

य एव नित्यक्षणिकादयो नया,
मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः,
परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदिक नय हैं वे परस्परमें यदि एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखकर सर्वथा एकान्तरूपसे वस्तुतत्त्वका कथन करनेवाले हैं तो वे अपना और दूसरे दोनोंका नाश करने वाला होनेसे स्व-पर वैरी हैं इसीलिये दुर्नय हैं। हे प्रत्यक्षज्ञानी विमलनाथ भगवन्! आपके दर्शनमें वे ही नय परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेसे अपना व दूसरे दोनोंका भला करनेवाला होने से स्वपर-उपकारी हैं और इसीलिये तत्त्वरूप सुनय हैं ॥६१॥

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-,
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-
मित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत्।८२

अर्थ—तृष्णारूपी अग्निकी ज्वालाएँ (निरन्तर हृदयको) संतापित करती रहती हैं। इन्द्रियविषयोंकी प्राप्तिसे इन ज्वालाओंको शान्ति नहीं होती, उल्टी बढ़वारी ही होती है; क्योंकि वस्तु स्वभाव ऐसा ही है। सेवन किये हुए इन्द्रियोंके भोग (कुछ क्षणोंके लिये) मात्र शरीरके संतापको (खुजलीको) मिटानेमें निमित्त पड़ जाते हैं (मनकी दाह शान्त करनेमें समर्थ नहीं होते), ऐसा समझकर इन्द्रियविजेता प्रभु आपने इन्द्रिय-विषयोंके सुखसे उदासीनता धारण करली। अर्थात् चक्रवर्तीके वैभवसे मुँह मोड़कर जिनदीक्षा धारण करली ॥ ८२ ॥

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे,
स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम्।११६

अर्थ—स्तुति करते समय जिसकी स्तुति की जाती है वह साक्षात् मौजूद हो या न हो तथा उस स्तुतिसे फलकी प्राप्ति भी होती हो या न होती हो, परंतु भक्ति-भाव पूर्वक

स्तुति करनेवाले साधुजनके द्वारा की गई आपकी स्तुति शुभ परिणामोंका कारण अवश्य है। अर्थात् स्तुतिकारकी भावसहित स्तुति सदैव परिणामोंको निर्मल करनेमें प्रधान निमित्त होती है। जब जगतमें इस प्रकार स्वाधीनतासे मोक्षमार्ग सुलभ है तब, हे सदैव इन्द्रादि द्वारा पूज्य नमि-नाथ स्वामी! ऐसा कौन ज्ञानीजन है जो अपने परिणामों की उज्ज्वलताके लिये आपकी स्तुति न करेगा ? अर्थात् अवश्य सदा आपकी स्तुति करेगा ॥११६॥

हार्दिक भावना

मैं वो दिन कब पाऊँ, घरको छोड़ वन जाऊँ ॥ मैं वो० ॥
अंतर बाहिर त्याग परिग्रह, नग्न स्वरूप बनाऊँ ॥ मैं वो० ॥
सकल विभावमय परिणति तज, स्वाभाविक चित लाऊँ ॥
पर्वत गुफा नगर सुन्दर घर, दीपक चांद मनाऊँ ॥मैं वो०॥
भूमि सेज आकाश चंदोवा, तकिया भुजा लगाऊँ ॥मैं वो०॥
उपल जान मृग खाज खुजावत, ऐसा ध्यान लगाऊँ ॥मैं०॥
क्षुधा तृषादिक सहूं परीषह, बारह भावन भाऊँ ॥मैं वो०॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण तप, दशलक्षण उर लाऊँ ॥मै वो॥
चार घातिया कर्म नाशकर, केवलज्ञान उपाऊँ ॥ मैं वो० ॥
घात अघाति लहूं शिव 'मक्खन' फेर न जगमे आऊँ॥मैं॥

ॐ

देवशास्त्रगुरु पूजा

[1]ॐ जय जय जय। नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु।

[2]णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं अनादिमूलमंत्रेभ्यो नमः। (पुष्पांजलि क्षिपेत्)

[3]चत्तारि मंगलं—अरहंतमंगलं, सिद्धमंगलं, साहूमंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंतलोगुत्तमा, सिद्धलोगुत्तमा, साहुलोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंतसरणं

---

१. हे जिनेन्द्रभगवन्! आप जयवंत होओ ३। आपके लिये हमारा नमस्कार हो ३। २. मै अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोकवर्ती सर्वसाधु इन पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ। ३. प्रथम अरहंत भगवान्, दूसरे सिद्ध परमेष्ठी, तीसरे साधु परमेष्ठी और चौथे केवली भगवानका कहा हुआ धर्म ये चार ही इस संसारमे मंगल (पापके नाश करनेवाले और सुख के देने वाले) है, ये चार ही सर्वोत्तम है और इन चार ही की शरण मै जाता हूँ।

पव्वज्जामि, सिद्धसरणं पव्वज्जामि, साहूसरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि ।

ॐ नमोऽर्हते स्वाहा । (पुष्पांजलि क्षिपेत)

[1]अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा,
ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १ ॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा,
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यंतरे शुचिः ॥ २ ॥

अपराजितमंत्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः ।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः ॥ ३ ॥

एसो पंचणमोयारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ॥ ४ ॥

---

१. चाहे पवित्र हो या अपवित्र हो, चाहे अच्छे स्थान पर हो अथवा बुरी जगह हो, पच परमेष्ठीके वाचक नमस्कार मंत्रका ध्यान करनेसे जीव सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १ ॥ चाहे पवित्र हो या अपवित्र हो अथवा कैसी भी अवस्थामे हो, इन सभी दशाओंमे जो जीव परमात्माका स्मरण करता है वह उस समय बाह्य और भीतरसे पवित्र है ॥ २ ॥ यह मंत्र अपराजित है और विघ्नोंका नाश करने वाला है तथा सभी मंगलोमे प्रथम मंगल माना गया है ॥ ३ ॥ यह पंच णमोकार मंत्र सब पापोंका नाशक है और सभी मगलोमे मुख्य मंगल है ॥ ४ ॥

[1]अर्हमित्यक्षरं ब्रह्मवाचकं परमेष्ठिनः ।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणमाम्यहं ॥ ५ ॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीनिकेतनं ।
सम्यक्त्वादिगुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहं ॥६॥

(पुष्पांजलि क्षिपेत्)

[2]उदकचंदनतंदुलपुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घकैः ।
धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिननाममहं यजे ॥

ॐ ह्रीं श्रीभगवज्जिनसहस्रनामेभ्योऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

[3]श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवंद्य जगत्त्रयेशं,
स्याद्वादनायकमनन्तचतुष्टयार्हं ।

---

१. 'अर्हं' ऐसे दो अक्षर अरहंत परमेष्टीके वाचक है और सिद्धचक्रको उत्पन्न करनेके लिये उत्तम बीजके समान हैं अतः मैं त्रियोगसे नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥ आठ कर्मरहित, मोक्ष-लक्ष्मी के स्थान और सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघु, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्म, वीर्य इन आठ गुणों सहित सिद्धसमूहको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥ २. मैं निर्मल मंगलगानके शब्दोंसे गुञ्जायमान इस जिनमंदिरमे जिनेन्द्रदेवकी जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल तथा अर्घके द्वारा पूजन करता हूँ। ३. मैं तीन लोकके नाथ, स्याद्वाद विद्याके नायक, अनंतचतुष्टयके धारक, जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार करके जिन भगवानकी पूजन-विधि कहता हूँ, जोकि पूजन मूलसंघीय (श्रीकुन्दकुन्दस्वामीकी

श्रीमूलसंघसुदृशां सुकृतैकहेतु-
जैनेन्द्रयज्ञविधिरेष मयाऽभ्यधायि ॥८॥

स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुङ्गवाय,
स्वस्ति स्वभावमहिमोदयसुस्थिताय ।
स्वस्ति प्रकाशसहजोर्जितदृङ्मयाय,
स्वस्ति प्रसन्नललिताद्भुतवैभवाय ॥९॥

स्वस्त्युच्छलद्विमलबोधसुधाप्लवाय,
स्वस्ति स्वभावपरभावविभासकाय ।
स्वस्ति त्रिलोकविततैकचिदुद्गमाय,
स्वस्ति त्रिकालसकलायतविस्तृताय ॥१०॥

परम्परा वाले) सम्यग्दृष्टि जीवोंको पुण्यबंधका प्रधान कारण है ॥ ८ ॥ तीनलोकके गुरु तथा कषायोंको जीतनेवाले मुनीश्वरोंके स्वामीके लिये स्वाभाविक अनन्तज्ञानादिरूप महिमोदयमें भले प्रकार स्थित भगवानके लिए, स्वाभाविक प्रकाशसे (अनतज्ञानसे) वृद्धिगत, केवलदर्शनमहित जिनेन्द्रके लिए और उज्ज्वल, मनोहर तथाअद्भुत आत्मीय वैभवके धारण करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेवके लिए मंगल होवे ॥ ९ ॥ उछलते हुए निर्मल केवलज्ञानरूपी अमृतके प्रवाहवाले एवं स्वभाव और परभावके प्रकाशक और तीन लोक को जानने वाले केवलज्ञानके स्वामी तथा त्रिकालवर्ती सभी पदार्थों में ज्ञानद्वारा व्याप्त हुए जिनेन्द्र भगवानके लिए मंगल होवे ॥१०॥

[1]द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं,
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगंतुकामः।
आलंबनानि विविधान्यवलंब्यवल्गन्,
भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञं ॥११॥
अर्हत्पुराणपुरुषोत्तमपावनानि,
वस्तून्यनूनमखिलान्ययमेक एव।
अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ,
पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि ॥ १२ ॥

ॐ ह्रीं विधियज्ञप्रतिज्ञानाय जिनप्रतिमाग्रे पुष्पांजलि क्षिपेत्।

[2]श्री वृषभो नः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअजितः।
श्री संभवः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अभिनन्दनः।
श्री सुमतिः स्वस्ति, स्वस्ति श्री पद्मप्रभः।
श्री सुपार्श्वः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीचंद्रप्रभः।

---

१. अपने भावोकी परम शुद्धताको प्राप्त होनेका अभिलाषी मै यथानुरूप द्रव्योंकी शुद्धि प्राप्त करके अनेक प्रकारके अवलंबनों का आश्रय लेकर परमपूज्य पुरुष अरहंतादिका पूजन करता हूँ ॥ ११ ॥ हे अर्हन्, हे पुरातन प्राचीन पुरुष, हे उत्तम पुरुष ! यह अकेला एक मै इन समस्त पवित्र द्रव्योंको तथा समग्र पुण्यको दैदीप्यमान, निर्मल केवलज्ञानरूपी अग्निमें एकाग्रचित्त होकर हवन करता हूँ ॥ १२ ॥

२. अनंतज्ञानादिरूप आभ्यंतर लक्ष्मी तथा ८ प्रातिहार्य, ३४ अतिशय और समवशरणादि बाह्यलक्ष्मीसे सुशोभित श्री ऋषभनाथजी आदि चौबीस तीर्थङ्कर हमारे मंगलके लिये होओ।

श्री पुष्पदंतः स्वस्ति, स्वस्ति श्री शीतलः।
श्री श्रेयांसःस्वस्ति, स्वस्ति श्री वासुपूज्यः।
श्री विमलः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अनंतः।
श्री धर्मः स्वस्ति, स्वस्ति श्री शांतिः।
श्री कुंथुः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अरनाथः।
श्री मल्लिः स्वस्ति, स्वस्ति श्री मुनिसुव्रतः।
श्री नमिः स्वस्ति, स्वस्ति श्री नेमिनाथः।
श्री पार्श्वः स्वस्ति, स्वस्ति श्री वर्धमानः।
(पुष्पांजलिं क्षिपेत्)

आगे प्रत्येक श्लोकके अंतमें पुष्पांजलि क्षेपण करना चाहिये।

[1]नित्याप्रकंपाद्भुतकेवलौघाः,
स्फुरन्मनःपर्ययशुद्धबोधाः।
दिव्यावधिज्ञानबलप्रबोधाः,
स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥१॥
कोष्ठस्थधान्योपममेकबीजं,
संभिन्नसंश्रोतृपदानुसारि।

---

१. अविनाशी, अचल, अद्भुत केवलज्ञानके धारक, दैदीप्यमान मन.पर्ययज्ञानधारी, दिव्य अवधिज्ञानके बलसे जागृत, ऐसे महाऋषि हमारें लिए क्षेम करें ॥ १ ॥ कोष्टस्थधान्योपम, एकबीज, संभिन्नसश्रोतृत्व पदानुसारित्व इन चार प्रकारकी बुद्धि ऋद्धिके धारक ऋषिराज हमारे लिए मंगल करे ॥ २ ॥

चतुर्विधं बुद्धिबलं दधानाः,
स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ २ ॥

[1]संस्पर्शनं संश्रवणं च दूरा-
दास्वादनघ्राणविलोकनानि ।
दिव्यान्मतिज्ञानबलाद्वहंतः,
स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ३ ॥

[2]प्रज्ञाप्रधानाः श्रमणाः समृद्धाः,
प्रत्येकबुद्धा दशसर्वपूर्वैः ।
प्रवादिनोऽष्टांगनिमित्तविज्ञाः,
स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ४ ॥

[3]जंघावलिश्रेणिफलांबुतंतु-
प्रसूनबीजाङ्कुरचारणाह्वाः ।
नभोऽगणस्वैरविहारिणश्च,
स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ५ ॥

---

१. दिव्य मतिज्ञानके बलसे दूरसंस्पर्शन, दूरसंश्रवण, दूर स्वादन, दूर आघ्राण तथा दूरविलोकन ऋद्धि धारण करनेवाले मर्षि हमारे लिए मंगल करे। २. प्रज्ञाश्रमणत्व, प्रत्येकबुद्धता, ापूर्वित्व, चतुर्दशपूर्वित्व प्रवादित्व और अष्टांगनिमित्तज्ञता द्धिधारी मुनिवर हमारे लिए क्षेम करे। ३. जंघा, श्रेणि, फल, ल, तन्तु, पुष्प, बीज, अंकुर, अग्निशिखापर चलनेवाले चारण-द्धि धारक ऋषिराज तथा आकाशरूपी आंगनमे विहार करने ाले मुनिराज हमारी कुशलता करें।

[1]अणिम्नि दक्षाः कुशला महिम्नि,
लघिम्नि शक्ताः कृतिनो गरिम्णि ।
मनोवपुर्वाग्बलिनश्च नित्यं,
स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ६ ॥

[2]सकामरूपित्ववशित्वमैश्यं,
प्राकाम्यमंतर्द्धिमथाप्तिमाप्ताः ।
तथाऽप्रतीघातगुणप्रधानाः,
स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ७ ॥

[3]दीप्तं च तप्तं च तथा महोग्रं,
घोरं तपो घोरपराक्रमस्थाः ।
ब्रह्मापरं घोरगुणाश्चरंतः,
स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ८ ॥

[4]आमर्षसर्वौषधयस्तथाशी-
र्विषंविषादृष्टिविषंविषाश्च ।

---

१. अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा ऋद्धिमें कुशल तथा मनोवल, वचनवल और कायवल ऋद्धिधारक योगिराज सदैव हमारे लिए क्षेम करें । २. सकामरूपित्व, वशित्व, ईशित्व, प्राकाम्य, अन्तर्धान, आप्ति और अप्रतिघात ऋद्धिप्रधान मुनिवर हमारी कुशलता करें । ३. दीप्त, तप्त, महोग्र, महाघोर, तपोघोर, पराक्रमघोर और ब्रह्मचर्य ऋद्धिधारी ऋषिपुंगव हमारे लिए मंगल प्रदान करें । ४. आमर्षौषधि, सर्वौषधि, आशीर्विषंविष, दृष्टिविषंविष, क्ष्वेलौषधि, विडौषधि, जल्लौषधि, मलौषधि ऋद्धिधारक ऋषिवर हमारा कल्याण करें ।

सखिल्लविड्जल्लमलौषधीशाः,
स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ ९ ॥
[1]क्षीरं स्रवंतोऽत्र घृतं स्रवंतो,
मधुस्रवंतोऽप्यमृतं स्रवंतः।
अक्षीणसंवासमहानसाश्च,
स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥ १० ॥

इति परमर्षिस्वस्तिमंगलविधानं।

अथ देवशास्त्रगुरुपूजा भाषा

प्रथमदेव अरहंत सुश्रुत सिद्धान्तजू।
गुरु निरग्रंथ महंत मुकतिपुरपंथ जू॥
तीन रतन जगमांहि सो ये भवि ध्याइये,
तिनकी भक्तिप्रसाद परमपद पाइये॥ १ ॥
पूजौं पद अरहन्तके, पूजौं गुरुपदसार।
पूजौं देवी सरस्वती, नितप्रति अष्ट प्रकार ॥१॥

ह्रीं देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्रावतरावतर संवौषट् (इत्याह्वाननं)
ह्रीं देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (इति स्थापनं)
ह्रीं देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्
(इति सन्निधिकरणम्)

---

१. क्षीरस्रावी, घृतस्रावी, मधुस्रावी, अमृतस्रावी, अक्षीणसंवास और अक्षीणमहानस ऋद्धिधारी ऋषीश्वर हमारे लिये कल्याण प्रदान करें।

सुरपति उरगनरनाथ तिनकर, वंदनीक सुपदप्रभा ।
अतिशोभनीक सुवरण उज्ज्वल, देखि छवि मोहित सभा ॥
वर नीर क्षीरसमुद्र घटभरि अग्र तसु बहुविधि नचूं ।
अरहन्त श्रुतसिद्धान्त गुरु निरग्रंथ नित पूजा रचूं ॥१॥

मलिन वस्तु हरलेत सब, जलस्वभाव मलछीन ।
जासों पूजों परमपद, देव शास्त्र गुरु तीन ॥१॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं नि० स्वाहा ।

जे त्रिजग उदर मँझार प्रानी, तपत अति दुद्धर खरे ।
तिन अहिततहरन सुवचन जिनके, परम शीतलता भरे ॥
तसु भ्रमर लोभित घ्राण पावन सरस चन्दन घसि सचूं ।
अरहन्त श्रुतसिद्धांत गुरु निरग्रंथ नित पूजा रचूं ॥
चन्दन शीतलता करै, तपत वस्तु परवीन ॥जासों०॥२॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्य. संसारतापविनाशनाय चंदनं निर्व० ।

यह भवसमुद्र अपार तारण, के निमित्त सुविधि ठई ।
अतिदृढ़ परमपावन जथारथ भक्तिवर नौका सही ।
उज्ज्वल अखंडित सालि तंदुल पुंज धरि त्रयगुण जचूं ।
अरहन्त श्रुत सिद्धान्त गुरु निरग्रंथ नित पूजा रचूं ॥
तन्दुल सालि सुगन्ध अति, परम अखंडित बीन ।जासों०।३।

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्योऽक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ।

जे विनयवंत सुभव्य उर अंबुज प्रकाशन भान हैं ।

जे एक मुख चारित्र भाषत त्रिजगमाहिं प्रधान हैं ॥
लहि कुन्द कमलादिक पहुप भव भव कुवेदनसों बचूं ।
अरहन्त श्रुत सिद्धान्त गुरु निरग्रंथ नित पूजा रचूं ।
विविधभांति परिमल सुमन, भ्रमर जास आधीन ।जासों०।४।

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्यः कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं नि० स्वाहा ।

अतिसबल मदकंदर्प जाको क्षुधाउरग अमान है ।
दुस्सह भयानक तासु नाशनको सु गरुड़ समान है ॥
उत्तम छहों रसयुक्त नित, नैवेद्यकरि घृतमें पचूं ।
अरहन्त श्रुत सिद्धान्त गुरु निरग्रंथ नित पूजा रचूं ॥
नानाविधि संयुक्त रस, व्यंजन सरस नवीन ॥जासों०॥५॥

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्यः क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य नि० स्वाहा ।

जे त्रिजग उद्यम नाश कीने मोहतिमिर महाबली ।
तिहि कर्मघाती ज्ञानदीपप्रकाशजोति प्रभावली ॥
इह भांति दीप प्रजाल कंचनके सुभाजनमें खचूं ।
अरहन्त श्रुत सिद्धान्त गुरु निरग्रंथ नित पूजा रचूं ॥
स्वपरप्रकाशक जोति अति, दीपक तमकरि हीन ॥जासों०।६

ॐ ह्री देवशास्त्रगुरुभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं नि० स्वाहा ।

जो कर्म-ईंधन दहन अग्निसमूह सम उद्धत लसै ।
वर धूप तासु सुगन्धताकरि सकल परिमलता हँसै ॥
इह भांति धूप चढ़ाय नित, भवज्वलनमांहि नहीं पचूं ।

अरहन्त श्रुतसिद्धान्त गुरु निरग्रंथ नित पूजा रचूं ॥
अग्निमांहि परिमलदहन, चंदनादि गुणलीन ॥जासों०।७॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्योऽष्टकर्मदहनाय धूपं नि० स्वाहा।

लोचन सु रसना घ्रान उर, उत्साहके करतार हैं।
मोपै न उपमा जाय वरणी सकलफलगुणसार हैं॥
सो फल चढ़ावत अर्थपूरन, परम अमृतरस सचूं।
अरहन्त श्रुत सिद्धान्त गुरु निरग्रंथ नित पूजा रचूं॥
जे प्रधान फल फलविषैं, पंचकरण-रस लीन॥जासों०॥८॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं नि० स्वाहा।

जल परम उज्ज्वल गंध अक्षत, पुष्प चरु दीपक धरूं।
वर धूप निर्मल फल विविध, बहु जनमके पातक हरूं॥
इहभांति अर्घ चढ़ाय नित भविकरन शिवपंकति मचूं।
अरहन्त श्रुत सिद्धान्त गुरु निरग्रंथ नित पूजा रचूं॥
वसुविधि अर्घ सँजोयके, अति उछाह मन कीन॥जासों०।९

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्योऽनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घं नि० स्वाहा।

❀ अथ जयमाला ❀

—:: दोहा :—

देवशास्त्रगुरु रतन शुभ, तीनरतन करतार।
भिन्न भिन्न कहुँ आरती, अल्प सुगुण विस्तार॥

—:: पद्धरि छन्द :—

कर्मनकी त्रेसठ प्रकृति नाशि, जीते अष्टादश दोष-

राशि । जे परम सुगुण हैं अनँत धीर, कहवतके छयालिस गुण गँभीर ॥ २ ॥ सुभ समवसरण शोभा अपार, शतइंद्र नमत कर सीसधार । देवाधिदेव अरहंत देव, वंदों मनवच-तनकरि सुसेव ॥ ३ ॥ जिनकी धुनि ह्वै ओंकाररूप, निर अक्षयमय महिमा अनूप । दश अष्ट महाभाषा समेत, लघु-भाषा सात शतक सुचेत ॥ ४ ॥ सो स्याद्वादमय सप्तभंग, गणधर गूंथे बारह सु अंग । रवि शशि न हरै सो तम हराय, सो शास्त्र नमों बहुप्रीति ल्याय ॥ ५ ॥ गुरु आचारज उव-झाय साध, तन नगन रतनत्रयनिधि अगाध । संसारदेह वैराग धार, निरवांछि तपैं शिवपद निहार ॥ ६ ॥ गुण छत्तिस पच्चिस आठवीस, भवतारन तरन जिहाज ईस । गुरुकी महिमा वरनी न जाय, गुरुनाम जपों मनवचन-काय ॥ ७ ॥

सोरठा—कीजे शक्ति प्रमान, शक्ति विना सरधा धरै।
द्यानत सरधावान, अजर अमरपद भोगवै ॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

* इति देवशास्त्रगुरुकी भाषापूजा समाप्त *

श्री बीस तीर्थंकरपूजा भाषा

दीप अढाई मेरु पन, अरु तीर्थंकर बीस।
तिन सबकी पूजा करूं, मनवचतन धरि सीस ॥

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकराः ! अत्र अवतर अवतर । संवौषट् ।
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकराः ! अत्र तिष्ठत तिष्ठत । ठः ठः ।
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकराः ! अत्र मम सन्निहितो भवत भवत वषट् ।

इंद्र फणींद्र नरेंद्र वंद्य, पद निर्मल धारी ।
शोभनीक संसार, सारगुण हैं अविकारी ॥
क्षीरोदधि सम नीरसों (हो) पूजों तृषा निवार ।
सीमंधर जिन आदि दे, बीस विदेह मँझार ॥
श्री जिनराज हो भव, तारणतरण जिहाज ॥१॥

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं०॥

तीनलोकके जीव, पाप आताप सताये ।
तिनको साता दाता, शीतल वचन सुहाये ॥
बावन चंदनसों जजूं (हो) भ्रमनतपन निरवार । सी०।२।

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्यो भवातापविनाशनाय चंदनं नि०

यह संसार अपार, महासागर जिनस्वामी ।
तातैं तारे बड़ी भक्ति-नौका जगनामी ॥
तंदुल अमल सुगंधसों (हो) पूजों तुम गुणसार । सी० ।३।

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्योऽक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्व० ।

भविक-सरोज-विकाश, निंद्यतमहर रविसे हो ।
जति श्रावक आचार, कथनको तुमही बड़े हो ॥
फूलसुवास अनेकसों (हो) पूजों मदन प्रहार । सी० ॥४॥

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्य कामबाणविध्वंसनाय पुष्प०

काम नाग विषधाम, नाशको गरुड़ कहे हो।
क्षुधा महादवज्वाल, तासको मेघ लहे हो॥
नेवज बहुघृत मिष्टसों (हो) पूजों भूखविडार। सीमंधर०॥५॥
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्यः क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं०॥

उद्यम होन न देत, सर्व जगमांहि भरचो है।
मोह महातम घोर, नाश परकाश करचो है॥
पूजों दीपप्रकाशसों (हो) ज्ञानज्योति करतार। सी० ॥६॥
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं०॥

कर्म आठ सब काठ, भार विस्तार निहारा।
ध्यान अगनि कर प्रकट, सरब कीनो निरवारा॥
धूप अनूपम खेवतैं (हो), दुःख जलैं निरधारासी०।७।
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्योऽष्टकर्मविध्वंसनाय धूपं० ॥७॥

मिथ्यावादी दुष्ट, लोभऽहंकार भरे हैं।
सबको छिनमें जीत, जैनके मेरु खरे हैं॥
फल अति उत्तमसों जजों (हो) वांछितफलदातार। सी० ।८
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्व०।

जल फल आठों दर्व, अरघकर प्रीति धरी है॥
गणधर इंद्रनहूतैं, थुति पूरी न करी है॥
द्यानत सेवक जानके (हो) जगतें लेहु निकार। सी० ॥९॥
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थङ्करेभ्योऽनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घं निर्व०

❀ अथ जयमाला आरती ❀

—: सोरठा :—

ज्ञानसुधाकरचंद, भविकखेतहित मेघ हो ।
भ्रमतमभान अमंद, तीर्थंकर बीसों नमों ॥

—: चौपाई १६ मात्रा :—

सीमंधर सीमंधर स्वामी, जुगमंधर जुगमंधर नामी ।
बाहु बाहु जिन जगजन तारे, करम सुबाहु बाहुबल दारे ॥१॥
जात सुजात केवलज्ञानं, स्वयंप्रभू प्रभु स्वयं प्रधानं ।
ऋषभानन ऋषिभानन दोषं, अनन्तवीरज वीरजकोषं ॥२॥
सौरीप्रभ सौरीगुणमालं, सुगुण विशाल विशाल दयालं ।
वज्रधार भवगिरिवज्जर हैं, चन्द्रानन चन्द्रानन वर हैं ॥३॥
भद्रबाहु भद्रनिके करता, श्रीभुजंग भुजंगम हरता ।
ईश्वर सबके ईश्वर छाजें, नेमि प्रभु जस नेमि विराजैं ॥४॥
वीरसेन वीरं जग जानै, महाभद्र महाभद्र बखानै ।
नमों जसोधर जसधरकारी, नमों अजितवीरज बलधारी ॥५॥
धनुष पांचसै काय विराजै, आव कोड़िपूरब सब छाजै ।
समवसरण शोभित जिनराजा, भवजल तारनतरन जिहाजा ॥६॥
सम्यक रत्नत्रयनिधिदानी, लोकालोक प्रकाशक ज्ञानी ।
शतइन्द्रनिकरि वंदित सोहैं, सुरनर पशु सबके मन मोहैं ॥७॥

—:: दोहा ::—

तुमको पूजै वंदना, करै धन्य नर सोय।
द्यानत सरधा मन धरै, सो भी धरमी होय ॥

ॐ ह्री विद्यमान विंशतितीर्थंकरेभ्यो महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

❀ इति श्रीबीस तीर्थंकरपूजा समाप्त ❀

अथ श्रीसिद्धपूजा

(कवि जौहरीमलजी कृत)

तीनलोक ईश तनवातवलै शीश तहाँ,
राजै जगदीश जु समूह सिद्धरूप है।
एकरूप वसुरूप गुण है अनन्त,
अवगाहन जघन्य उत्कृष्ट जु स्वरूप है।
पद्मासन खड्गासन लोकालोक ज्ञायक,
जे अजर अमर जु अमूरति अनूप है।
आय तिष्ठ इष्टदेव मैं करूँ पदाब्जसेव,
वंदू मैं त्रिकाल ऐसे सिद्ध शिवभूप है॥

ॐ ह्री श्री णमोसिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् सिद्धसमूह ! अत्र अवतरावतर सवौषट् आह्वाननं।

ॐ ह्री श्री णमोसिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् सिद्धसमूह ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्।

ॐ ह्री श्री णमोसिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् सिद्धसमूह ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधिकरणं।

निजमनमणिमय भृङ्गार समरस नीर भरा,
पूजूं दुःख त्रिविध निवार जामन मरण जरा।
श्री सिद्धसमूह अनन्त गुणातम शुद्ध सही,
तुम ध्यावत मुनिजन संत पावत मोक्षमही ॥१॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने जन्मजरा-
मृत्युविनाशनाय जलं नि० ।

निज सहजहिं शुद्ध स्वभाव, चंदन घसि लायो ।
पूजूं तुम पदधरि चाव, भव तप विनसायो ॥श्री०॥२॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने संसार-
तापविनाशनाय चन्दनं नि० ।

निर्मल निज सहज स्वभाव, तंदुल शुद्ध लिये ।
गुण अक्षय पद दरसाव, तुम पद भेंट किये ॥श्री०॥३॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिनेऽक्षयपद-
प्राप्तये अक्षतान् नि० ।

चेतन निज भाव सुसार, पुष्प सुगन्ध भरैं ।
मनमथ के नाशनहार, तुम पद भेंट धरैं ॥श्री०॥४॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने कामबाण-
विध्वंसनाय पुष्पं नि० ।

आतमरसपूरितमिष्ट, शुद्ध नैवेद्य लिये ।
पूजूं परमातम इष्ट, दोष क्षुधादि गये ॥श्री०॥५॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने क्षुधारोग-
विनाशनाय नैवेद्यं नि० ।

शुद्ध चेतनमें रुचिभाव, दीप प्रकाश रह्यौ ।
पूजूं निजगुण दरसाव, शांत स्वरूप गह्यौ ॥श्री०॥६॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने मोहांधकारविनाशनाय दीपं नि० ।

कर्मनकी घातकरूप, धूप सुगंध करी ।
खेवत हूँ हे शिवभूप ! आठौं कर्म जरी ॥श्री०॥७॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिनेऽष्टकर्मदहनाय धूपं नि० ।

रतनत्रय शुद्ध स्वभाव, निजगुण फल लीने ।
पूजत शिवफल सरसाव, आतमरस भीने ॥श्री०॥८॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने मोक्षफलप्राप्तये फलं नि० ।

चिंतामणि सम शुद्धभाव, आठौं द्रव्य लिये ।
पूजत अरिगण जु नसाव, निजगुण प्रकट किये ॥श्री०॥९॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिनेऽनर्घ्यपदप्राप्तयेऽर्घ नि० ।

❀ अथ जयमाला ❀

—:: छन्द ::—

इंद्र फणिंद्र नरेन्द्र तीनूं कर पूजा पाई ।
ऐसे तीरथनाथ नमैं तुम त्रिभुवन राई ।
सिद्ध शुद्ध पद ध्याय मुक्तिलक्ष्मीको पावे ।
सुख सत्ता चैतन्य बोध निजगुण प्रगटावे ॥

—:: नारायण छन्द :.—

सु वीतराग शांतरूप बोधके निधान हो।
निरामय सु निर्भय निरंश हो सुधाम हो।
प्रसन्न हो समूह सिद्ध आपही विशुद्ध हो।
करो विशुद्ध मोहि नाथऽनंतज्ञान बुद्ध हो ॥प्र०॥१
तुम्हीं विमोह हो निरंग साम्यभाव रूप हो।
अमूर्त्तीक पूर्ण बुद्ध आप ही स्वरूप हो ॥प्र०॥२
अवंध निष्कपाय हो जु कर्म पास ना रही।
जो संगको प्रसंग नाहिं शुद्धरूप आप ही ॥प्र०॥३
अनंत सौख्यके समुद्र नंतज्ञान धीर हो।
दुःकर्मको निवारि आप कामखंड वीर हो ॥प्र०॥४
कलंककर्म धूलिको समीरके समान हो।
नहीं जो शोक ना विकार ना अमान हो ॥प्र०॥५
सुज्ञाननेत्र तेज देख लोक वा अलोकको।
जो भिन्न भिन्न जान जीवद्रव्य आदि थोकको ॥प्र०॥६
जु मोह हीन अंगना सदा उदय स्वरूप हो।
जु वर्ण गंध रूप नाहिं आप ही अरूप हो ॥प्र०॥७
मुनीन्द्र इन्द्र वा नरेन्द्र पादवृन्द पूजि है।
सुशुद्ध सिद्ध ध्यावते जु दुष्टकर्म धूजि है ॥प्र०॥८
भये जु जन्म मरण नाशिकै जु त्रिपुरारि हो।
सुशुद्ध काज माहि आप ही सु सार हो ॥प्र०॥९

जु और चाह नाहिं मोहि सिद्धपद दीजिये ।
जु आप हो कल्याणरूप मो कल्याण कीजिये ।अ०।१०

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

यह सिद्धसमूहतनी जयमाल जो भवि पढ़ि निज ध्यान धरे।
सब कर्म नशावे शिवपद पावे 'जोहरि' परमानन्द करे ।।

।। इत्याशीर्वादः ।। (पुष्पांजलि)

❀ इति श्रीसिद्धपूजा समाप्त ❀

अथ सिद्धपूजा भाषा (नं० २)

—:: छप्पय ::—

स्वयं सिद्ध जिनभवन रतनमय बिंब विराजैं ।
नमत सुरासुर भूप दरस लखि रवि शशि लाजैं ।।
चार सतक पंचास आठ भुवलोक बताये ।
जिनपद पूजन हेत धारि भवि मंगल गाये ।।
मंगलमय मंगलकरण, शिवपद दायक जानिकैं ।
आह्वानन करिकै नमूं सिद्ध सकल उर आनिकैं ।।

ॐ ह्रीं अनंतगुणविराजमानसिद्धपरमेष्ठिन् अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।
ॐ ह्रीं अनंतगुणविराजमानसिद्धपरमेष्ठिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनं ।
ॐ ह्रीं अनंतगुणविराजमानसिद्धपरमेष्ठिन् अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधिकरणं ।

—:: चाल नन्दीश्वरकी ::—

उज्जल जल शीतल लाय जिन गुण गावत हैं ।
सब सिद्धनकों सु चढ़ाय पुण्य बढ़ावत हैं ।।

सम्यक्त्व सु ज्ञायक ज्ञान यह गुण पइयतु हैं।
पूजौं श्रीसिद्धमहान बलि बलि जइयतु हैं ॥१॥
ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिने जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

करपूर सुकेशर सार चंदन सुखकारी।
पूजों श्रीसिद्ध निहार आनँद मन धारी॥
सब लोकालोक प्रकाश केवलज्ञान जग्यो।
यह ज्ञानसुगुणमनभास निज रस मांहि पगौ॥२॥
ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने संसारतापविनाशनाय चंदन निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

मुक्ताफलकी उनहार अक्षत धोय धरे।
अक्षय पद प्रापति जान पुण्य भंडार भरे॥
जगमें सु पदारथ सार ते सब दरसावै।
सो सम्यक् दरशन सार इह गुण मन भावै॥३॥
ॐ ह्रीं णमोसिद्धाण श्रीसिद्धपरमेष्ठिनेऽक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

सुंदर सु गुलाब अनूप फूल अनेक कहे।
श्रीसिद्ध सु पूजत भूप बहुविध पुण्य लहे॥
तहाँ वीर्य अनन्तो सार यह गुन मन आनौं।
संसारसमुदतैं पार-कारक प्रभु जानौं ॥ ४ ॥
ॐ ह्रीं णमोसिद्धाण श्रीसिद्धपरमेष्ठिने कामबाणविध्वंसनाय पुष्पम् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

फैनी गोझा पकवान, मोदक सरस बने।
पूजौं श्रीसिद्ध महान भूख विथा जु हने॥
झलकैं सब एकहि बार ज्ञेयक हैं जितने।
यह सूक्षमता गुणसार सिद्धनको तितने॥ ५॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यम् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५॥

दीपक की ज्योति जगाय, सिद्धनकौं पूजो।
कर आरति सन्मुख जाय निरभय पद हूजो॥
कछु घाटि न बाधि प्रमाण गुरुलघु गुण राखौ।
हम शीस नवावत आन, तुम गुण मुख भाखौ॥६॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६॥

चर धूप सु दशविध लाय, दस दिस गंध वरै।
वसु करम जरावत जाय मानौं नृत्य करै॥
इक सिद्धमें सिद्ध अनंत सत्ता सब पावैं।
यह अवगाहन गुण संत सिद्धनके गावैं॥ ७॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धपरमेष्ठिनेऽष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७॥

ले फल उत्कृष्ट महान सिद्धनको पूजौ।
लहि मोक्ष परम शुभथान प्रभु सम नहिं दूजौ॥
यह गुण बाधाकर हीन, बाधा नाश भई।
सुख अव्याबाध सुचीन, शिवसुँदर सु लई॥ ८॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने महामोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

जल फल भरि कंचन थाल अरचत कर जोरी ।
तुम सुनियो दीनदयाल विनती है मोरी ॥
करमादिक दुष्ट महान इनको दूर करो ।
तुम सिद्ध महासुख दान भव भव दुःख हरो ॥९॥

ॐ ह्रीं णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने सर्वसुखप्राप्तयेऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

—:: अथ जयमाला ॥ दोहा ::—

नमौं सिद्ध परमात्मा, अद्भुत परम रसाल ।
तिन गुण अगम अपार है, सरस रचों जयमाल ॥ १ ॥

—:: छन्द पद्धरी ::—

जय जय श्रीसिद्धनको प्रणाम । जय शिवसुख-सागरके सुधाम ॥ जय बलि बलि जात सुरेश जान । जय पूजत तनमन हरष आन ॥ २ ॥ जय क्षायक गुण सम्यक्त्व लीन । जय केवलज्ञान सुगुण नवीन ॥ जय लोकालोक प्रकाशवान । जयं केवल-अतिशय हिये आन ॥ ३ ॥ जय सर्व तत्त्व दरसै महान । सोइ दरसनगुण तीजो सुजान ॥ जय वीर्य अनन्तो है अपार । जाकी पटतर दूजो न सार ॥ ४ ॥ जय सूक्षमता गुण हिये धार । सब ज्ञेय लखे एक हि सु वार ॥ इक सिद्धमें सिद्ध अनन्त जान । अपनी अपनी सत्ता प्रमान ॥ ५ ॥ अवगाहन गुण अतिशय

। तिनके पद वंदौं नमत भाल ॥ कछु घाटि न
है प्रमाण । सो अगुरुलघु गुण धर महान ॥ ६ ॥
धारहित विराजमान, सोइ अव्याबाध कह्यो बखान ।
गुण है विवहार संत । निहचै जिनवर भाखे अनंत
सब सिद्धनके गुण कहे गाय । इन गुणकर शोभित
नाय ॥ तिनको भविजन मन वचन काय । पूजत
धि अति हरष लाय ॥८॥ सुरपति फणपति चक्री
न । बलहरि प्रतिहर मनमथ सुजान ॥ गणपति मुनि-
मिलि धरत ध्यान । जय सिद्ध शिरोमणि जग
न ॥ ९ ॥

—:: सोरठा ::—

ऐसे सिद्ध महान, तिन गुण-महिमा अगम है ।
वरनन कह्यो बखान, तुच्छबुद्धि कवि लाल जू ॥१०॥
ॐ णमोसिद्धाणं श्रीसिद्धपरमेष्ठिने सर्वसुखप्राप्तये महार्घं नि० ।

—:: दोहा ::—

करताकी यह वीनती सुनो सिद्ध भगवान ।
मोहि बुलावो आप ढिग यही अरज उर आन ॥

❀ इत्याशीर्वादः । इति श्री सिद्धपूजा सम्पूर्णं ❀

श्री जिनेंद्रपूजा

—:: छप्पय ::—

मोहकर्म जिन हरयो, करयो रागादिक नष्टित ।

द्वेष सबै परिहरचो, जागि क्रोधहिं किय भिष्टित ॥
मानमूढ़ता हरिय, दरिय माया दुखदायिन ।
लोभ लहरगति गरिय, खरिय ग्रगटी जू रसायिन ॥
केवल पद अवलंबि हुव, भवसमुद्र - तारनतरन ।
त्रयकाल चरन वंदत 'भविक' जयजिनंद तुह पयसरन ॥१॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनेद्र ! अत्र अवतर अवतर । संवौषट् । इत्याह्वाननम्
ॐ ह्रीं श्रीजिनेद्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ । ठः ठः । स्थापनम् ।
ॐ ह्रीं श्रीजिनेद्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् इति सन्निधिकरण

नीर छीरसागरको निर्मल पवित्र अति,
सुंदर सुवास भरचो सुरपैं अनाइये ।
गंगकी तरंगनके स्वच्छ सुमनोज्ञ जल,
कंचन कलश वेग भरकें मंगाइये ॥
और हू विशुद्ध अंबु आनिये उछाह सेती,
जानिये विवेक जिन चरन चढ़ाइये ।
भौदुख समुद्रजल अंजुलिको दीजे,
इहाँ तीनलोक नाथकी हजूर ठहराइये ॥

ॐ ह्री श्रीजिनेंद्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जल नि० स्वाहा ॥२॥

परम सुशीतल सुवास भरपूर भरचो,
अति ही पवित्र सब दूषन दहतु है ।
महा वनराजनके वृन्दन सुगन्ध करै,
संगतिके गुण यह विरद वहतु है ॥

बावन जु चंदन सुपावन करन जग,
चढ़ै जिनचर्ण गुण ताहीतें लहतु है।
मोह दुखदाहके निवारिवेको महा हिम,
चंदनतैं पूजौं जिन चित्त यों कहतु है॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनेंद्राय संसारतापविनाशनाय चंदनं नि० स्वाहा ॥३॥

शशि कीसी किर्ण कैंधों, रूपाचलवर्ण कैंधों,
मेरुतट किर्ण कैंधों फटिक प्रमाने हैं।
दूधकेसे फैन कैंधों चिंतामणि रेणु कैंधों,
मुक्ताफल ऐन कैंधों, हीरा हेरि आने हैं॥
ऐसे अति उज्ज्वल हैं तंदुल पवित्र पुंज,
पूजत जिनेश पाद पातक पराने हैं।
अच्छे गुण प्रापति प्रकाश तेज पुंज होय,
अच्छै जिन देखै अच्छ इच्छते अघाने हैं॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनेंद्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् नि० स्वाहा ॥४॥

जगतके जीव जिन्हें जीतके गुमानी भयो,
ऐसो कामदेव एक जोधा जो कहायो है।
ताके शर जानियत फूलनिके वृन्द बहु,
केतकी कमल कुन्द केवरा सुहायो है॥
मालती सुगन्ध चारु वेलिकी अनेक जाति,
चंपक गुलाब जिनचरण चढ़ायो है।

तेरी ही शरण जिन जोर न बसाय याको,
सुमनसों पूजे तोहि मोहि ऐसो भायो है ॥५॥
ॐ ह्री श्रीजिनेद्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं नि० स्वाहा ॥५॥

परम पुनीत जान सेवनके पुंज आन,
तिन्हें पुनि पहिचान जिनयोग्य जानिये।
अन्न औ विशुद्ध तोय ताको पकवान होय,
कहिये नैवेद्य सोई शुद्ध देख आनिये॥
पूजत जिनेन्द्रपाय पातक पराने जाय,
मोक्षलच्छि ठहराय सत्य यों बखानिये।
क्षुधाको न दोष होय ज्ञानतनपोष होय,
परम संतोष होय ऐसी विधी ठानिये ॥६॥
ॐ ह्री श्रीजिनेद्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य नि० स्वाहा ॥६॥

दीपक अनाये चहुँगतिमें न आवे कहूँ,
वर्तिका बनाये कर्मवर्ति न बनत है।
घृतकी सनिग्धतासों मोहकी सनिग्ध जाय,
ज्योतिके जगाय जगाजोतिमें सनत है॥
आरती उतारतें आरत सब जाय टर,
पांय ढिग धरे पापपंकति हनत है।
वीतरागदेव जूकी सेव कीजे दीपकसों,
दीपक प्रताप शिवगामी यों भनत है॥
ॐ ह्री श्रीजिनेद्राय मोहांधकारविनाशनाय दीपं नि० स्वाहा ॥७॥

परम पवित्र हेम आनिये अधिक प्रेम,
जाति धूपदान जिमि शुद्ध निपजाइकैं ।
चहि जे विशुद्ध बनी तेजपुंज महाघनी,
मानो धरी रत्नकनी ऐसी छवि पाइकैं ॥
तामें कृष्णागरुकी जु कनिकाहू खेव कीजे,
वहै कर्मकाठनिके पुंजगहि ताइकैं ।
पूजिये जिनेन्द्र-पांय धूपके विधान सेती,
तीनलोकमाहिं जो सुवास वास छायकैं ॥८॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनेंद्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं नि० स्वाहा ॥८॥

श्रीफल सुपारी सेव दाडिम बदाम नेव,
सीताफल संगतरा शुद्ध सदा फल है ।
विही नासपाती औ विजोरा आम अम्रतसे,
नारंगी जँभीरी कर्णफल जे कमल है ।
ऐसे फल शुद्ध आनि पूजिये जिनंद जान,
तिहूँलोकमधि महा सुकृतको थल है ।
फल सेती पूजे शुद्ध मोक्षफल प्राप्ति होय,
द्रव्य भाव सेये सुखसंपति अचल है ॥९॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनेंद्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं नि० स्वाहा ॥९॥

जल सुविशुद्ध आन चंदनं पवित्र जान,
सुमन सुगंध ठान अक्षत अनूप है ।

निरखि नैवेद्यके विशेप भेद जान सबै,
दीपक सँवारि शुद्ध औग गंध धूप है ॥
फलले विशेष भाय पूजिये जिनंद पाय,
वसु भेद ठहराय अरथ स्वरूप है ।
करम कलंक पंक हरिके भयो अटंक,
सेवक जिनंद 'भैया' होत शिवभूप है ॥१०॥

—:: दोहा ::—

शुचि करके निज अंगको, पूजहु श्रीजिनपाय ।
दर्वित भावतविधि सहित, करहु भक्ति मन लाय ।

ॐ ह्री श्रीजिनेद्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घं नि० स्वाहा ॥१०॥

❀ अथ जयमाला ❀

—:: दोहा ::—

श्रीजिनदेव प्रणामकर, परमपुरुप आराध ।
कहौं सुगुण जयमालिका, पंच-करणरिपु साध ।

—:: पद्धरि छन्द ::—

जय जय सु अनंत चतुष्ट नाथ । जय जय प्रभु मोक्ष प्रसिद्ध साथ ॥ जय जय तुम केवलज्ञान भास । जय जय केवल-दर्शन प्रकाश ॥ २ ॥ जय जय तुम बल जु अनंत जोर । जय जय सुख जास न पार ओर ॥ जय जय त्रिभुवनपति तुम जिनंद । जय जय भवि कुमदनि पूर्ण चंद ॥ ३ ॥ जय जय तमनाशन प्रगट भान । जय जय जितइंद्रिन तू प्रधान ॥

जय जय चारित्र सु यथाख्यात । जय जय अघनिशि नाशन प्रभात ॥ ४ ॥ जय जय तम मोह निवार वीर । जय जय अरिजीतन परम धीर ॥ जय जय मनमथमर्दन मृगेश । जय जय जमजीतनको रसेश ॥ ५ ॥ जय जय चतुरानन हो प्रतच्छ । जय जय जगजीवन सकल रच्छ ॥ जय जय तुम क्रोधकषाय जीत । जय जय तुम मान हर्यो अजीत ॥ ६ ॥ जय जय तुम मायाहरन सूर । जय जय तुम लोभनिवार मूर ॥ जय जय शत इंद्रन वंदनीक । जय जय अरि सकल निकंदनीक ॥ ७ ॥ जय जय जिनवर देवाधिदेव । जय जय तिहुँपन भवि करत सेव ॥ जय जय तुम ध्यावहिं भविक जीव । जय जय सुख पावहिं ते सदीव ॥ ८ ॥

—:: घत्ता ::—

ते निजरसरत्ता तज परसत्ता, तुम सम निज ध्यावहिं घटमें ।
ते शिवगति पावैं बहुर न आवैं, बसै सिंधुसुखके तटमें ॥९॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनेन्द्राय महासुखप्राप्तये पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

❀ इति ❀

❀ अथ परमात्माकी जयमाला लिख्यते ❀

—:: दोहा ::—

परम देव परनामकर, परम सुगुरु आराधि ।
परम सुधर्म चितार चित्त, कहूँ माल गुणसाधि ॥१॥

—:: चौपाई ::—

एकहि ब्रह्म असंख प्रदेश। गुण अनंत चेतनता भेश॥ शक्ति अनंत लसै जिह माहिं। जा सम और दूसरो नाहिं॥२॥ दर्शन ज्ञानरूप व्यवहार। निश्चय सिद्ध समान निहार॥ नहिं करता नहिं करि है कोय। सदा सर्वदा अविचल सोय॥३॥ लोकालोक ज्ञान जो धरै। कबहुँ न मरण जनम अवतरै॥ सुख अनंतमय जास सुभाव। निरमोही बहु कीने राव॥४॥ क्रोध मान माया नहिं पास। सहजे जहाँ लोभको नास॥ गुणथानक मारगना नाहिं। केवल आपु आपुही माहिं॥५॥ परका परस रंच नहिं जहाँ। शुद्ध सरूप कहावै तहाँ॥ अविनाशी अविचल अविकार। सो परमातम है निरधार॥६॥

—:: दोहा ::—

यह निश्चय परमात्मा, ताको शुद्ध विचार।
जामें पर परसै नहीं, "भैया" ताहि निहार॥७॥

❀ इति परमात्माकी जयमाला ❀

निर्वाणक्षेत्र पूजा

—:: सोरठा ::—

परम पूज्य चौवीस, जिहँ जिहँ थानक शिव गये।
सिद्धभूमि निशदीस, मनवचतन पूजा करौं॥१॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्राणि! अत्र अवतरत अवतरत संवौषट्।

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्राणि! अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः। स्थापनम्।

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्राणि ! अत्र मम सन्निहितानि भवत भवत वषट्।

—:: गीता छन्द ::—

शुचि क्षीरदधि सम नीर निरमल, कनकझारीमें भरौं।
संसारपारउतारस्वामी, जोरकर विनती करौं॥
सम्मेदगढ़ गिरनार चंपा, पावापुरि कैलासकों।
पूजों सदा चौबीस जिननिर्वाण-भूमि निवासकों॥ १॥

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्रेभ्यो जलं नि० स्वाहा॥१॥

केशर कपूर सुगंध चंदन सलिल शीतल विस्तरौं।
भवतापको संताप मेटो, जोरकर विनती करौं॥सं०॥२॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्रेभ्यः चंदनं नि० स्वाहा॥२॥

मोतीसमान अखंडतंदुल, अमल आनँदधरि तरौं।
औगुन हरौ गुन करौ हमको, जोरकर विनती करौं।सं०।३।

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्रेभ्योऽक्षतान् नि० स्वाहा॥३॥

शुभ फूलरास सुवासवासित, खेद सब मनकी हरौं।
दुखधामकाम विनाश मेरो, जोरकर विनती करौं।सं०।४।

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्रेभ्यः पुष्प नि० स्वाहा॥४॥

नेवज अनेक प्रकार जोग, मनोग धरि भय परिहरौं।

यह भूखदूखन टार प्रभुजी, जोरकर विनती करौं ।सं०।५।

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थकरनिर्वाणक्षेत्रेभ्यो नैवेद्यं नि० स्वाहा ॥५॥

दीपकप्रकाश उजास उज्जवल, तिमिरसेती नहिं डरौं ।
संशयविमोहविभरम तमहर, जोरकर विनती करौं। सं०।६।

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थकरनिर्वाणक्षेत्रेभ्यो दीपं नि० स्वाहा ॥६॥

शुभधूप परम अनूप पावन, भानपावन आचरौं ।
सब करमपुँज जलाय दीज्यौ, जोरकर विनती करौं ।सं०।७।

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थकरनिर्वाणक्षेत्रेभ्यो धूप नि० स्वाहा ॥७॥

बहु फल मँगाय चढ़ाय उत्तम, चारगतिसों निरवरौं ।
निहचै मुकतिफल देहु मोको, जोरकर विनती करौं। सं०।८।

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थकरनिर्वाणक्षेत्रेभ्यो फलं नि० स्वाहा ॥८॥

जल गंध अच्छत फूल चरू फल, दीप धूपायन धरौं ।
'द्यानत'करो निरभय जगतसौं, जोरकर विनती करौं। सं०।९

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थकरनिर्वाणक्षेत्रेभ्यो अर्घ नि० स्वाहा ॥९॥

❀ अथ जयमाला ❀

—:: सोरठा :.—

श्रीचौबीसजिनेश, गिरिकैलाशादिक नमों ।
तीरथ महाप्रदेश, महापुरुष निरवाणतैं ॥१॥

— चौपाई १६ मात्रा ::—

नमों ऋषभ कैलासपहारं, नेमिनाथ गिरनार निहारं ।

वासुपूज्य चंपापुर वंदौं, सनमति पावापुर अभिनंदौं ॥२॥
वंदौं अजित अजितपददाता, वंदौं संभव भवदुखघाता ।
वंदौं अभिनन्दन गणनायक, वंदौं सुमति सुमतिके दायक ।३
वंदौं पदमसुकति पदमाकर, वंदौं सुपास आशपासाहर ।
वंदौं चन्द्रप्रभ प्रभुचन्दा, वंदौं सुविधि सुविधिनिधि कंदा ।४
वंदौं शीतल अघतपशीतल, वंदूं श्रियांस श्रियांस महीतल ।
वंदौं विमल विमल उपयोगी, वंदूं अनंत अनँत सुख भोगी ।५
वंदौं धर्म धर्मविस्तारा, वंदौं शांति शांतिमनधारा ।
वंदौं कुन्थु कुन्थु-रखवालं, वंदौं अर अरिहर गुणमालं ।६
वंदौं मल्लि काममलचूरन, वंदौं मुनिसुव्रत व्रतपूरन ।
वंदौं नमि जिन नमित सुरासुर, वंदौं पास पास भ्रमजगहर
बीसों सिद्धभूमि जा ऊपर, शिखर सम्मेदमहागिरि भूपर ।
एक बार वंदे जो कोई, ताहि नरकपशुगति नहिं होई ॥८॥
नरपति नृप सुरशक्र कहावै, तिहुँजग भोग भोगि शिव पावै ।
विघनविनाशन मंगलकारी, गुणविलास वंदौं भवतारी ॥९॥

—:: घत्ता ::—

जो तीरथ जावै पाप मिटावै, ध्यावै गावै भगति करै ।
ताको जस कहिये संपति लहिये, गिरिके गुणको बुध उचरै ।१०

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्रेभ्यः पूर्णार्घं नि० स्वाहा ।

❀ इति निर्वाणक्षेत्र पूजा समाप्त ❀

अथ श्रीचन्द्रप्रभजिनपूजा

—:: अडिल्ल ::—

शुभ अतिसय चौंतीस प्रातिहारिज अधिकाही,
अनन्तचतुष्टयजुक्त दोष अष्टादस नाही ।
आह्वानन विधि करूँ नाय सिर सुधकरि मनही,
लोक मोहतमहरनदीप अद्भुत ससि जिनही ॥१॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेंद्र ! अत्र अवतर अवतर । संवौषट् ।
ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेंद्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ । ठः ठः ।
ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेंद्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव । वषट् ।

—:: गीता छन्द ::—

[1]हिमसयल निरगत तोय सीतल मधुर सुरगथकी परै ।
भरि भृङ्ग जिनवर चरण आगैं धार दे भवमृति हरै ॥
श्रीचन्द्रप्रभ दुतिचंदको पदकमल नखससि लगि रह्यो ।
आतंकदाह निवारि मेरी, अरज सुनि मैं दुख सह्यो ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं नि० ।

भवताप दाह दहंत मोकूं एक छिन न विसारही ।
घनसार मलय थकी जिनेसुर पूजिहूं दुखटारही ॥श्री०॥२॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेंद्राय संसारतापविनाशनाय चन्दन नि० स्वाहा

संसार उदधि अपार तारन भक्ति प्रभु तुमरी सही ।

---

१. पर्वत ।

शुभ सालिपुञ्ज जिनाग्रकरि हूँ लहूं वसुगुण वसुमही।।श्री०।।

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं नि० स्वाहा ।

अति सुभट मार प्रचण्ड सरतें हने सुर नर पसु सबै ।

शुभ कुसुमस्यौं पद पूजिहूं जिन हरो मनमथ दुख अबै।।श्री०।।

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं नि० ।

यह छुधा मोकूं दहै नितही, नैक सुख नहिं पावही ।

चरु मिष्टतें पद पूजिहूं जिन छुधारोग नसावही ।।श्री०।।

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यम् नि० ।

अति मोहतम मम ज्ञान ढाक्यो, स्वपर पद नहिं बेवही।

तुम चरण पूजूं रतन दीपक, करो तमको छेव ही ।।श्री०।।६

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय मोहांधकार विनाशनाय दीपं नि० ।

शुभ मलय अगर सुगंध सौरभ, थकी अलि बहु आवहीं ।

जिन चरन आगें धूप खेये, कर्म वसु जरि जावहीं ।।श्री०।।

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं नि० ।

शुभ मोखमग अंतराय रोक्यौ, मोहि निरबल जानिकैं ।

जिन मोक्ष द्यौ तव चरण पूजूं, फल मनोहर आनिकैं।।श्री०।।

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं नि० ।

जल गंध तंदुल पुष्प चरु ले, दीप धूप फलौघ हीं ।

कन थाल अर्घ बनाय सिवसुख, "रामचन्द" लहै सही।।श्री०

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तयेऽर्घं निर्वपामीति स्वा०

❀ पंचकल्याणक अर्घ ❀

—: दोहा :—

चैत असित पंचमि चये, वैजयंततें इंद ।
उदर सुलछना अवतरे, जजूं त्रिविध गुणवृंद ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं चैत्रकृष्णपंचम्यां गर्भमंगलमंडिताय श्रीचन्द्रप्रभजिनेंद्राय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

असित पोह एकादसी, जनमे जुत त्रय ज्ञान ।
वासव उत्सवकरि जजे, जजूं जनम कल्यान ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं पौषकृष्णैकादश्यां जन्मकल्याणसहिताय श्रीचंद्रप्रभजिनेंद्राय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

चंद्रपुरी साम्राज्य तजि कृष्ण इकादशी पोह ।
धर्यो उग्र तप वनविषै जजूं नाशहित द्रोह ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं पौषकृष्णैकादश्यां तपःकल्याणसहिताय श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अर्घं नि० ।

फाल्गुण सप्तमि कृष्ण हो घाति हने लहि ज्ञान ।
भव्यातम बोधे घने जजहुं ज्ञानकल्यान ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं फाल्गुनकृष्णसप्तम्यां ज्ञानकल्याणसहिताय श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अर्घं नि० ।

सुकल फागुण सप्तमी, शेष कर्म हनि मोख ।
गये समेदाचल थकी, जजूं गुणनके कोख ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं फाल्गुनशुक्लसप्तम्यां मोक्षकल्याणमंडिताय श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अर्घं ।

❀ अथ जयमाला ❀

—:: दोहा ::—

वसुजिन वसु कर्म हानिके, वसे धरा वसु जाय।
हरो हमारे कर्म वसु, नमूं अंग वसु नाय ॥१॥

(चाल—अहो जगत गुरु देवकी)

अहो चन्द्रदुतिनाथ ज्ञायक अंतरजामी।
सकललोक तिरकाल लखे जुगपत गुणधामी॥
जे चर अचर अपार अनागततीत उपायो।
लोकालोक निहारि लखे कछु नांहि छिपायो।२।
भाख्या ज्यौं करमाहिं सिधारथ धारि निहारे।
अथवा अंगुरी रेख लखे कर जुत इकबारे॥
एसौ ज्ञान अपार और कहुँ नाहिं सुन्यौ है।
दरसनको परताप तुहे जिन माहिं भन्यौ है ॥३॥
मैं दुख पाये घोर चतुरगति माहिं घनेरे।
तुमतें छाने नाहिं कहा भाखूं जिन मेरे॥
सब शिशुकी पै बात ख्यात पित-जननी जाने।
मांग्या बिन नहि देहि तोय पय धान न खाने ॥४।
देखो करम अपार सुभट जड़, चेतन नाहिं।
चेतन होकरि रंक, चोर जिम बांधत जाहीं॥
सातों अवनि मझारि नरक दारुण दुख देही।

---

१. आठ।

कोऊ सरनै नाहिं धरम बिन निहचै ये ही॥ ५ ॥
तिरजंचगति दुख घोर सहे बिन संजम धारे।
भूख प्यास लदि भार अर दे पीठ मझार ॥
मारत बधकर धाय जाल मधि उडन पंखेरू।
पकरि कसाई लेय सरनि नाहिं जिहि वेरु॥ ६ ॥
मानुषगति कुल नीच विकल इन्द्री चखि नाहीं।
भूपति आगें दौरि तुवक कांधे धरि जाहीं॥
अहि निशि चौकी देह मेह सिय धाम सहे ही।
बिन दरसन दुख येह घने चिरकाल लहे ही॥७॥
कोऊ पुंन्यवसाय बाल तपतें सुर थायो।
हस्ती घोटक वैल महिष असवारी धायो॥
पूरन आव जु थाय तबै माला मुरझानी।
आरतितैं तजि प्रान कुसुमभव पाय अज्ञानी॥८॥
ऐसे दुःख अपार सहे थिरता नहिं पाई।
क्रोध मान छल लोभ थकी दिन दिन अधिकाई॥
तुम करुणानिधि लेखि सरनि आयो ततकारी।
दुखको कर निरवार अहो जगपति जगतारी।९।
जगनायक जगदीस जगोत्तम दृष्टि निहारो।
मोकूं दास विचारि करो वपुतें निरवारो॥
या वपुसंगति पाय सहे दुख औरन हेती।
यह निश्चै करि जानि लखे तुम वानी सेती।१०

करम विचारे कौन भूलि मेरी अधिकाई ।
अगनि सहे घनघात लोहकी संगति पाई ॥
ऐसे या वपुसंग सहे दुख औरन सेती ।
धनि बानी तुम देव सुनी गुरुके मुख एती ॥११॥
तुम अनुकम्प पसाय, तजूं दुर ध्यान विकारो ।
वरनादिकतें भिन्न, लखूं चिद्रूप हमारो ॥
जोतिस्वरूपी देव, वसै याही घट माहीं ।
ढूंढूं कौन सथान, लखूं तुम ध्यान उपाहीं ॥१२॥
तेरे ध्यान प्रताप, करम जरि जाय अनंता ।
'रामचंद' करि ध्यान, लहे सुख नर गुणवंता ॥
इहभव सुक्ख अपार, और भव सुरपद पावैं ।
अनुक्रमतें निरवान, जिनके सुर धर करि गावैं ।१३।

—:: दोहा ::—

वसुद्रव्य ले सुध भावतें, जजूं तिहारे पाय ।
देहु देव शिव मुक्ष अबै, अहो चंद दुति राय ॥१४॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

❀ इति श्रीचन्द्रप्रभपूजा समाप्त ❀

श्री वासुपूज्य जिनपूजा

—:: छन्द रूपकवित्त ::—

श्रीमतवासुपूज्य जिनवरपद, पूजनहेत हिये उमगाय ।
थापों मनवचतन शुचि करिकै, जिनकी पाटलदेव्या माय ॥

महिष चिह्न पद लसै मनोहर, लाल वरन तन समता दाय ।
सो करुनानिधि कृपादिष्टकरि, तिष्ठहु सुपरितिष्ठ यहँ आय ॥१

ॐ ह्री श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्र ! अत्र अवतर अवतर । संवौषट् ।
ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ । ठः ठः ।
ॐ ह्री श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव । वषट् ।

—:: अष्टक ::—

छन्द जोगीरासा । आंचलीबध "जिनपद पूजों लवलाई"

गङ्गाजल भरि कनक कुम्भमें, प्रासुक गंध मिलाई ।
करमकलंक विनाशन कारन, धार देत हरपाई ॥जिन०॥
वासुपूज्य वसुपूजतनुजपद, वासव सेवत आई ।
बाल ब्रह्मचारी लखि जिनको, शिवतिय सनमुख धाई ॥जिन०॥
ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं नि० ।१
कृष्णागरु मलयागिर चन्दन, केशरसंग घसाई ।
भव आताप विनाशन कारन, पूजोंपद चित लाई ॥वासु०॥
ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय संसारतापविनाशनाय चन्दनं नि० ।२
देवजीर सुखदास शुद्ध वर, सुवरनथार भराई ।
पुंजधरत तुम चरनन आगैं, तुरित अखयपद पाई ॥वासु०॥
ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् नि० ॥३॥
पारिजात संतानकल्पतरु,—जनित सुमन बहु लाई ।
मीनकेतुमदभंजनकारन, तुम पदपद्म चढ़ाई ॥वासु०॥
ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं नि० ॥४॥

नव्यगव्यआदिक रसपूरित, नेवज तुरित उपाई।
क्षुधारोग निरवारनकारन, तुम्हें जजों शिरनाई ॥वासु०॥
ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यम् नि० ।५

दीपकजोत उदोत होत वर, दशदिशमें छवि छाई।
तिमिरमोहनाशक तुमको लखि, जजों चरन हरषाई॥वासु०॥
ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय मोहांधकारविनाशनाय दीपं नि० ।६

दशविध गंधमनोहर लेकर, वातहोत्रमें डाई।
अष्ट करम ये दुष्ट जरतु हैं, धूम सु घूम उड़ाई ॥वासु०॥
ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं नि० ॥७॥

सुरस सुपक्वसुपावन फल लै, कंचनथार भराई।
मोच्छ महाफलदायक लखि प्रभु, भेंट धरों गुनगाई ॥वासु०॥
ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं नि० ॥८॥

जलफल दरब मिलाय गाय गुन, आठों अंग नमाई।
शिवपदराज हेत हे श्रीपति ! निकट धरों यह लाई ॥वासु०॥
ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तयेऽर्घं नि० ॥९॥

❀ पंचकल्याणक ❀

—:: छन्द पाईता (मात्रा १४) ::—

कलि छट्ठ असाढ़ सुहायौ। गरभागम मंगल पायौ ॥
दशमें दिवितें इत आये। शतइंद्र जजे सिर नाये ॥ १ ॥
ॐ ह्रीं आसाढ़कृष्णषष्ठम्यां गर्भमंगलमण्डिताय श्रीवासुपूज्य जिनेन्द्राय अर्घं नि०

कलि चौदश फागुन जानों। जनमें जगदीश महानों ॥

हरि मेरु जजे तब जाई। हम पूजत हैं चितलाई ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं फाल्गुनकृष्णाचतुर्दश्यां जन्ममंगलमण्डिताय श्रीवासुपूज्य जिनेन्द्राय अर्घं नि०

तिथि चौदस फागुन श्यामा। धरियो तप श्रीअभिरामा॥
नृप सुन्दरके पय पायो। हम पूजत अतिसुख थायो॥३॥

ॐ ह्रीं फाल्गुनकृष्णाचतुर्दश्यां तपोमङ्गलमण्डिताय श्रीवासुपूज्य जिनेन्द्राय अर्घं नि०

वदि भादव दोइज सोहै। लहि केवल आतम जो है॥
अनअंत गुनाकर स्वामी। नित बन्दों त्रिभुवन नामी॥४॥

ॐ ह्रीं भाद्रपदकृष्णाद्वितीयायां केवलज्ञानमण्डिताय श्रीवासुपूज्य जिनेन्द्राय अर्घं नि०

सित भादव चौदशि लीनों। निरवान सु धार प्रवीनों॥
पुर चंपाथानकसेती। हम पूजत निजहित हेती॥ ५॥

ॐ ह्रीं भाद्रपदशुक्लचतुर्दश्यां मोक्षमंगलमण्डिताय श्रीवासुपूज्य जिनेन्द्राय अर्घं नि०

❀ अथ जयमाला ❀

—:: दोहा ::—

चंपापुरमें पंच वर, कल्याणक तुम पाय।
सत्तर धनु तन शोभनो, जै जै जै जिनराय॥१॥

—:: छन्द मोतियदाम (वर्ण १२) ::—

महासुखसागर आगर ज्ञान, अनंतसुखामृतभुक्त महान।
महाबलमंडित खंडितकाम, रमाशिवसंग सदा विसराम

॥ २ ॥ सुरिंद फनिंद खनिंद नरिंद, मुनिंद जजैं नित पादरविंद ॥ प्रभू तुव अन्तरभाव विराग। सुबालहितें व्रत-शीलसों राग ॥ ३ ॥ कियो नहिं राज उदाससरूप। सुभावन भावत आतमरूप ॥ अनित्य शरीर प्रपंच समस्त। चिदातम नित्य सुखाश्रित वस्त ॥ ४ ॥ अशर्न नहीं कोउ शर्न सहाय। जहां जिय भोगत कर्मविपाय ॥ निजातमकै परमेसुर शर्न। नहीं इनके बिन आपदहर्न ॥ ५ ॥ जगत्त जथा जलबुद्बुद येव। सदा जिय एक लहै फलभेव ॥ अनेक प्रकार धरी यह देह। भमें भवकानन आन न नेह ॥ ६ ॥ अपावन सात कुधात भरीय। चिदातम शुद्धसुभाव धरीय ॥ धरै इनसौं जब नेह तबेव। सुआवत कर्म तबै वसुभेव ॥ ७ ॥ जबै तनभोगजगत्तउदास। धरैं तब संवर निर्जरआस ॥ करै जब कर्मकलङ्क विनाश। धरैं तब मोक्ष महासुखराश ॥ ८ ॥ तथा यह लोक नराकृत नित्त। विलोकियते षट्द्रव्यविचित्त ॥ सुआतमजानन बोधविहीन। धरै किन तत्त्वप्रतीत प्रवीन ॥ ९ ॥ जिनागमज्ञानरु संजम-भाव। सबै निजज्ञान विना विरसाव ॥ सुदुर्लभ द्रव्य सुक्षेत्र सुकाल। सुभाव सबै जिहतें शिवहाल ॥ १० ॥ लयो सब जोग सुपुन्य वशाय। कहो किमि दीजिय ताहि गँवाय ॥ विचारत यों लवकांतिक आय। नमें पदपंकज पुष्प चढ़ाय ॥ ११ ॥ कह्यो प्रभु धन्य कियो सुविचार। प्रबोधि सु येम

कियो जु विहार ॥ तबै सवधर्मतनों[1] हरि आय । रच्यौ शिविका चढ़ि आप जिनाय ॥ १२ ॥ धरे तप पाय सुकेवलबोध । दियो उपदेश सुभव्य सँबोध ॥ लियो फिर मोच्छ महासुखराश । नमैं नित भक्त सोई सुखआश ॥१३॥

—:: घत्तानद ::—

नित वासववंदत, पापनिकंदत, वासपूज्य व्रतब्रह्मपती ।
भवसंकलखंडित, आनँदमंडित, जै जै जै जैवंत जती ॥१४॥

ॐ ह्री श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥१४॥

—:: सोरठा छन्द ::—

वासपूजपद सार, जजौं दरवविधि भावसों ।
सो पावै सुखसार, भुक्ति मुक्तिको जो परम ॥१५॥

इत्याशीर्वाद: पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्

❀ इति श्रीवासुपूज्य जिनपूजा समाप्त ❀

अथ शांतिपाठ भाषा

—:. चौपाई (१६ मात्रा) ::—

शांतिनाथ मुख शशि उनहारी, शीलगुणव्रतसंयमधारी ॥
लखन एकसौ आठ विराजैं, निरखत नयन कमलदल लाजैं।१
पंचम चक्रवर्तिपदधारी, सोलम तीर्थंकर सुखकारी ॥
इंद्रनरेन्द्रपूज्य जिननायक, नमों शांतिहित शांतिविधायक।२।
दिव्य विटप पहुपनकी वरषा, दुंदुभि आसन वाणी सरसा ॥

१. सौधर्मस्वर्गका इन्द्र ।

छत्र चमर भामंडल भारी, ये तुव प्रातिहार्य मनहारी ॥३॥
शांति जिनेश शांतिसुखदाई, जगतपूज्य पूजौं शिरनाई ॥
परम शांति दीजै हम सबको, पढ़ैं तिन्हें, पुनिचारसंघको ।४

—:: वसंततिलका ::—

पूजैं जिन्हैं मुकुट हार किरीट लाकें।
इन्द्रादिदेव अरु पूज्य पदाब्ज जाकें ॥
सो शांतिनाथ वर वंशजगत्प्रदीप ।
मेरे लिये करहिं शांति सदा अनूप ॥५॥

—:: इन्द्रवज्रा ::—

संपूजकोंको प्रतिपालकोंको, यतीनको औ यतिनायकोंको;
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेशको ले, कीजे सुखी हे जिन शांतिको दे ।६

—:: स्रग्धरा ::—

होवै सारी प्रजाको सुख, बलयुत हो धर्मधारी नरेशा ।
होवै वर्षा समैपै तिलभर न रहै व्याधियोंका अँदेशा ॥
होवै चोरी न जारी सुसमय वरतै, हो न दुष्काल भारी ।
सारे ही देश धारैं जिनवर-वृषको जो सदा सौख्यकारी ॥७॥

—:: दोहा ::—

घातिकर्म जिन नाशकरि, पायो केवलराज ।
शांति करो सब जगतमें, वृषभादिक जिनराज ॥

—:: मंदाक्रांता ::—

शास्त्रोंका हो पठन सुखदा, लाभ सत्संगतीका ।
सद्वृत्तोंका सुजस कहके, दोष ढाँकूं सभीका ॥

बोलूं प्यारे वचन हितके, आपकौ रूप ध्याऊं।
तोलौं सेऊँ चरण जिनके, मोक्ष जौलौं न पाऊं॥

—:: आर्या ::—

तवपद मेरे हियमें, मम हिय तेरे पुनीत चरणों में।
तवलौं लीन रहो प्रभु, जवलौं पाया न मुक्तिपद मैंने॥
अक्षरपद मात्रासे, दूषित जो कछु कहा गया मुझसे।
क्षमा करो प्रभु सो सब करुणाकरि पुनि छुड़ाउ भवदुखसे॥
हे जगबंधु जिनेश्वर, पाऊं तव चरण शरण बलिहारी।
मरणसमाधि, सुदुर्लभ, कर्मोंका क्षय सुबोध सुखकारी॥

(परिपुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

❀ अथ विसर्जन पाठ ❀

—:: दोहा ::—

विन जाने वा जानके, रही टूट जो कोय।
तुव प्रसादतैं परमगुरु, सो सब पूरन होय॥ १॥
पूजनविधि जान्यो नहीं, नहिं जान्यो आह्वान।
और विसर्जन हू नहीं, क्षमा करो भगवान॥२॥
मंत्रहीन धनहीन हूँ, क्रियाहीन जिनदेव।
क्षमा करहु राखहु मुझे, देहु चरणकी सेव॥३॥
आये जो जो देवगन, पूजे भक्तिप्रमान।
सो अब जावहु कृपाकर, अपने अपने थान॥४॥

—:: (१) राग काफी ::—

प्रभूपै यह वरदान सुपाऊं,
फिर जगजीचबीच नहिं आऊं ।टेक।

जल गंधाक्षत पुष्प सुमोदक,
दीप धूप फल सुन्दर ल्याऊँ ।
आनँद्जनक कनकभाजन धरि,
अर्घ अनर्घ बनाय चढाऊँ। प्र० ।१।

आगमके अभ्यासमाहिं पुनि,
चित एकाग्र सदैव लगाऊँ ।
संतनकी संगति तजिकै मैं,
अंत कहूँ इक छिन नहिं जाऊं।प्र० ।।२।।

दोषवादमें मौन रहूँ फिर,
पुण्यपुरुषगुन निशिदिन गाऊँ ।
मिष्ट स्पष्ट सबहीसों भाषौं,
वीतराग निज भाव बढाऊँ।। प्र० ।।३।।

बाहिजदृष्टि ऐंचके अन्तर,
परमानन्द स्वरूप लखाऊँ ।
भागचन्द शिवप्राप्त, न जौलौं,
तौलौं तुम चरनांबुज ध्याऊं ।।प्र० ।।४।।

सर्वज्ञ-स्तुति

--:: वसन्ततिलका ::--

अंकुर एक [1]नथी मोह [2]तणो रह्यो ज्यां,
अज्ञान-अंश [3]वली भस्मरूपे [4]थयो ज्यां;
आनंद, ज्ञान निजवीर्य अनन्त [5]छे ज्यां,
त्यां स्थान मांगुं—जिनना चरणांबुजोमां।

अर्थ—जहां मोहका एक अंकुर नहीं रहा, जहां अज्ञानांश जलकर भस्म हुआ; जहां अनन्त आनंद, ज्ञान, वीर्य है, वहां—जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंमें स्थान मांगता हूँ।

[6]जे आभामां जगत [7]आ परमाणुतुल्य,
[8]ते अंनहीन नभनुं [9]जहीं पूर्ण ज्ञान;
[10]सौ द्रव्यना युगपदे त्रण काल जाणे,
ते नाथने नमन हो [11]मुंज नम्र भावे।

अर्थ—जिस प्रकाशमें यह जगत परमाणु तुल्य है, उस अनंताकाशका जिसको पूर्ण ज्ञान है; सब द्रव्योंको युगपत् त्रिकाल जानता है, ऐसे उस भगवानको मेरा नम्र भावसे नमस्कार हो।

दैवी [12]समोसरणमां नहिं राग किंचित्,
धूलि मलिन पर [13]ज्यां नहि द्वेष किंचित्;

१. नहीं, २. का, ३. जलकर, ४. हुआ, ५. है। ६. जिस, ७. यह, ८. उस, ९. जहांपर (जिसको) १०. सब, ११. मेरा, हमारा। १२. मे, १३. जहां।

धूलि समोसरण केवल ज्ञेय [1]जेमां,
ते ज्ञानने नमन हो जिनजी ! [2]अमारा।

अर्थ—देव निर्मित समवशरणमें किंचित् राग नहीं है, कर्माच्छादित पर जहां किंचित् द्वेष नहीं है, किन्तु जिसमें मात्र ज्ञेय (ज्ञानके विषय) हैं ऐसे उस ज्ञान को हे जिनेन्द्रदेव ! हमारा नमस्कार हो।

—:: शिखरिणी ::—

भले [3]सो इन्द्रोना तुज चरण मां शिर नमता,
भले इन्द्राणी ना रतनमय स्वस्तिक बनता;
नथी [4]ए ज्ञेयोमां [5]तुज परिणति सन्मुख जरा,
स्वरूपे डूबेला, नमन [6]तुजने ओ जिनवरा !

अर्थ—चाहे तुम्हारे चरणों में सौ इन्द्रोंके मस्तिष्क नमते हों, चाहे इन्द्राणीका रत्नमय स्वस्तिक बनता हो, किन्तु तुम्हारी इन ज्ञेयोंकी ओर थोड़ी भी परिणति नहीं है, स्वरूपावस्थित हे जिनेन्द्र ! तुम्हें नमस्कार है।

—:: वसंततिलका ::—

जगना अगाध तिमरे प्रभु ! सूर्य तूं छे,
अज्ञान-अंध जगनु प्रभु ! नेत्र तूं छे;
भवसागरे पतितनुं प्रभु ! नाव तूं छे,
माता, पिता, गुरु, जिनेश्वर ! सर्व तूं छे।

१. जिसमें। २. हमारा। ३. सौ, शत। ४. इन। ५. तेरी तुम्हारी। ६. तुम्हें, तुझे, तुमको।

अर्थ—प्रभु ! जगके गाढ़ अंधकारमें तू सूर्य है, प्रभु ! अज्ञानांध जगका तू नेत्र है, प्रभु ! भवसागरमें पतितोंके लिये तू नौका है, माता, पिता, गुरु आदि सब, जिनेश्वर ! तू है।

तीर्थंकरो जगतना जयवंत वर्तो,
ॐकारनाद जिननो जयवंत वर्तो;
जिनना समोसरण[1] सौ जयवंत वर्तो
ने [2]तीर्थचार जगमां जयवंत वर्तो।

अर्थ—जगतके तीर्थंकर जयवन्ते रहें, जिनेन्द्रका ओंकारनाद (ओंकारध्वनि) जयवन्त रहे; जिनेन्द्रके समवशरण जयवन्त रहें, और जगतमें जिनधर्म जयवन्त रहे।

—:: (अनुष्टुप) ::—

समोसर्ण जिनेश्वर नुं. शास्त्रमां बहु [3]वर्णव्युं;
परन्तु [4]ए महार्णवनुं, बिंदुमात्र [5]तहीं कह्युं।

अर्थ—जिनेश्वर के समवशरण का शास्त्रों में बहुत वर्णन किया है, परन्तु इस (समवशरणरूप) महासागर का बिन्दु मात्र वहां (शास्त्रों में) कहा है।

---

१. सब। २. जिनधर्म (जैनमार्ग)। ३. वर्णित किया है। ४. इस। ५. वहां।

बिना [1]जोये न समजाये, समोसर्ण जिनेशनुं;
भरते भाग्य न आ काले, महा भाग्य विदेहीनुं।

अर्थ—जिनेन्द्र का समवशरण बिना देखे समझमें नहीं आसकता, इस कालमें भरत क्षेत्रमें कोई भाग्यवान नहीं है, भाग्यशाली तो विदेह क्षेत्र वासी हैं।

—::(वंसततिलका)::—

जिनना समोसरणनुं अहीं भाग्य छे ना,
दिव्यध्वनि श्रवणनुं पण भाग्य छे ना;
तोये सीमंधर अने वीरना ध्वनिना,
[2]पडघा सुणाय मधुरा [3]हजु आगमोमां।

अर्थ—जिनेन्द्र के समवशरण भी भाग्यसे यहां नहीं हैं, दिव्यध्वनि सुननेका भी भाग्य नहीं है, तो भी सीमंधर और वीर जिन की वाणीकी प्रतिध्वनि शास्त्रोंमें सुनते हैं।

१. देखे। २. प्रतिध्वनि। ३. अब भी।

—:::: श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० २० ::::—

वैराग्य पाठ संग्रह
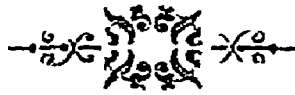
वैराग्य आदि विषय के चुने हुये

पद्य, पाठ, भजन, स्तोत्र

—::: आदिका अपूर्व संकलन :::—

सम्पादकः—

श्री पं० श्रेयांसकुमारजी जैन शास्त्री, न्यायतीर्थ

— श्री -

प्रकाशकीय

आज हमें यह अपूर्व सुंदर संग्रह ग्रंथ प्रकाशन करते हुए हर्ष हो रहा है, यों तो अभी समाजमें अनेकों संग्रह ग्रंथ बहुत काफी मात्रामे प्रचलित हैं, लेकिन यह उन सबसे ही अपनी अपूर्वता रखता है, अध्यात्मरसिक मुमुक्षुके लिये यह पुस्तक एक प्रकारकी गाइड बुकके रूपमें काम आवेगी, अपने समयका सदुपयोग करनेके लिये इसमें भक्ति, पूजा, वैराग्य, अध्यात्म आदि विषयोंके अनेक चुने हुए छोटे २ पद्य, पाठ, भजन, स्तोत्र आदि भी हैं तो अनेक बड़े २ समयसार, प्रवचनसार जैसे महान् ग्रंथराजोंका सरल पद्यानुवाद भी है ताकि हरएक मुमुक्षु अपनी २ रुचिके अनुसार सब प्रकारकी सामग्री इसमें प्राप्त करके समयका पूर्ण उपयोग कर सके।

मेरी बहुत समयसे ऐसी इच्छा थी कि एक ऐसे ग्रंथका संग्रह करके प्रकाशन किया जावे कारण अध्यात्मरसिक पुरुषके लिये अपनी रुचिके अनुकूल सामग्री इकट्ठी करनेके लिये अनेकों पुस्तकोंको टटोलना पड़ता था और उन सबको अपने साथ २ रखना असंभव जैसा ही था। अतः यह एक ऐसी पुस्तक होगी जिस एक ही में मुमुक्षु अपनी रुचिके अनुसार सर्व प्रकारकी सामग्री प्राप्त कर सकेगा।

इसके संग्रह करनेमें बहुत समय व परिश्रम उठाना पड़ा है। अनेक ग्रंथोंको चुन २ कर मैंने श्री पं० श्रेयांसकुमारजी को दिये और

उनमें से [illegible] २ देख २ ढूंढ़ २ कर विशेष हृदयग्राही पद्य स्तोत्र पाठ भजन आदि [illegible] संग्रह किया और फिर हम दोनों ने बैठकर उनको [illegible] उनमें से भी छांटे तथा उनके विषयको देखते हुए उनको ३ प्रकरणोंमें विभक्त किया।

(१) पहला भक्ति प्रकरण है इसमें जो २ पद्य आदि देव, शास्त्र, गुरु आदिकी भक्ति, वंदना, पूजन आदिकी मुख्यता वाले थे उनको इस प्रकरणमें लिया गया है।

(२) दूसरे वैराग्य प्रकरणमें संसार, देह, भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न करानेकी मुख्यता वाले पद्यादिको का संग्रह है।

(३) तीसरे अध्यात्म प्रकरणमें अपनी आत्माके समीप पहुंचाने की मुख्यता वाले एवं तात्विक विषयके अनेक पद्य, स्तोत्र एवं ग्रंथादिका संग्रह है।

उपरोक्त प्रकरणोंमें कई स्थानो पर संस्कृत श्लोक भी संग्रह किये गये हैं लेकिन समझने में सरलता हो इसलिये सबकी हिंदी भाषामे टीका भी साथकी साथ लगा दी गई है। इस ग्रंथमें आये हुए अनेक पद्यादिको की कविके नाम सहित एक २ पद्यकी प्रथम चरणकी सूची बनवाकर लगादी गई है. ताकि किसी भी विषयके किसी भी कविके किसी भी पद्यको ढूंढनेमें कोई असुविधा न हो। तथा प्रत्येक कविके द्वारा रचित कविता स्तोत्र आदि किन किन पृष्ठोंपर छपे है इसकी भी सूची बनवाकर लगादी गई है। इस ग्रंथकी ५०० प्रतियोंका तो तीनों प्रकरणोंका एक पुस्तकके रूपमे प्रकाशन किया गया

है तथा ५०० प्रतियोंका हरएक प्रकरणका एक २ अलग २ पुस्तकके रूपमें प्रकाशन किया है ताकि जिज्ञासुओंको सुविधा रहे।

इस ग्रंथके तीनों प्रकरणोंमें ३३ आचार्यों व कवियों की ५४ पुस्तकों में से ८०५ स्तोत्र आदिका पत्र संख्या ७७५ में संग्रह किया गया है, इसमें बहुत सी पुस्तकें जैसे दौलत विलास, ब्रह्म विलास आदिके इसी प्रकार अमृतचंद्राचार्यके समयसार पर रचे गये कलश, बनारसीदासजी द्वारा रचित समयसार कलशोंका पद्यानुवाद आदिको पूराका पूरा इस ग्रंथमें नहीं लिया गया है, बल्कि उनमें से चुन २ कर खास २ पद्यादि ही पुस्तकका आकार बहुत बढ़ जानेके भयसे लिये गये है अतः जो पाठक विशेष रुचिवान हों, वे विशेष अध्ययनके लिये उन ग्रंथराजों की स्वाध्याय करें।

अंतमें मैं संग्रहके कर्ता श्री पं० श्रेयांसकुमारजी शास्त्रीको उनके परिश्रमकी सराहना करते हुए धन्यवाद देता हूँ तथा प्रेसके मैनेजर बाबू नेमीचंदजी बाकलीवाल भी धन्यवादके पात्र हैं।

इस ग्रंथके छपनेमे कुछ अशुद्धियां रह गई हैं उसके लिये हम पाठकोंसे क्षमा मांगते है तथा निवेदन करते हैं कि वे शुद्धिपत्र द्वारा शुद्ध करके ग्रंथका उपयोग करें।

भवदीयः—

नेमीचंद पाटनी

प्रधानमंत्री

श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट

मारोठ (मारवाड़)

कवि-सूची

प्रत्येक आचार्य व कवि की रचनाएं किन किन पृष्ठों पर हैं

— उनकी सूची —

❀ ॐ ❀

विषय सूची

वैराग्य प्रकरण पृष्ठ १४२ से ३२३

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ

आध्यात्मिक पाठ संग्रह

वैराग्य प्रकरण

दौलत-विलास

—:: २९ :—

हे मन तेरी को कुटेव यह, [1]करनविषयमें धावै है ।.हे०॥टेक॥
इनहीके वश तू अनादितैं निजस्वरूप न लखावै है ।
पराधीन छिन छीन समाकुल, दुर्गति विपति चखावै है ।हे०।१
फरस विषयमें कारन [2]बारन, [3]गरत परत दुख पावै है ।
रसनाइन्द्रीवश [4]झष जलमें कंटक कंठ छिदावै है ॥हे०॥२॥
गंधलोल [5]पंकजमुद्रितमें, अलि निज प्रान खपावै है ।
नयनविषयवश दीपशिखामें, अंग पतंग जरावै है ॥हे०॥३॥
[6]करनविषयवश हिरन [7]अरनमें, खलकर प्रान लुनावै है ।
दौलत तज इनको जिनको भज, यह गुरु सीख सुनावै है॥४

—:: ३० ::—

मान ले या सिख मोरी, झुकै मत भोगन ओरी ॥मान०॥
भोग [8]भुजंगभोगसम जानो, जिन इनसे रति जोरी ।

---

१. इन्द्रियोंके विषयमें । २ हाथी । ३. गढ़ेमें पड़कर । ४. मछली । ५ बंदकमलोंमें । ६. कानके विषयसे । ७. वनमें । ८ सर्पके फणके समान ।

अनंत भव भीम भरे दुख, परे अधोगति [२]पोरी,
बंधे दृढ़ [३]पातक डोरी ॥ मान० ॥१॥
तको त्याग विरागी जे जन, भये ज्ञानवृषधोरी।
न सुख लह्यौ अचल अविनाशी, भवफांसी दई तोरी,
रमै तिन सँग शिवगोरी ॥मान०॥२॥
ोगनकी अभिलाष हरनको, त्रिजगसंपदा थोरी।
ातैं ज्ञानानन्द दौल अब, पियौ पियूष कटोरी,
मिटै भवव्याधि कठोरी ॥मान०॥ ३ ॥

—:: ३१ ::—

छांड़ि दे या बुधि भोरी, वृथा तनसे रति जोरी।छांड़ि०टेक।
यह पर है न रहै थिर पोषत, सकल कुमलकी झोरी।
यासौं ममताकर अनादितैं, बंधो कर्मकी डोरी,
सहै दुख [४]जलधि हिलोरी।छांड़ि०।१।
यह जड़ है तू चेतन यौं ही, अपनावत बरजोरी।
सम्यकदर्शन ज्ञान चरण निधि, ये हैं संपत तोरी,
सदा विलसौ [५]शिवगोरी ॥छांड़ि०॥२॥
सुखिया भये सदीव जीव जिन, यासौं ममता तोरी।
दौल सीख यह लीजे पीजे, [६]ज्ञानपियूष कटोरी,
मिटै परचाह कठोरी ॥ छांड़ि० ॥ ३ ॥

१. भयानक २. पौर (पैड़ी, सीढ़ी या ड्योढ़ी) ३. पापकी डोरसे। ४. समुद्र। ५. मुक्ति लक्ष्मी। निष्कलङ्क निरञ्जन मुक्तात्मा का अनन्त सुख। ६. ज्ञानरूपी अमृत।

—:: ३५ :—

तोहि समझायो सौ सौ वार, जिया तोहि समझायो० ।टेक।
देख सुगुरुकी परहितमे रति, हित उपदेश सुनायो ।।सो०।।
[1]विषय भुजंग सेय सुख पायो पुनि तिनसौं लपटायो ।
स्वपदविसार रच्यौ परपदमें, [2]मदरत ज्यौं बौरायो ।।सो०।।
तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो ।
क्यों न तजे भ्रम [3]चाखसमामृत, जो नित संत सुहायो ।
अवहूँ समझ कठिन यह नरभव [4]जिन [5]वृष विना गमायो
ते विलखैं मनि डार उदधिमें, दौलतको पछतायो ।।सो०।

—:: ३६ :—

हे नर, भ्रमनींद क्यों न, छांड़त दुखदाई ।
सेवत चिरकाल सोंज, आपनी ठगाई ।। हे नर० ।। टेक ।।
[6]मूरख अघ कर्म कहा, भेदै नहिं मर्म लहा ।
लागै दुखज्वालकी न, देहकै तताई ।। हे नर० ।। १ ।।
जमके रव वाजते, सुभैख अति गाजते ।
अनेक प्रान त्यागते, सुनै कहा न भाई ।। हे नर० ।। २ ।।
परको अपनाय आप; रूपको भुलाय हाय ।
करनविषय दारु जार, चाहदौं वढ़ाई ।। हे नर० ।। ३ ।।

---

१. विषयरूपी सर्प । २ शराबी । ३. समतारूपी अमृत ।
४. जिन्होने । ५. धर्म । ६. 'मुग्दर अघ करम खान' 'भेदै नहि मरमथान' ऐसा भी पाठ है ।

अब सुन जिनवान, राग द्वेषको जघान,
मोक्षरूप निज पिछान दौल, भज विरागताई ।।हे नर०।।४।।

—:: ३७ ::—

न मानत यह जिय निपट अनारी ।
सिख देत सुगुरु हितकारी ।। न मानत० ।। टेक ।।
कुमति कुनारि संग रति मानत, सुमतिसुनारि बिसारी ।।१।।
नर परजाय सुरेश चहैं सो, तजि विषविषय बिगारी ।
त्याग अनाकुल ज्ञान चाह पर[1]-आकुलता विसतारी ।।२।।
अपना भूल आप समतानिधि, भवदुख भरत भिखारी ।
परद्रव्यनकी परनतिको शठ, वृथा बनत करतारी[2] ।। ३ ।।
जिस कषाय-दव जरत तहां अभिलाष छटा घृत डारी ।
दुखसौं डरै करै दुखकारन,—तैं नित प्रीति करारी[3] ।। ४ ।।
अति दुर्लभ जिनवैन श्रवन करि, संशय मोह निवारी ।
दौल स्वपर-हित अहित जानके, होवहु शिवमगचारी[4] ।।५।।

—:: ३९ ::—

अरे जिया, जग धोखेकी टाटी ।। अरे० ।।टेक।।
झूठा उद्यम लोक करत हैं, जिसमें निशदिन घाटी ।। १ ।।
जानबूझके अन्ध बने हैं, आंखन बांधी पाटी ।। २ ।।
निकल जांयगे प्राण छिनकमें, पड़ी रहैगी माटी ।। ३ ।।
दौलतराम समझ मन अपने, दिलकी खोल कपाटी ।। ४ ।।

१. पुद्गल संबंधी । २. कर्त्ता । ३. गाढ़ी । ४. मोक्षमार्गी ।

—:: ४८ ::—

और सबै जगद्वन्द मिटावो, लो लावो जिन आगम-ओरी ॥और०॥टेक॥ है असार जगद्वन्द बन्धकर, यह कछु गरज न सारत तोरी। कमला[1] चपला[2], यौवन सुरधनु[3], स्वजन पथिकजन क्यों रति जोरी ॥१॥ विषय कषाय दुखद दोनों ये, इनतैं तोर नेहकी डोरी। परद्रव्यनको तू अपनावत, क्यों न तजे ऐसी बुधि भोरी ॥२॥ बीत जाय सागरथिति सुरकी, नरपरजायतनी अति थोरी। अवसर पाय दौल अब चूको, फिर न मिलै मणि सागर-बोरी ॥और०॥३॥

—:: ४९ ::—

चेतन यह बुधि कौन सयानी, कही सुगुरु हित सीख न मानी ॥टेक॥ कठिन काकताली[4] ज्यौं पायौ, नरभव सुकल श्रवण जिनवानी ॥१॥ भूमि न होत चांदनीकी ज्यौं त्यौं नहिं धनी ज्ञेयको ज्ञानी। वस्तुरूप यौं तू यौं ही शठ हटकर पकरत सोंज विरानी ॥२॥ ज्ञानी होय अज्ञान राग रुष-कर निज सहज स्वच्छता हानी। इन्द्रिय जड़ तिन विषय अचेतन, तहां अनिष्ट इष्टता ठानी ॥३॥ चाहै

१. लक्ष्मी। २. बिजली। ३. इन्द्रधनुष। ४. काकतालीय न्यायसे अर्थात् जैसे ताड़वृक्षसे ताड़फलका टूटना और कागका उसे आकाशमें ही पा लेना कठिन है वैसे।

सुख, दुख ही अवगाहै, अब सुनि विधि जो है सुखदानी।
दौल आपकरि आप आपमैं, ध्याय लाय समरसरस-
सानी ॥ ४ ॥

—: ५९ :—

राचि रह्यो परमाहिं तू अपनो रूप न जानै रे ॥ टेक ॥
अविचल चिनमूरत विनमूरत, सुखी होत तस ठानै रे ॥१॥
तन धन भ्रात तात सुत जननी, तू इनको निज जानै रे।
ये पर इनहिं वियोगयोगमें यौं ही सुख दुख मानै रे ॥२॥
चाह न पाये पाये तृष्णा, सेवत ज्ञान जघानै रे।
विपति खेत विधिबंधहेत पै, जान विषय रस खानै रे ॥३॥
नरभव जिनश्रुतश्रवण पाय अब, कर निज सुहित सयानै रे।
दौलत आतम ज्ञान सुधारस, पीवो सुगुरु बखानै रे ॥४॥

—: ६६ :—

निजहितकारज करना भाई! निजहित कारज करना ॥टेक॥
जनममरनदुख पावत जातैं, सो विधिबंध[1] कतरना ॥१॥
ज्ञानदरस अर राग फरस रस, निजपरचिह्न भ्रमरना।
संधिभेद बुधिछैनीतैं[2] कर, निज गहि पर परिहरना ॥२॥
परिग्रही[3] अपराधी शंकै, त्यागी अभय विचरना।

---

१. कर्मबंध। २. बुद्धिरूपी छैनीसे निज और परका संधिभेद करना। ३. परिग्रहका धारी तथा परकी वस्तु ग्रहण करनेवाला चोर।

त्यौं परचाह बंध दुखदायक, त्यागत सबसुख भरना ॥३॥
जो भवभ्रमन न चाहे तो अब, सुगुरु सीख उर धरना ।
दौलत स्वरस सुधारस चाखो, ज्यौं विनसै भवमग्ना ॥४॥

—:: ७४ ::—

हो तुम शठ अविचारी जियरा, जिनवृष[1] पाय वृथा खोवत हो ॥टेक॥ पी अनादि मदमोहस्वगुननिधि, भूल अचेत नींद सोवत हो ॥१॥ स्वहित सीखवच सुगुरु पुकारत, क्यों न खोल[3]उर-दृग जोवत हो । ज्ञान विसार विषयविष चाखत, सुरतरु[4] जारि कनक[5] बोवत हो ॥२॥ स्वारथ सगे सफल जनकारन, क्यों निज पापभार ढोवत हो । नरभव सुकुल जैनवृष नौका, लहि निज क्यों भवजल डोवत हो ॥ ३ ॥ पुण्यपापफल वातव्याधिवश छिनमें हँसत छिनक रोवत हो । संयमसलिल लेय निज उरके, कलिमल क्यों न दौल धोवत हो ॥४॥

—:: ७६ ::—

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ,
ज्यौं शुक[6] नभचाल[7] विसरि नलिनी[8] लटकायो ॥टेक॥

१. जिनधर्म। २ मोहरूपी शराब। ३. हियेकी आँखे। ४. कल्पवृक्षको जलाकर। ५. धतूरा। ६. तोता। ७. चिड़ीमार या बहेलियोके गिर्रीदार 'कम्पा' मे ऊपर लगी हुई गिर्री। ८ आकाश (उड़ने) की चाल।

चेतन अविरुद्ध शुद्ध दरशबोधमय विशुद्ध,
तजि जड़-रस फरस रूप, पुद्गल अपनायौ ॥१॥
इन्द्रियसुख दुखमें नित्त, पाग रागरुखमें[1] चित्त,
दायक भवविपतिवृन्द, बन्धको बढायौ ॥२॥
चाह दाह दाहै, त्यागौ न ताह चाहै,
समतासुधा न गाहै जिन, निकट जो बतायौ ॥३॥
मानुषभव सुकुल पाय, जिनवरशासन लहाय,
दौल निजस्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायौ ॥४॥

—:: ७७ ::—

हम तो कबहूँ न हित उपजाये ।
सुकुल-सुदेव-सुगुरु-सुसंग हित, कारन पाय गमाये ॥टेक॥
ज्यों शिशु नाचत, आप न माचत[2] लखनहार बौराये ।
त्यों श्रुतवांचत[3] आप न राचत, औरनको समुझाये ॥१॥
सुजस-लाहकी[4] चाह न तज निज, प्रभुता लखि हरखाये ।
विषय तजे न रजे[5] निज पदमें, परपद अपद लुभाये ॥२॥
पापत्याग निज-जाप[6] न कीन्हौं, सुमनचाप[7]-तप ताये ।
चेतन तनको[8] कहत भिन्न पर, देह सनेही थाये ॥३॥

---

१ राग-द्वेष । २ मग्न होता है । ३ शास्त्र पढ़ते हैं । ४ सुयश के लाभकी । ५ मग्न हुये । ६ आत्माका जाप । "जिन-जाप" ऐसा भी पाठ है ('जिनदेवका जाप')। ७ काम-दुःखसे दुखी हुये । ८ शरीर ।

यह चिर भूल भई हमरी अब कहा होत पछताये।
दौल अजौं भवभोग रचौ मत, यौं गुरु वचन सुनाये ॥४॥

—:: ५२ ::—

मत कीजौ जी यारी, ये भोगभुजग[1] सम जानके ॥मत०॥टेक
भुजग डसत इक वार नसत है ये अनंत मृतुकारी[2]।
तिसना तृषा बढ़ै इन सेयें, ज्यों पीये जल खारी ॥मत०॥१॥
रोग वियोग शोक वनको घन[3], समतालताकुठारी[4]।
केहरि[5] करि[6] अरिहु[7] न देत ज्यों, त्यों ये दें दुख भारी ॥२॥
इनमें रचे देव तरु[8] थाये, पाये श्वभ्र[9] मुरारी[10]।
जे विरचे[11] ते सुरपति[12] अरचे, परचे सुख अविकारी ॥३॥
पराधीन छिनमाहिं छीन है पापबंधकरतारी।
इन्हैं गिन्नै सुख आक मांहि तिन, आमतनी बुधि धारी ॥४॥
मीन[13] मतंग[14] पतंग भृङ्ग[15] मृग, इन वश भये दुखारी।
सेवत ज्यों किंपाक ललित, परिपाक समय दुखकारी ॥५॥
सुरपति नरपति खगपतिहूकी[16], भोग न आस निवारी।
दौल त्याग अब भज विराग सुख, ज्यों पावै शिवनारी ॥६॥

---

१ सर्प। २ मृत्युके देनेवाले। ३ बादल। ४ समतारूपी वेलके काटनेको कुल्हाड़ी। ५ सिंह। ६ हाथी। ७ शत्रु। ८ वृक्ष (वनस्पति हुए)। ९ नरक। १० नारायण। ११ वैरागी हुये। १२ इन्द्र पूजा करते हैं। १३ मछली। १४ हाथी। १५ भ्रमर। १६ विद्याधर।

—:: ५६ ::—

मत कीजौ जी यारी, घिनगेह[1] देह जड़ जानिके ॥टेक॥
मात-तात रज-वीरजसौं यह, उपजी मलफुलवारी।
अस्थिमाल[2]-पल-नसा-जालकी, लाल लाल जल क्यारी ॥१॥
कर्मकुरंगथलीपुतली[3] यह, मूत्रपुरीष[4] भँडारी।
चर्ममँड़ी रिपुकर्मघड़ी धन,-धर्म चुरावनहारी ॥ २ ॥
जे जेपावन वस्तु जगतमें, ते इन सर्व बिगारी।
स्वेद[5] मेद[6] कफक्लेद[7] मयी बहु, मदगदव्यालपिटारी[8] ॥३॥
जा संयोग रोगभव[9] तौलौं, जा वियोग शिवकारी।
बुध तासौं न ममत्व करैं यह, मूढ़ मतिनको प्यारी ॥४॥
जिनपोषी ते भये सदोषी, तिन पाये दुख भारी।
जिन तप ठान ध्यानकर शोषी[10], तिन परनी शिवनारी ॥५॥
सुरधनु[11] शरदजलद[12] जलबुदबुद, त्यौं झट विनशनहारी।
यातैं भिन्न जान निज चेतन, दौल होहु शमधारी[13] ॥६॥

—:: ५९ ::—

लखौ जी या जियभोरेकी बातैं, नित करत अहित हित घातैं ॥टेक॥ जिन गनधर मुनि देशव्रती समकिती

१ घृणाका घर। २ हाड़-मांस-नसोंके समूहकी। ३ कर्मरूपी हिरनोंको फँसानेवाली जगह पर पुतलीके समान। ४ मूत्र और विष्टाका घर। ५ पसीना। ६ चरबी। ७ दुःख। ८ मद-रोगरूपी साँपके लिये पिटारी। ९ संसाररूपी रोग। १० क्षीणकी ११ इन्द्रधनुप। १२ शरदऋतुके बादल। १३ समताके धारी।

सुखी नित जातैं । सो पय ज्ञान न पान करत न अघात[1]
विषयवश खातैं ॥१॥ दुखस्वरूप दुखफलद[2] जलदसम[3],
टिकत न छिनक विलातैं । तजत न जगत न भजत पतित
नित, रचत न फिरत तहाँतैं ॥२॥ देह-गेह-धन-नेह ठान
अति, अघ संचत दिन रातैं । कुगति विपतिफलकी न भीत
निश्चित प्रमाददशातैं ॥३॥ कबहुँ न होय आपनो पर,
द्रव्यादि पृथक चतुधा [4]तैं अपनाय लहत दुख शठ नभ[5]-
हतन चलावत लातैं ॥४॥ शिवगृहद्वार सार नरभव यह,
लहि दश दुर्लभतातैं । खोवत ज्यों मनि काग उड़ावत,
रोवत रंकपनातैं ॥५॥ चिदानंद निर्द्वन्द स्वपद तज, अपद-
विपद-पद[6] रातैं । कहत सुशिख गुरु गहत नहीं उर,
चहत न सुख समतातैं ॥६॥ जैनबैन सुन भवि बहु भवहर,
छूटे द्वंददशातैं । तिनकी सुकथा सुनत न गुनत[7] न, आतम-
बोधकलातैं ॥७॥ जे जन समुझि ज्ञानदृगचारित, पावन
पयवर्षातैं । तापविमोह हर्यौ तिनको जस, दौल त्रिभौन
विख्यातैं ॥८॥

—:: ६० ::—

सुनो जिया ये सतगुरुकी बातैं, हित कहत दयाल

---

१ तृप्त होता है । २ दुखरूप फल देने वाला । ३ बादलके समान । ४ स्वचतुष्टयसे । ५ आकाशके घात करने को । ६ विपत्ति स्थानमें लीन । ७ मनन नहीं करता ।

दयातैं ।सु०।टेक। यह तन आन अचेतन है तू, चेतन मिलत न यातैं । तदपि पिछान एक आतमको, तजत न हठ शठ-तातैं ॥१॥ चहुँगति फिरत भरत ममताको, विषय महाविष खातैं । तदपि न तजत न रजत[1] अभागे, दृगव्रत[2] बुद्धि-सुधातैं ॥२॥ मात तात सुत भ्रात स्वजन तुझ, साथी स्वारथनातैं । तू इन काज साज गृहको सब, ज्ञानादिक मत घातै ॥३॥ तन धन भोग सँयोग सुपन सम, बार न लगत बिलातैं । ममत न कर भ्रम तज तू भ्राता, अनुभव-ज्ञान-कलातैं ॥४॥ दुर्लभ नरभव सुथल सुकुल है, जिन उपदेश लहातैं । दौल तजौ मनसों ममता ज्यों, निबड़ो द्वंददशातैं ॥ सुनो० ॥ ५ ॥

—:: ७९ ::—

चेतन अब धरि सहजसमाधि[3], जातैं यह विनशै भवव्याधि ।
मोह ठग्योरी खायके रे, परको आपा जान ।
भूल निजातम ऋद्धिको तैं, पाये दुःख महान ।।चेतन०।।१॥
सादि अनादि निगोद दोयमें परयो कर्मवश जाय ।
श्वासउसासमझार तहाँ भव, मरन अठारह पाय ।चेतन०।२।
काल अनन्त तहाँ यों बीत्यो, जब भइ मन्द कषाय ।

१ रंजायमान होता है । २ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी अमृतसे । ३ आत्मस्वरूपमें स्थिरता ।

भू जल अनिल[1] अनल[2] पुन तरु[3] ह्वै, काल असंख्य गमाय।
क्रमक्रम निकसि कठिन तैं पाई, शंखादिक परजाय।
जल थल खचर[4] होय अघ ठाने, तस वश श्वभ्र[5] लहाय ॥४॥
तित[6] सागरलों बहु दुख पाये, निकस कबहुँ नर थाय।
गर्भ-जन्म-शिशु-तरुण-वृद्ध-दुख, सहे कहे नहिं जाय ॥५॥
कबहूँ किंचित पुण्यपाकतैं, चउविधिदेव कहाय।
विषयआश मन त्रास लही तहँ, मरनसमय बिललाय ॥६॥
यों अपार भवखार वारमें, भ्रम्यो अनंते काल।
दौलत अब निजभाव-नाव चढ़ि, लै भवाब्धिकी पाल ॥७॥

—: ःः :—

ज्ञानी जीव निवार भरमतम, वस्तुस्वरूप विचारत ऐसें ॥ज्ञा०। टेक॥ सुत तिय बंधु धनादि प्रगट पर, ये मुझतैं हैं भिन्न प्रदेशैं। इनकी परनति है इन आश्रित, जो इन भाव परनवैं वैसें ॥ज्ञा०॥१ देह अचेतन चेतन मैं, इन परनति होय एकसी कैसें। पूरन[7]-गलन स्वभाव धरै तन,[8] मैं अज अचल अमल नभ जैसें ॥ज्ञा०॥२ पर परिनमन न इष्ट अनिष्ट न, वृथा रागरुष द्वंद भयेसें। नसै ज्ञान निज फँसै बन्धमें, मुक्त होय समभाव लयेसें ॥ज्ञा०॥३ विषयचाह दवदाह नसै

१ अग्निकाय। २ वायुकाय। ३ वनस्पतिकाय। ४ पक्षी। ५ नरक। ६ वहाँ। ७ पूरण होने और गलन होने रूप स्वभाव वाला पुद्गल होता है। ८ शरीर।

नहिं, विन निज सुधासिंधुमें पैसें। जब जिनवैन सुने श्रवननतैं मिटे विभाव करूं विधि तैसें ॥ज्ञा०॥४॥ ऐसो अवसर कठिन पाप अब, निजहितहेत विलंब करेसें। पछताओ बहु होय सयाने, चेतन दौल छुटो भव[1]-भै सें ॥ज्ञा०॥५॥

—:: १०४ ::—

हमतो कबहूँ न निजगुन भाये।
तन निज मान जान तनदुखसुख,-में विलखे हरखाये ॥टेक॥
तनको गरन[2] मरनलखि तनको, धरन मान हम जाये[3]।
या भ्रमभौंर[4] परे भवजलचिर, चहुंगति विपत लहाये ॥१॥
दरशबोधव्रतसुधा न चाख्यो, विविध विषय-विष खाये।
सुगुरु दयाल सीख दइ पुनिपुनि, सुनिसुनि उर नहिं लाये।२
बहिरातमता तजी न अन्तर,-दृष्टि न ह्वै निज ध्याये।
धाम-काम-धन-रामाकी नित, आश[5]-हुताश जलाये ॥३॥
अचल अनूप शुद्ध चिद्रूपी सबसुखमय मुनि गाये।
दौल चिदानँद स्वगुन मगन जे, ते जिय सुखिया थाये।४।

—:: १०५ ::—

हम तो कबहूँ न निज घर आये।
परघर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ॥ टेक ॥
परपद निजपद मानि मगन ह्वै, परपरनति लपटाये।

१ संसाररूपी भयसे। २ गलना (नष्ट होना) : ३ उत्पन्न हुए। ४ अज्ञानरूपी भंवर। ५ आशारूपी अग्निमे।

शुद्ध बुद्ध सुखकंद मनोहर, चेतनभाव न भाये ॥ १ ॥
नर पशु देव नरक निज जान्यो, परजय-बुद्धि लहाये ।
अमल अखंड अतुल अविनाशी, आतमगुन नहि गाये ॥२॥
यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये ।
दौल तजो अजहूँ विषयनको, सतगुरु वचन सुनाये ॥३॥

भागचन्द भजनमाला

--:: (२३) राग खमाच ::--

सारौ दिन निरफल खोयवौ करै छै ।
नरभव लहिकर प्रानी विनज्ञान, सारो दिन निरफल० ।टेक।
परसंपति लखि निज चित माहीं, विरथा मूरख रोयवौ करै छै ॥ १ ॥ कामानलतैं जरत सदाही, सुन्दर कामिनी जोयवौ करै छै ॥ २ ॥ जिनमत तीर्थस्नान न ठानै, जलसौं पुद्गल धोयवो करै छै ॥ ३ ॥ भागचन्द इमि धर्म विना शठ मोहनींदमें सोयवौ करै छै ॥ ४ ॥

--:: (२५) राग सोरठ ::--

आवै न भोगनमें तोहि गिलान ॥ टेक ॥
तीरथनाथ भोग तजि दीनैं, तिनतैं मन भय आन ।
तू तिनतैं कहुँ डरपत नाहीं, दीसत अति बलवान ॥ १ ॥
इन्द्रियतृप्ति काज तू भोगै, विषय महा अघखान ।
सो जैसे घृतधारा डारै, पावकज्वाल बुझान ॥आवै०॥२॥

जे सुख तौ तीछन दुखदाई, ज्यों मधुलिप्त-कृपान ।
तातैं भागचन्द इनको तजि, आत्मस्वरूप पिछान ॥ ३ ॥

—:: (२८) राग-मल्हार ::—

मान न कीजिये हो परवीन ॥ टेक ॥
जाय पलाय चंचला कमला, तिष्ठै दो दिन तीन ।
धनजोवन छनभंगुर सबही, होत सुछिन छिन छीन ॥१॥
भरत नरेन्द्र खंड-षट नायक, तेहु भये मदहीन ।
तेरी बात कहा है भाई, तू तो सहज हि दीन ॥ २ ॥
भागचन्द मार्दव रससागर,-माहिं होहु लवलीन ।
तातैं जगत जालमें फिर कहुँ जनम न होय नवीन ।मान०।३।

—:: (२९) राग मल्हार ::—

अरे हो अज्ञानी तूने कठिन मनुषभव पायो ॥ टेक ॥
लोचनरहित मनुषके करमें, ज्यों बटेर खग आयो ।अरे०।१।
सो तू खोवत विषयनमाहीं धरम नहीं चित लायो ॥ २ ॥
भागचन्द्र उपदेश मान अब, जो श्रीगुरु फरमायो ।अरे०।३।

—:: ३८ ::—

जीव ! तू भ्रमत सदीव अकेला, संग साथी कोई नहिं तेरा ॥ टेक ॥ अपना सुखदुख आपहि भुगतै, होत कुटुम्ब न भेला । स्वार्थ भयैं सब बिछरि जात हैं, विघट जात ज्यों मेला ॥१॥ रक्षक कोइ न पूरन ह्वै जब, आयु अंतकी बेला । फूटत पारि बँधत नहि जैसें, दुद्धर-जलको ठेला ।जीव०।२।

तन धन जीवन विनशि जात ज्यों, इन्द्रजालका खेला ।
भागचन्द इमि लखकरि भाई हो सतगुरुका चेला ॥ ३ ॥

— (६४) राग सोरठ :—

जे दिन तुम विवेक बिन खोये ॥ टेक ॥
मोह वारुणी पी अनादितैं, परपदमें चिर सोये ।
सुखकरंड चितपिंड आपपद, गुन अनंत नहिं जोये ।जे०।१।
होय बहिर्मुख ठानि राग रुख, कर्म बीज बहु बोये ।
तसु फल सुख दुख सामग्री लखि, चितमें हरपे रोये ॥२॥
धवल ध्यान शुचि सलिलपूरतें, आस्रव मल नहिं धोये ।
पर द्रव्यनिकी चाह न रोकी, विविध परिग्रह ढोये ॥ ३ ॥
अब निजमें निज जान नियत तहाँ, निज परिनाम समोये ।
यह शिवमारग समरससागर, भागचन्द हित तो ये ।जे०।४।

—:: ६५ ::—

भवबनमें नहीं भूलिये भाई । कर निज थलकी याद ।टेक
नर परजाय पाय अति सुन्दर, त्यागहु सकल प्रमाद ।
श्रीजिनधर्म सेय शिव पावत, आतम जासु प्रसाद ।भव०।१
अबके चूकत ठीक न पड़सी, पासी अधिक विषाद ।
सहसी नरक वेदना पुनि तहाँ, सुणसी कौन फिराद ॥२॥
भागचन्द श्रीगुरु शिक्षा विन भटका काल अनाद ।
तू कर्ता तू ही फल भोगत, कौन करै बकवाद ॥भव०॥३॥

—:: (७३) राग दीपचन्दी ::—

यह मोह उदय दुख पावै, जगजीव अज्ञानी ॥ टेक ॥
निज चेतनस्वरूप नहिं जानै, परपदार्थ अपनावै।
पर परिनमन नहीं निज आश्रित यह तहँ अति अकुलावै ।१।
इष्ट जानि रागादिक सेवै, ते विधिबंध बढ़ावै।
निजहितहेत भाव चित सम्यक्‌दर्शनादि नहिं ध्यावै ॥२॥
इन्द्रियतृप्ति करनके काजै, विषय अनेक मिलावै।
ते न मिलैं तब खेद खिन्न ह्वै समसुख हृदय न ल्यावै ॥३॥
सकल कर्म छय लच्छन लच्छित, मोच्छदशा नहिं चावै।
भागचन्द ऐसे भ्रमसेती, काल अनन्त गमावै यह ॥४॥

—:: ७४ ::—

प्रेम अब त्यागहु पुद्गल का, अहितमूल यह जाना सुधीजन ॥ टेक ॥ कृमि-कुल-कलित स्रवत नव द्वारन, यह पुतला मलका। काकादिक भखते जु न होता, चाम तना खलका ॥ १ ॥ काल-व्याल मुख थित इसका नहिं, है विश्वास पलका। छणिक मात्रमें विघट जात है, जिमि बुद्‌बुद जलका ॥ २ ॥ भागचन्द क्या सार जानके, तू या संग ललका। तातैं चित अनुभव कर जो तू, इच्छुक शिवफलका ॥ ३ ॥

द्यानत विलास

—:: ३२ ::—

विपतिमें धर धीर, रे नर ! विपतिमें धर धीर ॥ टेक ॥
सम्पदा ज्यों आपदा रे ! विनश जै है वीर ॥रे०॥१॥
धूप छाया घटत बढ़ै ज्यों त्योंहि सुख दुख पीर ॥ २ ॥
दोष द्यानत देय किसको, तोरि करम जंजीर ॥ ३ ॥

—:: ३१ ::—

नहिं ऐसो जनम बारंबार ॥ टेक ॥
कठिन कठिन लह्यो मनुष भव, विषय भजि मतिहार ॥१॥
पाय चिन्तामन रतन शठ, छिपत उदधि मँझार ।
अंध हाथ बटेर आई तजत ताहिं गँवार ॥ २ ॥
कबहुँ नरक तिरजंच कबहुं, कबहुं सुरगविहार ।
जगतमहिं चिरकाल भमियो, दुर्लभ नर अवतार ॥ ३ ॥
पाय अमृत पांय धोवै, कहत सुगुरु पुकार ।
तजो विषय कषाय द्यानत, ज्यों लहो भवपार ॥ ४ ॥

—:: ३२ ::—

तू तो समझ समझ रे ! भाई ॥ टेक ॥
निशिदिन विषय भोग लपटाना, धरम वचन न सुहाई ॥१॥
कर[1] मनका[2] लै आसन मारयो, बाहिज लोक रिझाई ।
कहा भयो बकध्यान धरेतैं, जो मन थिर न रहाई ॥ २ ॥

---

१ हाथ । २ माला ।

मास मास उपवास किये तैं, काया बहुत सुखाई।
क्रोध मान छल लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई ॥३॥
मन वच काय जोग थिर करकैं, त्यागो विषयकषाई।
द्यानत सुरग मोख सुखदाई, सदगुरु सीख बताई ॥४॥

(३६) गुजराती भाषा-गीत।

जीवा! शूं कहिये तनैं भाई। टेक॥ पोता नूं रूप अनूप तजीनैं, शामाटै विषथी थाई॥ जीवा० ॥१॥ इन्द्रीना विषय विषथकी मौटा ज्ञाननू अमृत गाई। अमृत छोडीनैं विषय विष पीधा, साता तो नथी पाई॥ जीवा० ॥२॥ नरक निगोदना दुख सह आव्यो, वली तिहनैं मग धाई। एहवी बात रूड़ी न छै तमनै, तीन भवनना राई॥ जीवा० ॥३॥ लाख वातनी वात ए छै, मूकोनैं विषयकषाई। द्यानत ते चारैं सुख लाधौ, एम गुरु समझाई॥ जीवा० ॥४॥

(३८)

जीव! तैं मूढ़पना कित पायो॥ टेक॥ सब जग स्वारथको चाहत है, स्वारथ तोहि न भायो॥जीव०॥१॥ अशुचि अचेत दुष्ट तनमांहीं, कहा जान विरमायो। परम अतिन्द्री निजसुख हरिकै, विषय रोग लपटायो॥जीव० ॥२॥ चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनो नाम गमायो। तीन लोकको राज छांड़िकैं, भीख मांग न लजायो॥ जीव० ॥३॥ मूढ़पना मिथ्या जब छूटै, तब तू संत कहायो।

द्यानत सुख अनन्त शिव विलसो, यों सदगुरु बतलायो ॥ जीव० ॥४॥

(७१)

हो भैया मोरे ! कहु कैसे सुख होय ॥ टेक ॥ लीन कषाय अधीन विषयके, धरम करै नहिं कोय ॥ हो भैया० ॥१॥ पाप उदय लखि रोवत भोंदू !, पाप तजै नहिं सोय। स्वान-वान ज्यों पाहन सूंघै, सिंह हनै रिपु जोय ॥हो० ॥२॥ धरम करत सुख दुख अघसेती, जानत हैं सब लोय। कर दीपक लै कूप परत है, दुख पैं है भव दोय ॥ हो भैया० ॥३॥ कुगुरु कुदेव कुधर्म भुलायो, देव धरम गुरु खोय। उलट चाल तजि अब सुलटै जो, द्यानत तिरै जग-तोय[1] ॥४॥

(७२) राग—सोरठा।

मन ! मेरे राग भाव निवार ॥टेक॥ राग चिक्कनतैं लगत है कर्मधूलि अपार ॥ मन० ॥१॥ राग आस्रव मूल है, वैराग्य संवर धार। जिन जान्यो भेद यह, वह गयो नरभव हार ॥ मन० ॥२॥ दान पूजा शील जप तप, भाव विविध प्रकार। राग विन शिव सुख करत हैं, रागतैं संसार ॥ मन० ॥३॥ वीतराग कहा कियो, यह बात प्रगट निहार। सोइ कर सुख हेत द्यानत, शुद्ध अनुभव सार ॥ मन० ॥४॥

(७३)

कर रे ! कर रे ! कर रे !, तू आतम हित कर रे

---

१ जल (संसार समुद्र)।

॥ टेक ॥ काल अनन्त गयो जग भ्रमतैं, भव भव के दुख हर रे ॥ कर रे० ॥१॥ लाख कोटि भव तपस्या करतैं, जितो कर्म तेरी जर रे। स्वास उस्वासमांहिं सो नासै, जब अनुभव चित धर रे ॥ कर रे० ॥ २ ॥ काहे कष्ट सहै वनमाहीं, राग दोष परिहर रे। काज होय समभाव विना नहिं, भावौ पचि पचि मर रै ॥ कर रे० ॥ ३ ॥ लाख सीखकी सीख एक यह, आतम निज, पर पर रे। कोट ग्रंथको सार यही है, द्यानत लख भव तर रे ॥ कररे० ॥ ४ ॥

(७४)

भाई ज्ञानका मार्ग सुहेला रे ॥ भाई० ॥ टेक ॥ दरब न चहिये देह न दहिये, जोग भोग न नवेला रे ॥ भाई० ॥ १ ॥ लड़ना नाहीं मरना नाहीं, करना बेला तेला रे। पढ़ना नाहीं गढ़ना नाहीं, नाच न गावन मेला रे ॥ भाई० ॥ २ ॥ न्हानां नाहीं खाना नाहीं, नाहिं कमाना धेला रे। चलना नाहीं, जलना नाहीं, गलना नाहीं देला रे ॥ भाई० ॥३॥ जो चित चाहै सो नित दाहै, चाह दूर करि खेला रे। द्यानत यामैं कौन कठिनता, वे परवाह अकेला रे ॥ भाई० ॥४॥

(७९) राग विलावल

कहिवेको मन सूरमा, करवेकौं कांचा ॥ टेक ॥

विषय छुड़ावे और पै, आपन अति माचा ॥ कहिवे० ॥ १ ॥ मिश्री मिश्रीके कहैं, मुँह होय न मीठा । नीम कहैं मुख कटु हुआ, कहूँ सुना न दीठा ॥ कहिवे० ॥२॥ कहनेवाले बहुत हैं, करने को कोई । कथनी लोक रिझा-वनी, करनी हित होई ॥ कहिवे० ॥३॥ कोड़ि जनम कथनी कथैं, करनी बिनु दुखिया । कथनी बिनु करनी करैं, द्यानत सो सुखिया ॥ कहिवे० ॥४॥

(५१) राग गौरी

हमारो कारज कैसें होय ॥ टेक ॥ कारण पंच मुकती मारगके, तिनमेंके हैं दोय ॥ हमारो० ॥१॥ हीन संहनन लघु आयूषा, अल्प मनीषा जोय । कच्चे भावन सच्चे साथी, सब जग देख्यो होय ॥ हमारो० ॥२॥ इन्द्री पंच सुविषयनि दौरैं, मानैं कहया न कोय । साधारन चिरकाल बस्यो, मैं धरम बिना फिर सोय ॥ हमारो० ॥३॥ चिंता बड़ी न कछु बनि आवै, अब सब चिन्ता खोय । द्यानत एक शुद्ध निजपद लखि, आपमें आप समोय ॥ हमारो० ॥४॥ इति ॥

सवैया

हाट बनायके बाट लगायके टाट बिछायके उद्यम कीना । लेनको बाढ़ सुदेनको घाट सुबांटनि फेरि ठगे बहु दीना ॥ ताहूमें दानको भाव न रंचक पाथरकी कहूँ नाव तरी ना । द्यानत याहीते नर्कमें वेदनि, कोड़

किरोड़न और सही ना ॥१॥ नर्कनमांहिं कहे नहिं जाहि सहे दुख जे जब जानत नाहीं। गर्भ मंझार कलेस अपार तले सिर था तब . जानत नाहीं ॥ धूलके बीचमें कीच नगीचमें नीच किया सब जानत नाहीं। द्यानत दाव उपाव करो जम आवहिंगे जब जानत नाहीं ॥२॥

सवैया—३१।

याही जगमांहि चिदानन्द आप डोलत है भर्म भाव धरे हरे आतम सकतिको। अष्ट कर्म रूप जे जे पुद्गलके परिनाम तिनको सरूप मान मानत सुंमतिको ॥ जाही समै मिथ्या मोह अँधकार नाशि गया गयो परकाश भानु चेतनंको तनको। ताही समै जान्यो आप आप पर पर रूप मानि भव भावरी निवारो चारों गतिको ॥३॥ रुज-गार बनै नाहि धन तो न घरमांहि खानेकी फिकर बहु नारि चहे गहना। देनेवाले फिरि जाहि मिलत उधार नाहिं सांझ मिले चोर धन आवे नाहिं लहना ॥ कोऊ पूत जारी भयो घरमाहिं सुत थयो एक पूत मरि गयो ताको दुख सहना। पुत्री वर जोग भई व्याही सुता मरि गई एते दुःख सुख मानै तिसे कहा कहना ॥४॥ शिष्यको पढावत हैं हेमको गढ़ावत हैं मानको वढ़ावत हैं नाना छल छानके। कौड़ी कौड़ी मांगत हैं कायर हो भागत हैं प्रात उठे जागत हैं स्वारथ पिछान के ॥ कागद को लेखत

हैं केई नग पेखत हैं केई कूप देखत हैं आपनी गुवानिकै।
एक सेर नाज काज अपनो समय त्याज डोलत हैं लाज काज धर्म काज हान के ॥५॥ देखो चिदानन्द राम ज्ञान दृष्टि खोलिकरि तात मात भ्रात सुत स्वारथ पसारा है। तू तो इन्हें आप मानि ममता मगन भयो वसो भर्म माहिं निज धर्म को बिसारा है॥ यह तो कुटुम्ब सब दुःख ही को कारण है तजि मुनिराज निज कारज विचारा है। तातैं धर्म सार स्वर्ग मोक्ष सुखकार सोई लहै भवपार जिनधर्म ध्यान धारा है॥६॥

कुण्डलिया—

यह संसार असार है, कदली वृक्ष समान।
यामें सारपनो लखै, सो मूरख परधान॥
सो मूरख परधान मान कुसुमनि नभ देखै।
सलिल मथै घृत चहै शृंग सुन्दर खर पेखै॥
अगिनि माहिं हिम लखैं सर्पमुख माहिं सुधा तह।
जान ज्ञान मन माहिं नाहि संसार सार यह॥७॥

कवित्त।

चेतनजी तुम जोड़त हो धन, सो धन चलै नहीं तुम लार। जाको आप जानि पोषत हो, सो तन जरिके ह्वै है छार॥ विषयभोगको सुख मानत हो, ताको फल है

दुःख अपार । यह संसार वृक्ष सेमरको, मानि कह्यो मैं कहूँ पुकार ॥८॥

इन्द्रिय और कषायोंकी चाह । सवैया ३१ ।

सफरस फास चाहे रसना हू रस चाहे, नासिका सुवास चाहे नैन चाहे रूपको । श्रवण शब्द चाहे काया तो प्रमाद चाहे, वचन कथन चाहे मन दौर धूपको ॥ क्रोध क्रोध क्रोध कर्यो चाहे मान मान गह्यो चाहे, माया तो कपट चाहे लोभ लोभ कूपको । परिवार धन चाहे आशा विषय सुख चाहे, एतै वैरी चाहे नाहीं सुख जीव भूपको ॥ ९ ॥

इन्द्रिय और कषायोंको दमन करनेका उपाय ।

जीव जोपै स्याना होय पाँचो इन्द्री वसि करै, फास रस गंध रूप सुर राग हरिके । आसन बतावै काय वच को सिखावै मौन, ध्यानमाहिं मन लावै चंचलता गरिके ॥ क्षमा करि क्रोध मारे विनय धरि मान गारे, सरल सो छल जारे लोभ दशा टरिके । परिवार नेह त्यागे विषय सैन छांड़ि जागे, तब जीव सुखी होय वैरि वस करिके ॥१०॥

अपनी भूल

बसत अनँत काल वीतत निगोद माहिं, अक्षर अनंत भाग ज्ञान अनुसरै है । छांसठि सहस तीन सौ छतीस वार वजी, अंतर मुहूरत में जन्में अर मरै है ॥ अँगुल असंख

भाग तहाँ तन धारत है, तहाँसेती क्यों ही क्यों ही क्यों ही के निसरे है। यहाँ आय भूल गयो लागि विषय भोग विषै, ऐसी गति पाय कहा ऐसे काम करे है ॥११॥

मोहनींद छोड़

वार वार कहे पुनरुक्ती दोष लागत है, जागत न जोय तू तो सोयो मोह झगमें। आतमसेती विमुख गहे राग दोष रूप्य पंच, इन्द्री विषय सुख लीन पगपगमें॥ पावत अनेक कष्ट होत नाहिं अष्ट नष्ट, महापद भ्रष्ट भयो भमे सिष्ट जगमें। जाग जगवासी उदासी ह्वैके विषयसों, लाग, शुद्ध अनुभव जो आवे नाहि जगमें ॥१२॥

—(०)—

बुधजन विलास

(५) तिताला।

काल अचानक ही ले जायगा, गाफिल होकर रहना क्या रे ॥ काल० ॥ टेक ॥ छिनहूँ तोकूं नाहिं बचावैं, तौ सुभटनका रखना क्या रे ॥ काल० ॥ १ ॥ रंच सवाद करिनके काजै, नरकनमैं दुःख भरना क्या रे। कुलजन पथिकनिके हित काजैं, जगत जालमे परना क्या रे ॥ काल० ॥ २ ॥ इंद्रादिक कोउ नाहिं बचैया, और लोक का शरना क्या रे। निश्चय हुआ जगतमें मरना, कष्ट परै तब डरना क्या रे ॥ काल० ॥ ३ ॥ अपना ध्यान

करत खिर जावैं, तौ करमनिका हरना क्या रे। अब हित करि आरत तजि बुधजन, जन्म जन्ममें जरना क्या रे ॥ काल० ॥ ४ ॥

(७) भजन।

या नित चितवो उठिकै भोर, मैं हूं कौन कहां तैं आयो, कौन हमारो ठौर ॥ या० ॥ टेक ॥ दीसत कौन कौन यह चितवत, कौन करत है शोर। ईश्वर कौन कौन है सेवक, कौन करे झकझोर ॥ या नित० ॥ १ ॥ उपजत कौन मरै को भाई, कौन डरे लखि घोर। गया नहीं आवत कछु नाहीं, परिपूरन सब ओर ॥ या नित० ॥२॥ और और मैं और रूप ह्वै, परनति करि लइ और। स्वांग धरैं डोलौ याहीतैं, तेरी बुधजन भौर ॥ या नित० ॥ ३ ॥

(१४) राग सारंग।

तन देख्या अथिर घिनावना ॥ तन० ॥टेक॥ बाहर चाम चमक दिखलावै, माहीं मैल अपावना। बालक ज्वान बुढ़ापा मरना, रोगशोक उपजावना ॥ तन० ॥१॥ अलख अमूरति नित्य निरंजन, एकरूप निज जानना। बरन फरस रस गंध न जाकै, पुन्य पाप बिन मानना ॥ तन० ॥२॥ करि विवेक उर धारि परीक्षा, भेद-विज्ञान विचा-

रना। बुधजन तनतें ममत मेटना, चिदानंद पद धारना ॥ तन० ॥३॥

(२९) राग—काफी कनडी।

तोकों सुख नहिं होगा लोभीड़ा! क्यों भूल्या रे पर-भावनमैं ॥ तोकों० ॥ टेक ॥ किसी भाँति कहूँका धन आवै, डोलत है इन दावनमें ॥ तोकों ॥ १ ॥ ब्याह करूँ सुत जस जग गावै, लग्यौ रहै या भावनमें ॥ तोकों ॥२॥ दरब परिनमत अपनी गौंत, तू क्यों रहित उपायनमें ॥ तोकौं ॥३॥ सुख तो है सन्तोष करनमें, नाहीं चाह बढ़ा-वनमैं ॥ तोकौं ॥४॥

(३१) राग-बिलावल धीमो तेतालो।

नरभव पाय फेरि दुख भरना, ऐसा काज न करना हो ॥ नरभव० ॥ टेक ॥ नाहक ममत ठानि पुद्गलसौं, करमजाल क्यौं परना हो ॥ नरभव० ॥१॥ यह तो जड़ तू ज्ञान अरूपो, तिल तुष ज्यौं गुरु बरना हो। राग दोष तजि भजि समताकौं, कर्म साथके हरना हो ॥ नरभव० ॥२॥ यों भव पाय विषय-सुख सेना, गज चढ़ि ईंधन ढोना हो। बुधजन समुझि सेय जिनवर पद, ज्यौं भवसागर तरना हो ॥ नरभव० ॥३॥

(३३)

गुरु दयाल तेरा दुख लखिकैं, सुन लै जो फरमावै

है ॥ गुरु० ॥ तोमैं तेरा जतन बतावै, लोभ कछू नहिं चावै है ॥ गुरु० ॥१॥ पर सुभावको मोरया चाहै, अपना उसा बनावै है। सो तो कबहूँ हुवा न होसी, नाहक रोग लगावै है ॥ गुरु० ॥२॥ खोटी खरी जस करो कमाई, तैसी तेरै आवे है। चिन्ता आगि उठाय हियामैं, नाहक जान जलावै है ॥ गुरु० ॥३॥ पर अपनावै सो दुख पावै, बुधजन ऐसे गावै हैं। परको त्यागि आप थिर तिष्ठै, सो अविचल सुख पावै है ॥ गुरु० ॥४॥

(३९) राग—आसावरी जलद तेतालो।

आगैं कहा करसी भैया, आ जासी जब काल रे ॥ ॥ आगैं० ॥टेक॥ ह्याँ तो तैंने पोल मचाई, व्हाँ तौ होय समाल रे ॥ आगैं० ॥१॥ झूठ कपट करि जीव सताये, हरचा पराया माल रे। सम्पतिसेती धाप्या नाहीं, तकी विरानी बाल रे ॥ आगैं० ॥२॥ सदा भोगमैं मगन रह्या तू, लख्या नहीं निज हाल रे। सुमरन दान किया नहिं भाई, हो जासी पैमाल रे ॥ आगैं० ॥३॥ जोबनमैं जुवती संग भूल्या, भूल्या जब था बाल रे। अबहूँ धारो बुधजन समता, सदा रहहु खुश हाल रे ॥ आगैं० ॥४॥

(४२)

बाबा ! मैं न काहू का, कोई नहीं मेरा रे ॥ बाबा० ॥टेक॥ सुर नर नारक तिरयक गतिमैं, मोकों करमन घेरा

रे ॥ बाबा० ॥१॥ मात पिता सुत तिय कुल परिजन, मोह गहल उरझेरा रे। तन धन वसन भवन जड़ न्यारे, हूं चिन्मूरति न्यारा रे ॥ बाबा० ॥२॥ मुझ विभाव जड कर्म रचत हैं, करमन हमको फेरा रे। विभावचक्र तजि धारि सुभावा, अब आनन्दघन हेरा रे ॥ बाबा० ॥३॥ खरच खेद नहिं अनुभव करते, निरखि चिदानंद तेरा रे। जप तप व्रत श्रुत सार यही है, बुधजन कर न अबेरा रे ॥ बाबा० ॥४॥

(४४)

धर्म बिन कोई नहीं अपना, सब संपति धन थिर नहिं जग में, जिसा रैन सपना ॥धर्म० ॥टेक॥ आगैं किया सो पाया भाई, याही है निरना। अब जो करैगा सो पावेगा, तातैं धर्म करना ॥ धर्म० ॥१॥ ऐसैं सब संसार कहत है, धर्म कियैं तिरना। परपीड़ा बिसनादिक सेवैं, नरक विषैं परना ॥ धर्म० ॥२॥ नृपके घर सारी सामग्री, ताकैं ज्वर तपना। अरु दारिद्रीकैं हू ज्वर है, पाप उदय थपना ॥ धर्म० ॥३॥ नाती तो स्वारथ के साथी, तोहि विपति भरना। वन गिरि सरिता अगनि जुद्ध में, धर्महि का सरना ॥ धर्म० ॥४॥ चित बुधजन सन्तोष धारना, पर चिन्ता हरना। विपति पड़े तो समता रखना, परमातम जपना ॥ धर्म० ॥५॥

(६५) राग-अहिंग ।

तैं क्या किया नादान, तैंतो अमृत तजि विष लीना ॥ तैं० ॥ टेक ॥ लख चौरासी जौनि माहितैं, श्रावक कुल-मैं आया । अब तजि तीन लोक के साहिब, नवग्रह पूजन धाया ॥ तैं० ॥ १ ॥ वीतरागके दरशनहीतैं, उदासीनता आवै । तू तो जिनके सनमुख ठाड़ा, सुतको ख्याल खिलावै ॥ तैं० ॥२॥ सुरम सम्पदा सहजैं पावै, निश्चय मुक्ति मिलावै । ऐसी जिनवर पूजनसेती, जगत कामना चावै ॥ तैं० ॥४॥ बुधजन मिलैं सलाह कहैं तव, तू वापै खिजि जावै । जथाजोगको अजथा मानै, जनम जनम दुख पावै ॥ तै० ॥४॥

(६६) राग-कनड़ी ।

उत्तम नरभव पायकै, मति भूलै रे रामा ॥ मति भू० ॥ टेक ॥ कीट पशूका तन जब पाया, तब तू रह्या निकामा । अब नरदेही पाय सयाने क्यौं न भजै प्रभुनामा ॥ मति भू० ॥१॥ सुरपति याकी चाह करत उर, कब पाऊँ नरजामा । ऐसा रतन पायकैं भाई, क्यौं खोवत बिन कामा ॥ मति भू० ॥२॥ धन जोवन तन सुन्दर पाया, मगन भया लखि भामा । काल अचानक झटक खायगा, परे रहैंगे ठामा ॥ मति० ॥३॥ अपने स्वामीके पदपंकज, करौ हिये विसरामा । मेंटि कपट भ्रम अपना

बुधजन, ज्यों पावो शिवथाना ॥ यांते० ॥३॥

(७७)

तेरी बुद्धि कहानी, सुनि मूढ़ अज्ञानी ॥ तेरी० ॥टेक॥ तनक विषय सुख लालच लाग्यो, अंतकाल दुखदानी ॥ तेरी० ॥१॥ जड़ चेतन मिलि बंध भये, ज्यों पयमाहीं पानी । जुदा जुदा सरूप नहिं मानै, मिथ्या एकता मानी ॥ तेरी० ॥२॥ हूँ तो बुधजन दृष्टा ज्ञाता, तन जड़ सरधा आनी । ते ही अविचल सुखी रहैंगे, होय मुक्तिवर प्रानी ॥ तेरी० ॥३॥

(७८) राग—ईमन ।

तू मेरा कह्या मान रे निपट अयाना ॥ तू० ॥ टेक ॥ भव वन वाट मात सुत दारा, बंधु पथिकजन जान रे । इनतैं प्रीति न ला बिछुरैंगे, पावैगो दुख-खान रे ॥ तू० ॥१॥ इकसे तन आतम मति आनैं, यो जड़ है तू ज्ञान रे । मोह उदय वश भरम परत है, गुरु सिखवत सरधान रे ॥ ॥ तू० ॥२॥ बादल रंग सम्पदा जग की, छिनमैं जात विलान रे । तमाशबीन बनि यातैं बुधजन, सबतैं ममता हान रे ॥ तू० ॥३॥

(७८) राग—सोरठ ।

मति भोगन राचौजी, भव भवमैं दुख देत घना ॥ मति० ॥टेक॥ इनके कारन गति गति मांहीं, नाहक नाचौ

जी । झूठे सुखके काज धरममैं पाड़ौ खांचौ जी ॥ मति० ॥१॥ पूरवकर्म उदय सुख आयां राजौ माचौ जी । पाप उदय पीड़ा भोगनमैं, क्यौं मन काचौ जी ॥ मति० ॥१॥ सुख अनन्तके धारक तुमही, पर क्यौं जांचौ जी । बुधजन गुरुका वचन हियामैं, जानौ सांचौ जी ॥ मति० ॥३॥

(८०)

सम्यग्ज्ञान बिना, तेरो जनम अकारथ जाय ॥ सम्यग्ज्ञान० ॥ टेक ॥ अपने सुखमैं मगन रहत नहिं परकी लेत बलाय । सीख सुगुरुकी एक न मानै, भव भवमैं दुख पाय ॥ सम्यग्ज्ञान० ॥१॥ ज्यौं कपि आप काठ लीलाकरि, प्राण तजै बिललाय । ज्यौं निज मुखकरि जाल मकरिया, आप मरै उलझाय ॥ सम्यग्ज्ञान० ॥२॥ कठिनकमायो सब धन ज्वारी, छिनमैं देत गमाय । जैसे रतन पायके भोंदू, बिलखे आप गमाय ॥ सम्यग्ज्ञान० ॥३॥ देवशास्त्र गुरुको निहचैकरि, मिथ्यामत मति ध्याय । सुरपति वांछा राखत याकी, ऐसी नर परजाय ॥ सम्यग्ज्ञान० ॥४॥

(१०६) राग—मालकोस

अब तू जान रे चेतन जान, तेरी होवत है नित हान ॥ अब० ॥ टेक ॥ रथ बाजि करी असवारी, नाना विधि भोग तयारी । सुन्दर तिय सेज सँवारी, तन रोग भयौ या ख्वारी ॥ अब० ॥१॥ ऊँचे गढ़ महल बनाये, बहु तोप

यह भवकुल यह तेरी महिमा, फिर समझी जिनवानी। इस अवसरमैं वह चपलाई, कौन समझ उर आनी ॥ सुन० ॥२॥ चंदन काठ-कनकके भाजन, भरि गंगाका पानी। तिल खलि राँधत मंदमती जो, तुझ क्या रीस बिरानी ॥ सुन० ॥३॥ भूधर जो कथनी सो करनी, यह बुधि है सुखदानी। ज्यों मशालची आप न देखै, सो मति करै कहानी ॥ सुनि० ॥४॥

(९)

वे कोई अजब तमासा, देख्या बीच जहान वे। जोर तमासा सुपनेकासा ॥ टेक ॥ एकौंके घर मंगल गावैं, पूगी मनकी आसा। एक वियोग भरे बहु रोवैं, भरि भरि नैन निराशा ॥ वे कोई० ॥१॥ तेज तुरगनिपै चढ़ि चलते, पहिरैं मलमल खासा। रंक भये नागे अति डोलैं, ना कोई देय दिलासा ॥ वे कोई० ॥२॥ तरकैं राजतखत पर बैठा, था खुशवक्त खुलासा। ठीक दुपहरी मुद्दत आई, जंगल कीना वासा ॥ वे० कोई० ॥३॥ तन धन अथिर निहायत जगमें, पानीमाहिं पतासा। भूधर इनका गरब करैं जे, धिक तिनका जनमासा ॥ वे कोई० ॥४॥

(११) राग—ख्याल

गरव नहिं कीजै रे, ऐ नर निपट गँवार ॥टेक॥ झूठी काया झूठी माया, छाया ज्यों लखि लीजै रे ॥ गरव० ॥१॥ कै छिन सांझ सुहागरु जोवन, कै दिन जगमें जीजै रे ॥

गरब० ॥२॥ देखा चेत विलम्ब नहिं कीजे नर, छिन छिन थिति छीजै रे ॥ गरब० ॥३॥ भूधर पलपल हो है भारी, ज्यों ज्यों कमरी भींजै रे ॥ गरब० ॥४॥

(१८) राग—मल्हार ।

अब मेरैं समकित सावन आयो । टेक॥ बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो ॥ अब मेरे० ॥१॥ अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो ॥ बोलै विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिनि भायो ॥ अब मेरैं० ॥२॥ गुरुधुनि गरज सुनत सुख उपजै, मोर सुमन विहसायो । साधक भाव अँकूर उठे बहु, जित तित हरष सवायो ॥ अब मेरैं० ॥३॥ भूल धूल कहिं भूल न सूझत समरस जल झर लायो । भूधर को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायो ॥ अब मेरैं० ॥४॥

(१९) राग—सोरठ ।

भगवन्त भजन क्यों भूला रे ॥ टेक ॥ यह संसार रैन का सुपना, तन धन वारि-बबूला रे ॥ भगवन्त० ॥ १ ॥ इस जोवनका कौन भरोसा, पावकमें तृणपूला रे ॥ काल कुदार लिये सिर ठाड़ा, क्या समझै मन फूला रे ॥ भगवन्त० ॥ २ ॥ स्वारथ साधै पाँच पाँव तू, परमारथ कों लूला रे ॥ कहु कैसें सुख पैहै प्राणी, काम करै दुख-मूला रे ॥ भगवन्त० ॥ ३ ॥ मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कंध वसूला रे । भज श्रीराजमतीवर भूधर,

दो दुरमति सिर धूला रे ॥ भगवन्त० ॥ ४ ॥

(३०) राग—बंगला।

आया रे बुढ़ापो मानी सुधि बुधि विसरानी ॥ टेक ॥ श्रवनकी शक्ति घटी, चाल चालै अटपटी, देह लटी भूख घटी, लोचन झरत पानी ॥ आया रे० ॥ १ ॥ दांतनकी पंक्ति टूटी, हाड़न की संधि छूटी, कायाकी नगरि लूटी, जात नहिं पहिचानी ॥ आया रे० ॥ २ ॥ बालोंने वरन फेरा, रोग ने शरीर घेरा, पुत्रहू न आवे नेरा, औरोंकी कहा कहानी ॥ आया रे० ॥ ३ ॥ भूधर समुझि अब, स्वहित करैगो कब, यह गति ह्वै है जब, तब पिछतै है प्रानी ॥ आया रे० ॥ ४ ॥

(३१) राग—सोरठ।

अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई ! ॥ टेक ॥ कपट कृपान तजै नहिं तबलौ, करनी काज न सरना रे ॥ अन्तर० ॥ १ ॥ जप तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक आगम अर्थ उचरना रे। विषय कषाय कीच नहिं धोयो, यों ही पचि पचि मरना रे ॥ अन्तर० ॥ २ ॥ बाहिर भेष क्रिया उर शुचिसों कीये पार उतरना रे। नाही है सब लोक रंजना, ऐसे वेदन वरना रे ॥ अन्तर० ॥ ३ ॥ कामादिक मनसौं मन मैला भजन किये क्या तिरना रे। भूधर नील-वसनपर कैसैं, केसर रंग उछरना रे ॥ अन्तर० ॥ ४ ॥

(३३) राग—काफा ।

मन हंस! हमारी लै शिक्षा हितकारी ॥ टेक ॥ श्रीभगवानचरन पिंजरे वसि, तजि विषयनिकी यारी ॥ मन० ॥ १ ॥ कुमति कागलीसौ मति राचो, ना वह जात तिहारी । कीजै प्रीत सुमति हंसीसैं, बुध हंसनकी प्यारी ॥ मन० ॥ २ ॥ काहेको सेवत भव-झीलर, दुखजलपूरित खारी । निजबल पंख पसारि उड़ौं किन, हो शिव सरवर-चारी ॥ मन० ॥ ३ ॥ गुरुके-वचन विमल मोती चुन, क्यों निज बान विसारी । ह्वै है सुखी सीख सुधि राखें, भूधर भूलैं ख्वारी ॥ मन० ॥ ४ ॥

(४०) राग—काफी ।

प्रभु गुन गाय रे, यह औसर फेर न पाय रे ॥ टेक ॥ मानुष भव जोग दुहेला, दुर्लभ सतसंगति मेला । सब बात भली बन आई, अरहंत भजौ रे भाई ॥ प्रभु० ॥ १ ॥ पहलैं चित चीर संभारो, कामादिक मैल उतारो । फिर प्रीति फिटकरी दीजे, तब सुमरन रंग रंगीजे ॥ प्रभु० ॥ २ ॥ धन जोर भरा जो कूवा, परवार बढ़ै क्या हूवा । हाथी चढ़ि क्या कर लीया, प्रभु नाम बिना धिक जीया ॥ प्रभु० ॥३॥ यह शिक्षा है व्यवहारी, निहचैकी साधनहारी । भूधर पैड़ी पग धरिये, तब चढ़ने को चित करिये ॥ प्रभु० ॥ ४ ॥

(४१)

ऐसो श्रावक कुल तुम पाय, वृथा क्यों खोवत हो

॥ टेक ॥ कठिन कठिनकर नरभव पाई, तुम लेखी आसान। धर्म विसारि विषयमें राचौ, मानी न गुरुकी आन ॥ वृथा० ॥ १ ॥ चक्री एक मतंगज पायो, तापर ईंधन ढोयो। विना विवेक विना मतिहीको, पाय सुधा पग धोयो ॥ वृथा० ॥ २ ॥ काहू शठ चिन्तामणि पायो, मरम न जानों ताय। वायस देखि उदधिमें फैंक्यो, फिर पीछे पछताय ॥ वृथा० ॥ ३ ॥ सात विसन आठों मद त्यागो, करुना चित्त विचारो। तीन रतन हिरदैमें धारो, आवागमन निवारो ॥ वृथा० ॥ ४ ॥ भूधरदास कहत भविजनसों, चेतन अब तो सम्हारो। प्रभुको नाम तरन तारन जपि, कर्मफन्द निरवारो ॥ वृथा० ॥ ५ ॥

जैन शतक (पं० भूधरदासजी)

(१७) वैराग्यकामना।

कब गृहवाससौं उदास होय वन सेऊं, वेऊं निजरूप गति रोकूं मन-करीकी। रहि हौं अडोल एक आसन अचल अंग, सहिहौं परीषा शीतघाम-मेघ झरीकी ॥ सारंगसमाज खाज कबधौं खुजै है आनि, ध्यान-दल-जोर जीतूं सेना मोह अरीकी। एकलविहारी जथाजात लिंगधारी कब, होऊं इच्छाचारी बलिहारी हौं वा घरीकी ॥

(१८) राग और वैराग्यका अन्तर।

रागउदै भोगभाव लागत सुहावनेसे, विना राग ऐसे

लागैं जैसैं नाग कारे हैं। रागहीसौं पाग रहे तनमें सदीव जीव, राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं॥ रागसौं जगतरीति झूठी सब साँची जानै, राग मिटैं सूझत असार खेल सारे हैं। रागी बिनरागीके विचारमें बडोई भेद, जैसें "भटा पच्छ काहू काहूको बयारे हैं।"

(१९) भोगनिषेध मत्तगयंद (सवैया)

तू नित चाहत भोग नए नर, पूरवपुण्य बिना किम पैहै। कर्मसंजोग मिलैं कहिं जोग, गहै तब रोग न भोग सकै है। जो दिन चारकौ ब्योंत बन्यौ कहुँ, तौ परि दुर्गतिमें पछितैहै। यौं हित यार सलाह यही कि, "गई कर जाहु" निवाह न ह्वै है॥

(२०) देहस्वरूप।

मातपिता-रज-वीरजसौं, उपजी सब सात कुधात भरी है। माखिनके पर माफिक बाहर, चामके बेठन वेढ़ धरी है॥ नाहिं तो आय लगैं अब ही, बक वायस जीव बचै न घरी है। देहदशा यह दीखत भ्रात, घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है॥

(२१) संसारस्वरूप और समयकी बहुमूल्यता। कवित्त-मनहर।

काहूघर पुत्र जायौ काहूके वियोग आयौ, काहू राग रंग काहू रोआ रोई करी है। जहां भान ऊगत उछाह गीत गान देखे, सांझ समैं ताही थान हाय हाय परी है॥

ऐसी जगरीतिको न देखि भयभीत होय, हा हा नर मूढ़ तेरी मति कौनै हरी है। मानुषजनम पाय सोवत विहाय जाय, खोवत करोरनकी एक एक घरी है ॥

(२२) सोरठा

कर कर जिनगुन पाठ, जात अकारथ रे जिया।
आठ पहरमैं साठ, घरी घनेरे मोलकीं ॥२२॥
कानी कौड़ी काज, कोरिनको लिख देत खत।
ऐसे मूरखराज, जगवासी जिय देखिये ॥ २३ ॥

दोहा।

कानी कौड़ी विषयसुख, भवदुख करज अपार।
बिना दियैं नहिं छूटि है, लेशक दाम उधार ॥२४॥

(२५) शिक्षा छप्पय।

दश दिन विषयविनोद, फेर बहु विपतिपरंपर।
अशुचिगेह यह देह, नेह जानत न आप जर ॥
मित्र बंधु-सनमंध और, परिजन जे अंगी।
अरे अंध सब धंध, जान स्वारथके संगी ॥
परहित अकाज अपनो न कर, मूढ़राज अब समझ उर।
तजि लोकलाज निज काजकर, आज दाव है कहत गुर ॥

(२६) कवित्त मनहर।

जौलौं देह तेरी काहू रोगसौं न घेरी जौलौं जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परी है। जौलौं, जमनामा वैरी देय

ना दमामा जौलौं, मानैं कान राखा बुद्धि जाइ ना त्रिगरि है ॥ तौलौं, मित्र मेरे निज कारज संवार लेरे, पौरुष थकैंगे फेर पीछे कहा करि है। अहो आग आयें जब झोंपरी जरन लागी, कुआके खुदाये तब कौन काज सरि है ॥

(२७)

सौ वरष आयु ताका लेखा करि देखा सब, आधी तौ अकारथ ही सोवत विहायरे। आधीमें अनेक राग बाल वृद्ध दशा भोग, और हु संजोग केते ऐसे बीत जांय रे ॥ बाकी अब कहा रही-ताहि तू विचार सही, कारजकी बात यही नीकैं मन लाय रे। खातिरमें आवै तो खलासी कर इतनेमैं, भावै फँसि फन्द बीच दीनों समुझाय रे ॥

(२८) बुढ़ापा।

बालपनैं बाल रह्यौ पीछैं गृहभार वह्यौ, लोक लाज-काज बांध्यौ पापनकौ ढेर है। अपनो अकाज कीनौं लोकनमैं जस लीनौं, परभौ विसार दीनौं विषैवश जेर है। ऐसे ही गई विहाय अलपसी रही आय, नर-परजाय यह "आंधे की बटेर" है। आये सेत भैया, अब काल है अवैया अहो, जानी रे सयानैं तेरे अजौं हूँ अंधेर है ॥

(२९) मत्तगयंद (सवैया)

बालपनै न सँभार सक्यौ कछु, जानत नाहिं हिताहित-हीको। यौवन वैस बसी वनिता उर, कै नित राग रह्यौ

लक्ष्मीको ॥ यौं पन दोइ बिगोइ दये नर, डारत क्यौं नरकैं निज जीको । आये हैं सेत अजौं शठ चेत, "गई सु गई अब राख रही को" ॥

(३०) कवित्त–मनहर ।

सार नर देह सब कारजको जोग येह, यह तौ विख्यात बात वेदनमैं बँचै है । तामैं तरुनाई धर्मसेवनकी समै भाई, सेये तब विषै, जैसैं माखी मधु रचै है ॥ मोह मद भोये धनरामाहित रोज रोये, यौंही दिन खोये खाय कोदौं जिम मचै है । अरे सुन बौरे अब आये सीस धौरे अजौं, सावधान हो रे नर नरकसौं बचै है ॥

(३१) मत्तगयंद (सवैया) ।

बाय लगी कि बलाय लगी, मदमत्त भयौ नर भूलत त्यौं ही । वृद्ध भये न भजै भगवान, विषै-विष खात अघात न क्यौं ही ॥ सीस भयौ बगुलासम सेत, रह्यो उरअंतर स्याम[1] अजौं ही । मानुषभौ मुकताफलहार, गँवार तगाहित[2] तोरत यौं ही ॥

(३२) संसारी जीवका चिंतवन ।

चाहत हैं धन होय किसी विध, तौ सब काज सरैं जियराजी । गेह चिनाय करूं गहना कछु, ब्याहि सुतासुत बाँटिये भाजी ॥ चिन्तत यौं दिन जाहिं चले, जम आनि

१. कालिमायुक्त । २. तागे (डोरे) के लिये ।

अचानक देत दगा जी। खेलत खेल खिलार गये, "रहि जाय रुपी शतरंजकी बाजी" ॥

(३३) मत्तगयंद (सवैया)

तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही। दास[1] खवास अवास[2] अटा[3] धन जोर करोरन कोश भरे ही ॥ ऐसे बढ़े तौ कहा भयौ हे नर, छोरि चले उठि अंत छरे ही। धाम खरे रहे काम परे रहे, दाम डरे रहे ठाम धरे ही ॥

(३४) अभिमान निषेध। कवित्त मनहर।

कंचन भंडार भरे मोतिनके, पुंज परे, घने लोग द्वार खरे मारग निहारते। जान चढि डोलत हैं झीने[4] सुर बोलत हैं, काहुकी हू ओर नीके ना चितारते ॥ कौलौं[5] धन खांगे कोऊ कहै यौं न लांगे तेई, फिरैं पाँय नांगे कांगे परपग[6] झारते। एते पै अयाने[7] गरवाने रहैं विभौ पाय, धिक है समझ ऐसी धर्म ना सँभारते ॥ ३४ ॥

(३५) कवित्त-मनहर॥

देखौ भरजोबनमैं पुत्रको वियोग आयौ, तैसैं ही निहारी निज नारी कालमगमैं। जे जे पुन्यवान जीव दीसत है या महीपैं, रंक भये फिरैं तेऊ पनहीं[8] न पगमैं ॥ एते पै

---

१. नाई २ मकान। ३. अटारी। ४. छोटी आवाजमे। ५. कब तक। ६ दूसरोंके पैर। ७. मूर्ख। ८ जूता।

अभाग धनजीतवसौं धरै राग, होय न विराग जानै रहूँगो अलगमैं। आँखिन विलोकि अंध सूसैकी अंधेरी करै, ऐसे राजरोगको इलाज कहा जगमैं ॥३५॥

(३६) दोहा।

जैनवचन अंजनवटी, आँजैं सुगुरु प्रवीन।
रागतिमिर तऊ ना मिटै, वड़ो रोग लख लीन ॥३६॥

(३७) कवित्त–मनहर।

जोई दिन कटै सोई आवमैं अवश्य घटै, बूंद बूंद बीतै जैसैं अंजुलीकौ जल है। देह नित छीन होत नैन तेजहीन होत, जोबन मलीन होत छीन होत बल है॥ आवै जरा नेरी[2] तकै अंतक[3]-अहेरी आवै, परभौ नजीक जात नर-भौ निफल है। मिलकै मिलापीजन पूंछत कुशल मेरी, ऐसी दशामाहीं मित्र! काहेकी कुशल है?

बुढ़ापा। (३८) मत्तगयंद (सवैया)।

दृष्टि घटी पलटी तनकी छबि, वंक भई गति लंक[4] नई है। रूठ रही परनी घरनी अति, रंक भयौ परियंक[5] लई है॥ काँपत नार[6] बहै मुख लार, महामति[7] संगति छांरि गई है। अंग उपंग पुराने परे, तिशना उर और नवीन भई है॥ ३८॥

---

१. जलजंतु। २. पास ३. रोगरूपी शिकारी। ४. नवकर (झुक कर) ५. पलंग, शैय्या। ६. गर्दन, ७. सुबुद्धि।

(३९) [illegible]

रूपको न खोज रह्यौ ज्यौं तुषार[1] [illegible] भार[2] किधौं रही डार [illegible] । कूबरी[3] भई है देह, ऊनरी[4] इतेक आयु [illegible] ॥ [illegible] नैं चिदालीनी जरानैं जुहार कीनी, [illegible] सबै बात ऊनीसी । तेज घट्यो ताव[6] घट्यो [illegible] घट्यौ और सब घट्यो एक तिस्ना दिन दूनी ॥ [illegible] इन आपने अभाग उदै नाहिं जानी, [illegible] दयारम-भीनी[7] है । जोबनके जोर थिर जंगम अनेक जीव, जानि जे सताये कछु करुणा न कीनी है ॥ तेई अब जीव-रास आकर परलोक पास, लेगे बैर देंगे दुख भई ना नवीनी है । उनहीके भयको भरोसौ जान कांपत है, याही डर "डोकरानैं लाठी हाथ लीनी है" ॥ ४० ॥ जाकौं इन्द्र चाहैं अहमिंद्रसे उमाहैं[8] जासों, जीव मुक्तमाहिं जाय भौ-मल बहावै है । ऐसौ नरजन्म पाय विष विष खाय खोयौ, जैसे कांच सांटै[9] मूढ मानक गमावै है ॥ मायानदी बूड़[10] भींजा कायाबल तेज छीजा आया पन तीजा[11] अब कहा बनि आवै है । तातैं निज सीस ढोलै नीचे नैन किये डोलै, कहा बढि बोलै वृद्ध वदन दुरावै[12] है ॥

१ बर्फ, पाला । २ ठूंठावृक्ष । ३ कमर । ४ दोहरी । ५ थोड़ीसी । ६. प्रताप । ७. सहित ८. उत्कंठित होते हैं । ९ बदले में । १० डूब कर । ११. बुढ़ापा । १२. कॉपने लगता है ।

जवानी की दुर्दशा। (४२) मत्तगयंद (सवैया)।

देखहु जोर जरा भटकौ, जमराज महीपतिकी अगवानी। उज्जल केश निशान धरैं, बहु रोगनकी संग फौज पलानी॥ कायपुरी तजि भाजि चल्यौ जिहि, आवत जोबन-भूप गुमानी[1]। लूट लई नगरी सगरी, दिन दोयमैं खोय है नाम निशानी॥ ४२॥

मनुष्य जन्मकी सार्थकता। (४३) दोहा।

सुमती हित तजि जोबन समय, सेवहु विषय विकार।
खल[2] सांटैं नहिं खोइये, जन्म-जवाहर सार॥ ४३॥

कर्तव्यशिक्षा। (४४) कवित्त मनहर।

देवगुरु सांचे मान सांचौ धर्म हिये आन, सांचौ ही बखान सुनि सांचे पंथ आव रे। जीवनकी दया पाल झूठ तजि चोरी टाल, देख ना विरानीबाल[3] तिसनाघटाव रे॥ अपनी बड़ाई परनिंदा मत कर भाई, यही चतुराई मद मांसकौ बचाव रे। साध षटकर्म साधसंगतिमैं बैठ वीर, जो है धर्मसाधनकौ तेरे चित्त चाव रे॥ ४४॥

चार रत्न। (४५) कवित्त मनहर।

सांचौ देव सोई जामैं दोषकौ न लेश कोई, वहै गुरु जाकैं उर काहूकी न चाह है। सही धर्म वही जहाँ करुणा

१ अभिमानी। २ दुष्ट, नीच। पत्थर। ३ दूसरों की लड़की।

प्रधान कही, ग्रंथ जहाँ आदि-अंत एकसौं निवाह है। ये ही जग रत्न चार इनकौं परख यार, सांचे लेहु झूठे डार नरभौकौ लाह है। मानुष विवेक विना पशुके समान गिना तातैं याहि बात ठीक पारनी सलाह है ॥ ४५ ॥

साचे देव का लक्षण। [४६] छप्पय।

जो जगवस्तु समस्त, हस्ततल जेम निहारैं।
जगजनको संसार-सिंधुके पार उतारैं ॥
आदि-अंत-अविरोधी, वचन सबको सुखदानी।
गुन अनंत जिहंमाहि, रोगकी नाहिं निशानी ॥
माधव महेश ब्रह्मा किधौं वर्धमान कै बुद्ध यह।
ये चिह्न जान जाके चरन, नमो नमो मुझ देव वह ॥४६॥

(५०) सप्तव्यसन। दोहा।

जूआखेलन मांस मद, वेश्या विसन शिकार।
चोरी पर-रमनी-रमन, सातौं पाप निवार ॥ ५० ॥

(५१) जुआ निषेध छप्पय।

सकल-पापसंकेत, आपदाहेत कुलच्छन।
कलहखेत दारिद्र देत, दीसत निज अच्छन ॥
गुनसमेत जस सेन, केत[1] रवि[2] रोकत जैसैं ॥
औगुन-निकर-निकेत, लेत लखि बुधजन ऐसैं ॥
जुआ समान इह लोकमैं, आन अनीति न पेखिये।

१ केतु विमान। २ सूर्य।

इम विसनरायके खेलकौ, कौतुकहू नहिं देखिये ॥५१॥

(५२) मांस निषेध—छप्पय ।

जंगम जियकौ नास, होय तब मांस कहावै ।
सपरस आकृति नाम, गन्ध उर घिन उपजावै ॥
नरकजोग निरदई खाहिं, नरनीचें अधरमी ।
नाम लेत तज देत, असन उत्तमकुलकरमी ।
यह निपटनिंद्य अपवित्र अति, कृमिकुलरासनिवास नित ।
आमिष[1] अभक्ष याको सदा, वरजौ दोष दयालचित ॥५२॥

(५३) मदिरानिषेध—दुर्मिल (सवैया)।

कृमिरास कुवास सराप[2] दहैं, शुचिता सब छीवत जात सही। जिहिं पान कियैं सुधि जात हियैं, जननी जन जानत नार यही। मदिरा सम आन निषिद्ध कहा, यह जान भले कुलमें न गही। धिक है उनको वह जीभ जलौ, जिन मूढ़नके मत लीन[3] कही ॥ ५३ ॥

(५४) वेश्या निषेध। दुर्मिल (सवैया)।

धनकारन पापनि प्रीति करै, नहिं तोरत नेह जथा तिनकौ, लव चाखत नीचनके मुँहकी, शुचिता सब जाय छियैं जिनको॥ मद मांस बजारनि खाय सदा, अंधले विसनी न करैं घिनकौं। गनिका संग जे सठ लीन भये, धिक है धिक है धिक है तिनको ॥ ५४ ॥

---

१. मांस। २. श्राप, शराब। ३. ग्रहण करना।

(५५) आखेट निषेध—कवित्त मनहर।

कानन में बसै ऐसो आन न गरीब जीव, प्रानन सौं प्यारौ प्रान पूँजी जिस यहै है। कायर सुभाव धरै काहूसौं न द्रोह करै, सबही सौं डरै दांत लियें तृन रहै है॥ काहूसौं न रोष पुनि काहू पै न पोष चहै, काहू के परोष[1] पर-दोष नाहिं कहै है॥ नेकु स्वाद सारिवे[2]कौं ऐसे मृग मारिवेकौं, हा हा रे! कठोर तेरो कैसें कर[3] वहै है॥

(५६) चोरी निषेध-छप्पय।

चिंता तजै न चोर, रहत चौंकायत सारै।
पीटै धनी विलोक, लोक निर्दई मिलि मारै॥
प्रजापाल करि कोप, तोपसौं रोप उड़ावै।
मरै महा दुख पेखि, अंत नीची गति पावै॥
अति विपतिमूल चोरी विसन, प्रगट त्रास आवै नज़र॥
परवित[4] अदत्त अंगार गिन, नीतनिपुन परसैं न कर।५६॥

(५७) परस्त्रीसेवन निषेध।

कुगतिवहन[5] गुनगहन, दहन दावानलसी है।
सुजसचंद्रघनघटा, देहकृशकरन छई है॥
धन-सर सोखन धूप, धरम-दिन-सांझ समानी।
विपतिभुजंगनिवास, वांबई वेद बखानी॥

---

१. परोक्ष। २. लेने के लिये। ३. तलवार, हाथ। ४ दूसरों का धन। ५. ले जाने वाली।

इहिविधि अनेक औगुनभरी, प्रानहरन फाँसी प्रबल।
मत करहु मित्र यह जान जिय, परवनितासौं प्रीति पल ॥५७॥

(५८) परस्त्रीत्याग प्रशंसा—दुर्मिल (सवैया)।

दिवि दीपक-लोये[1] बनी वनिता, जड़जीव[2] पतंग जहाँ परते। दुख पावत प्रान गँवावत हैं, बरजे न रहैं हठसौं जरते॥ इहि भाँति विचच्छन अच्छनके वश, होय अनीति नहीं करते। पर-ती[3] लखि जे धरती निरखैं, धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते ॥ ५८ ॥ दिढ़शीलशिरोमनि कारजमैं, जगमें जस आरज तेइ लहैं। तिनके जुगलोचन वारिज[4] हैं, इहि भाँति अचारज आप कहैं॥ परकामिनिकौ मुखचंद चितै, मुँद जाहिं सदा यह टेव गहै। धनि जीवन है तिन जीवनकौ, धनि माय उनै उरमांय[5] बहै ॥५९॥

(६०) कुशीलनिन्दा—मत्तगयंद (सवैया)।

जे परनारि निहारि निलज्ज, हँसैं विगसैं बुधिहीन बड़ेरे। जूठनकी जिमि पातर पेखि, खुशी उर कूकर होत घनेरे॥ है जिनकी यह टेव वहे, तिनकौ इस भौ अपकीरति है रे। ह्वै परलोकविषैं दृढ़ दंड, करै शतखंड सुखाचलकेरे ॥६०॥

१. दीपक की शिखा। २. अज्ञानी। ३. परस्त्री। ४. कमल। ५. हृदयमें।

(६६) कुकविनिन्दा।

राग उदै जग अंध भयो, सहजै सब लोगन लाज गँवाई। सीख बिना नर सीख रहे, विसनादिक सेवनकी सुघराई॥ तापर और रचैं रसकाव्य कहा कहिये तिनकी निठुराई। अंध असूझनकी अँखियानमें झोंकत हैं रज रामदुहाई॥

(६७)

कंचन कुंभनकी उपमा, कह देत उरोजनको कवि बारे। ऊपर श्याम विलोकत कै, मनिनीलम की ढकनी ढँकि छारे॥ यों सतबैन कहैं न कुपण्डित, ये जुग आमिषपिंड उघारे। साधन झार दई मुँह छार, भये इहि हेत किधौं कुच कारे॥

(६८) गुरु उपकार—कवित्त मनहर।

ढईसी सराय काय पंथी जीव बस्यो आय, रत्नत्रय निधि जापै मोख जाको घर है। मिथ्या निशि कारी जहाँ मोह अन्धकार भारी, कामादिक तस्कर समूहनकौ थर है॥ सोवै जो अचेत सोई खोवै निज संपदाकौं, तहां गुरु पाहरु पुकारैं दया कर है। गाफिल न हूजै भ्रात ऐसी है अँधेरी रात, "जाग रे बटोही यहाँ चोरनको डर है"॥

(६९) कषाय जीतनेका उपाय—मत्तगयंद सवैया।

छेम निवास छिमा-धुवनी बिन, क्रोध पिशाच उरै न

टरैगौ। कोमलभाव उपाव विना, यह मान महामद कौन हरैगौ। आर्जव-सार-कुठार विना छलबेल निकंदन कौन करैगौ। तोप शिरोमनि मंत्र पढ़े विन, लोभ फणी विष क्यौं उतरैगो ॥

(७०) मिष्ट वचन।

काहेको बोलत बोल बुरे नर, नाहक क्यों जस धर्म गमावै। कोमल वैन चवै किन ऐन, लगै कछु है न सवै मन भावै॥ तालु छिदै रसना न भिदै न घटै कछु अंक दरिद्र न आवै। जीभ कहैं जिय हानि नहीं तुझ जी सब जीवनकौ सुख पावै॥

(७१) धैर्यधारणोपदेश—कवित्त मनहर।

आयो है अचानक भयानक असाता कर्म, ताके दूर करिवेको बली कौंन अह रे। जे जे मन भाये ते कमाये पूर्व पाप आप, तेई अब आये निज उदयकाल लह रे॥ एरे मेरे वीर काहे होत है अधीर यामैं, कौऊकौ न सीर तू अकेलौ आप सह रे। भयें दिलगीर कछू पीर न विनसि जाय, ताहीतैं सयाने तू तमासगीर रह रे॥

(७२) होनहार दुर्निवार—कवित्त मनहर।

कैसे कैसे वली भूप भूपर विख्यात भये, वैरी कुल कांपे नेकु भौंहोंके विकारसौं। लंघे गिरि सायर[1] दिवा-

१ समुद्र।

थरसे[1] दिपैं जिनौं, कायर किये हैं भट कोटिन हुंकारसौं। ऐसे महामानी मौत आये हू न हार मानी, क्यौंही उतरे न कभी मानके पहारसौं। देवसौं न हारे पुनि दानवसौं न हारे और, काहूसौं न हारे एक हारे होनहारसौं॥

(७५) धैर्य शिक्षा—मत्तगयन्द सवैया।

जो धन लाभ लिलार लिख्यौ, लघु दीरघ सुकृतके अनुसारै। सो लहि है कछु फेर नहीं, मरुदेशके ढेर सुमेर सिधारै। घाट न वाढ़ कहीं वह होय, कहा कर आवन सोच विचारै। कूप कियौं भर सागरमें नर, गागर मान मिलै जल सारै॥

(७७) महामूढ़ वर्णन—कवित्त मनहर।

जीवन कितेक तामें कहा बीत बाकी रह्यौ, तापै अंध कौन कौन करै हेर फेर ही। आपको चतुर जानै औरनकौ मूढ़ मानै, सांझ होन आई विचारत सवेर ही॥ चामहीके चखनतैं चितवै सकल चाल, उरसौं न चौंवै कर राख्यौ है अँधेर ही॥ वाहै[2] वान तानकै अचानक ही ऐसौ जम, दीस[3] है मसान थान हाड़नकौ ढेर ही॥

(८१) चौबीस तीर्थंकरोंके चिह्न—छप्पय।

गऊपुत्र[4] गजराज, वाज[5] वानर, मनमोहै।
कोक[6] कमल सांथिया, सोम[7] सफरीपति[8] सोहै॥

१. सूय। २ चलावै। ३. दिखना। ४. बैल। ५ घोड़ा। ६. चकवा। ७ चन्द्रमा। ८. मगर।

सुरतरु गैंड़ा महिष, कौल[1] पुनि सेही जानौं।
वज्र हिरन्न अज[2] मीन, कलश कच्छप उर आनौं ॥
शतपत्र[3] शंख अहिराज हरि[4], रिषभदेव जिन आदि ले।
श्रीवर्द्धमानलौं जानिये, चिन्ह चारु चौवीस ये ॥८१॥

(८९) द्रव्यलिंगी मुनि-मत्तगयंद सवैया।

शीत सहैं तन धूप दहैं, तरुहेट रहैं करुना उर आनैं। झूठ कहैं न अदत्त गहैं, वनिता न चहैं लव लोभ न जानैं ॥ मौन गहैं पढ़ि भेद लहैं, नहिं नेम जहैं व्रत रीति पिछानैं। यौं निबहैं पर मोख नहीं, विन ज्ञान यहै जिन-वीर बखानैं ॥८९॥

(९०) अनुभव प्रशंसा-कवित्त मनहर।

जीवन अलप आयु बुद्धि बल हीन तामैं, आगम अगाधसिंधु कैसें ताहि डाक है। द्वादशांग मूल एक अनुभौ अपूर्व कला, भवदाघहारी घनसारकी[5] सलाक[6] है ॥ यह एक सीख लीजै याहीको अभ्यास कीजै, याकौ रस पीजै ऐसो वीरजिन-वाक है। इतनो ही सार ये ही आतमको हितकार, यही लौं मदार[7] और आगैं ढूक-ढाक है ॥

---

१. सुअर, २. बकरा, ३. कमल, ४. सिंह, ५. कपूर ६. सुई, ७. काम की बात।

महाचंद जैन भजनावली

(२६)

निज घर नाय पिछान्या रे, मोह उदय होने तें मिथ्या भर्म भुलाना रे ॥ निज० ॥ टेक ॥ तूं तो नित्य अनादि अरूपी सिद्ध समाना रे। पुद्गल जड़में राचि भयो तूं मूर्ख प्रधाना रे ॥ निज० ॥ १ ॥ तन धन जोबिन पुत्र वधू आदिक निज माना रे। यह सब जाय रहन के नांई समझ सियाना रे ॥ निज० ॥ २ ॥ बालपने लड़कन संग जोबिन त्रिया जवाना रे। वृद्ध भयो सब सुधि गई अब धर्म भुलाना रे ॥ निज० ॥ ३ ॥ गई गई अब राख रही तू समझ सियाना रे। बुद्ध महाचन्द्र विचारि जिन पद नित्य रमाना रे ॥ निज० ॥ ४ ॥

(२७)

भाई चेतन चेत सकै तो चेत अब नातर होगी खुवारी रे ॥ भाई० ॥ टेक ॥ लख चौरासीमें भ्रमता भ्रमता दुरलभ नरभव धारी रे। आयु लई तहॉं तुच्छ दोपंत पंचम काल मझारी रे ॥ भाई० ॥ १ ॥ अधिक लई तब सौ-बरसनकी आयु लई अधिकारी रे। आधी तो सोनेमे खोई तेरा धर्म ध्यान बिसरारी रे ॥ भाई० ॥ २ ॥ बाकी रही पचास वर्षमें तीन दशा दुखकारी रे। बाल अज्ञान जवान त्रियारस वृद्धपने वलहारी रे ॥ भाई० ॥

॥ ३ ॥ रोग अरु शोक संयोग दुःख बसि बीतत हैं दिन सारी रे। बाकी रही तेरी आयु किती अब सो तैं नाहिं बिचारी रे ॥ भाई० ॥ ४ ॥ इतने ही में किया जो चाहै सो तू कर सुखकारी रे। नहीं फँसेगा फंद बिच पंडित महाचन्द्र यह धारी रे ॥ भाई० ॥ ५ ॥

(२८)

जीव तू भ्रमत भ्रमत भव खोयो जब चेत भयो तब रोयो ॥ जीव० ॥ टेर ॥ सम्यकदर्शन ज्ञान चरण तप यह धन धूरि बिगोयो। विषय भोग गत रसको रसियो छिन छिनमें अति सोयो ॥ जीव० ॥ १ ॥ क्रोध मान छल लोभ भयो तब इन ही में उर भोयो। मोहरायके किंकर यह सब इनके बसि है लुटोयो ॥ जीव० ॥ २ ॥ मोह निवार संवारसु आयो आतम हित स्वर जोयो। बुध महाचन्द्र चन्द्रसम होकर उज्ज्वल चित्त रखोयो ॥ जीव० ॥ ३ ॥

जिनेश्वर पद संग्रह

(१६) लावनी राग भैरवी मे

अपना भाव उर धरना प्यारे जी, अपना भाव सुख-दान बड़ा। अपना भाव जिनने उर धारा, तिन पाया शिव थान बड़ा ॥ टेर ॥ नर भव पाय चतुर मति चूकै, यह मौका हितदान बड़ा। जो करना सो निजहित करलैर,

चिंतामन सम ज्ञान बड़ा ॥ अपना० ॥ १ ॥ धन जोबन बादल की छाया जो छिनमें नलचाता है। इन ही भावन-तैं सुन प्यारे, कर्म अरी भरमाता है ॥ अपना० ॥ २ ॥ धन संबंध कुटम्ब की आशा, इन सबमें तू न्यारा है। ये जड़ प्रगट अचेतन प्यारे, तू सब जाननहारा है ॥ अपना० ॥ ३ ॥ रागद्वेष मदमोह छोड़कै, वीतराग परनाम किया। पूरन ब्रह्म परम पद पावन, आप 'जिनेश्वर' सरन लिया ॥ अपना० ॥ ४ ॥

(१९) राग मरेठी।

जगतकी झूठी सब माया, अरे नर चेत वक्त पाया ॥ टेर ॥ कंचन बरनी कामिनी, जोबनमें भरपूर। अंतर-दृष्टि निहारते, मलमूरत मशहूर, कुधी नर इनमें ललचाया ॥ अरे नर० ॥ १ ॥ लक्ष्मी तो चंचल बड़ी, बिजलीके उनहार। याके फंदतैं बचोजी, अपनी करो सम्हार, विवेकी मानुष भव पाया ॥ अरे नर० ॥ २ ॥ स्वच्छ सुगन्ध लगायके, करके सब सिंगार। तिहँ तनमें तू रति करैजी, सो शरीर है छार, वृथा क्यों इनमें ललचाया ॥ अरे नर० ॥ ३ ॥ तन धन ममता छांडिकै, राग दोष निरवार, शिव मारग पग धारियेजी, धर्म जिनेश्वर सार, सुगुरु ने ऐसे बतलाया ॥ अरे नर० ॥ ४ ॥

(२६) पद राग रेखता।

आपके हिरदे सदा, सुविचार करना चाहिये। जापकर

निजरूपका निरधार करना चाहिये ॥ टेक ॥ त्यागकैं परकी झलक, निज भावको निरखा करो । चढ़ि वीतरागता शिखर फिर ना उतरना चाहिये ॥ आप० ॥ ॥ १ ॥ धारिकैं समता सहज, तज दीजिये ममता सबै । लोभविषयनिकेविषैं, नाहक ना गिरना चाहिये ॥आपके०॥ ॥ २ ॥ जान निजपरको सजन, कल्यानकी सूरत यही । संसार-सागर पार यों, जल्दीसे तिरना चाहिये ॥ आप० ॥ ३ ॥ श्रद्धा समझकर आचरन, जिनराजका मारग यही । हितदाय जिनेश्वर धर्मको, इख्त्यार करना चाहिये ॥ आप० ॥ ४ ॥

(२४) रेखता ।

जिनधर्म रत्नपायके, स्वकाज ना किया ।

नरजन्म पायके वृथा, गमाय क्यों दिया ॥ टेर ॥

अरहंतदेव सेव सर्व सुक्खकी मही, तजके कुधी कुदेवकी अराधना गही ॥ पण अत्त तो परतच्छ, स्वच्छ ज्ञानको हरैं, इनमें रचे कुजीव जे, कुजोनिमैं परैं ॥ जिन० ॥१॥ परसंगके परसंगतैं, परसंग ही किया । तजके सुधास्वरूपको, जलखार ही पिया ॥ जिनधर्ममद मोह काम लोभकी, झकोरमें परो । तज इनको ये वैरी बड़े, लखि दूरसे डरो ॥ जिन० ॥ २ ॥ हिरदै प्रतीत कीजिये, सुदेव धर्मकी । तजि रागदोष मोह, औ कुटेव कर्मकी ॥ सजि वीतरागभाव जो,स्वभाव आपना । विधिवंध फंदके निकंद [illegible]

आपना ॥ जिन० ॥ ३ ॥ मनका मता निरोध, बोध सोध लीजिये। तजि पुण्य पाप बीज, आप खोज कीजिये॥ सद्धर्मका यह भेव श्री, गुरुदेव ने कहा। शिववास काज यों, जिनेशदासने कहा ॥ जिन० ॥ ४ ॥

(२२) पद राग ख्याल।

मति वृथा गमावै, सहजा नहिं पावै, मानुष जन्मको ॥ टेर ॥ मानुष जन्म निरोगी काया, उरविवेक चतुराई। धर्म अधर्म पिछान किये बिन, काम कछू नहिं आई जी ॥ मति वृथा० ॥१॥ जिनवर धर्म दिगंबर ताकों, यदि उर धरनों भाई। तौ आगम अनुसार देवगुरु, तत्त्वपरखि सुख-दाई जी ॥ मति वृथा० ॥२॥ खान पान अरु विषयभोगके, सेवनकी चतुराई। कूकर शूकर पशु भी करते, यामें कहा बड़ाई जी ॥ मति वृथा० ॥३॥ क्षणभंगुर विषयनिके काजै, निर्भय पाप कमावै। है नर करत कहा अनरथ यह, शुभ-शिक्षा न सुहावै जी ॥ मति वृथा० ॥४॥ बहुविधि पाप करत हरखावै, सब कुटंब मिल खावै। दुख पावै जब नरक धरामैं, कोइयन काम जु आवै जी ॥ मति वृथा०॥५॥ मानुष देह रतनसम पाकर, जो निजहित करवावै। कहत 'जिनेश्वर'सो नरभवके, धारनकौ फल पावैजी ॥मति वृथा०॥६

मनमोदनपंचशती

(कविवर छत्रपति विरचित)

चार आराधना ग्रहण-शिक्षा।

सवैया इकतीसा।

नरभव रत्नदीप आय चिदानंद! कहा, मिथ्यापथ काच-खंड संग्रह करत हौ। कुगुरु कुदेव कुशासनसे न ठग आन, पाय श्रुतज्ञान इन वश क्यों परत हौ॥ इन वश नर नारकादि परजायनिमें, जनमि जनमि फिरि फिरि क्यों मरत हौ। सम्यक दरश ज्ञान चारित दुविधि तप, रतन अमोल काहे हिये न धरत हौ॥ ३३॥

ज्ञानी पुरुष संपत्ति-विपत्तिमें हर्ष-विषाद नहीं करते

जैसें भानु[1] उदै अर अस्त समै रक्त रूप, कोषवान[2] धन आत-जात एक रूप है। तैसें बुध संपति विपति माँहिं समरूप, हरष विषाद दोऊ जानें भ्रम कूप है॥ जौलौं मोह करमकों नाश नाँहिं सरवथा, तौलौं परनामनिमें रहै दौरधूप है। ज्ञान औ विराग बल रोकि सब आस्रवकों, बंधकों विदारि हाल होय शिवभूप है॥ ७३॥

ज्ञानीके वस्तुस्वभावका विचार।

जीवन मरण लाभ हानि जस अपजस, तन धन [3]परि-

१. सूर्य। २. खजांची। ३. परिजन-परिवार।

यन सब आन आन हैं। निज निज परिणामरूप सब परिणामें, अन्यथा न होय कहैं भाषौं भगवान हैं ॥ काहूमैंतैं काहुकौ सँयोग वा वियोग होउ, मेरे तो न यासैं कछु विरधै[1] न हानि हैं। मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव अविनाशी सदा, उपज खपज[2] विधि[3] उदैं परवान हैं ॥ ८५ ॥

यथार्थ ज्ञानका लक्षण ।

जथारथ ज्ञान जब फुरै इस आतमके, तब ये चिहन आपै आप प्रघटत हैं। भवतन भोगनसैं सहज विराग भाव इन्द्रिय दमन पुनि लोभ उछटत है ॥ मूयेकौ न शोक अनहूयेकौ न सोच जाके, अभय अक्रोध मन वाकौ सुलटत है। दिल ह्वै उदार धरै दया वृष लाजभार, प्राणीजात प्यार उनमग[4] उलटत है ॥ ८६ ॥

शिक्षा ।

तोहि इतनी ही वात करनी जरूर भ्रात, और बनों न बनों हमैं न कछू डर है। जुक्ति नै[5] प्रमाणकरि वस्तु कौ स्वरूप जानि, स्वपर पिछान करि भावना प्रवर है ॥ परी जो अनादि थकी परविषैं ममताकी, वानि निरवारि दुख अनोकुह[6] जर है। एतेहीमें सब सिद्धि वसु रिद्धि नव निधि, या विना न सिद्धि सब क्रिया दोष-घर है ॥९२ ॥

---

१. वृद्धि । २ नाश । ३. कर्म । ४. मिथ्यामार्ग । ५. नय । ६. वृक्ष ।

ज्ञानविषैं रमण करनेकी शिक्षा।

देखि तेरे घटमें अखंड ज्ञान पुञ्ज जोति, जाग रही जो प्रकासै सदा आप परकों। तीक्ष्ण स्वभाव जाको सरब तरफ मुख, सब ज्ञेय ग्रसिवेकी धरैं शक्ति सरकों॥ सौहे तेरौ अंग, नहिं दूसरौ प्रसंग करि; दोषतें असंग हरि भरम अवरकों। ताहिं विषैं रमि विषैवासनाकों वमि विधि-आवरन गमि बेगि जाउ शिवघरकों॥ ९७॥

दुःखका कारण।

लोक थिति ज्ञेय विधि उदै अनुसार सब, अपने स्वभावरूप परिणमें सब ही। तहाँ मोह उदै करि निज चाह अनुसार, परिणाया चाहे वे न परिणव कब ही॥ होय तब आतुर विषादित विशेषपने, बेवैं नहीं चाह त्याग सुख गुर रवहीं। याही हेत थकी भूत वर्तमान दुखी भयौ, भावी दुखी होय यो न संसै कछु फबही॥ ११३॥

अपनी भूलसे दुःखी।

जैसें मदकरी[1] जो उगलि निज मुख तार, आपुही उलझि बहु दुखी होय मरै है। जैसैं मूढ़ शुक[2] गहि नलिनीकौं नीचौ होय, पर करि गृह्यो मानि पींजरामें परै है॥ जैसें कांच-भौन स्वान भूँसि भूँसि तजै प्रान, दीपककौं

[1] मकड़ी। [2] तोता।

हित मानि पर्त्तैं दौं करे है। तैसें यह जीव भूलि आपनों स्वभाव पर,-वस्तु अपनाय नाहुन्ति दुःख भरे है ॥१२३॥

संगतिका माहात्म्य।

देखौ स्वाति बूँद सीप मुख परी मोती होय, केलिमें कपूर बांस मांहि वंसलोचन। ईखमें मधुर पुनि नीममें कटुक रस; पन्नगके[1] मुख परी होय प्रान मोचना॥ अंबुज[2] दलनिपरि[3] परी मोती सम दिपै, तपत तवेंपे परी नसै कछु सोचना। उतकिट मध्यम जघन्य जैसौ संग मिलै, तैसौ फल लहै मति पोच मनि सोचना ॥१२७॥

अपराधीको मोक्ष नहीं होती।

हानि लाभ, जीवन मरण, जस अपजसः सुख दुख, जयहार, इनका जुगल है। आपकरि औरनके औरकरि आपनकें,-भये मानें सरवथा बुधिकौं न बल है॥ कारज औ कारण सरूपकी न पहचानि, जाके ज्ञान नैननमें छायौ मोहमल है। सो है अपराधी जिन आतम सकति बांधी; वासी भवभौनके न लहै मोख थल है॥ १५६॥

आठ वस्तुओंको धिक्कार है।

धिक वह राज जामें निसदिन चिंत रहै, धिक रंकपन जासौं सेवा पर करिये। धिक वह लक्षि बहु वैरकी करन

1. सर्प। 2 कमल। 3. पत्तो पर।

हार; धिक अधनत्व जामें पेट हू न भरिये ॥ धिक वह भोग जासौं कुगति गमन होय; धिक है अभोग जहाँ चाह नाहिं टरिये । धिक वह सुरवास जासौं फेरि आगम हो; धिक वह धर्म जासौं भवभेष धरिये ॥ १७९ ॥

मनुष्यका शरीर काने सांठेके समान है ।

यह नरतन घुन करि खाये साँटे सम; दुखरूप गाँठनसौं भरौ सखत्र है । मूलमें न रस अवसानमें[1] विरस अर; मध्यकी अवस्था भरी व्याधिसौं विचित्र है ॥ विषै रस लोभसौं विगारौ तौ विगारौ कोई; जामें नहीं रस स्वाद महा अपवित्र है । लगाय धर्म साधनमें करौ परभव बीज; तो अपार सार सुख भोगौ यकछत्र है ॥ २१५ ॥

सुख दुःखका मूल कारण ।

होय मनचाही तहाँ मानत जगत सुख; अनचाही होय वहाँ दुख मानियत है । चाही अनचाही नहीं अपने पराये वश; भवितव्य अर विधि सब आनियत है ॥ सुख दुख हेत माँहीं राग-द्वेष परिणाम, याही भ्रमकरि विधि बंध ठानियत है । जहाँ राग-द्वेष नाहिं तहाँ सुख दुख नाहिं; सुख दुख मूल राग-द्वेष जानियत है ॥ २३० ॥

लोक-प्रवृत्ति और धर्म विधि ।

कोई देखादेखी कोई कुलकी प्रवृत्ति सारू; अलप

१. अन्तमे ।

विशेष धर्म क्रिया आचरत हैं। कोई लाज कोई काज कोई भय पंच राज; कोई ख्याति लाभ हेत तनसौं करत हैं। सो न धरमातम धरम न स्वभाव ज्ञाता; ममतामगन सो न भव उधरत हैं। नय अंग प्रमाण जुक्ति आगमसौं ठीक पाड़ि; गहै सोई भव्य भवसागर तरत हैं॥ २६१॥

मगरूरीका निषेध।

जनमौं है जीव जोय मरैगा अवश्य सोय; राखि न सकैगौ कोय कालके करारपै। देह नसि जायगी विभूतिहू पलायगी औ; सुजन सँघाती कोई ठहरै न ढारपै॥ लोक विवहार इसौ सुपनेकौ हाल जिसौ; इन्द्रजाल ख्याल तिसौ तह नदी पारपै। ऐसी अल्प थिरतापै कहा मगरूरी वीर; काय भी जरूर अब सुहित समारपै॥ २६५॥

धनवानकी दशा।

बाहिजकी दृष्टिथकी देखत धनकौ धनी; दीखत सरव सुखरूप जाकी दशा है। अंतरंग दृष्टि करि, देखौ नेंकनीके करि, यातें उपरांत कौंन दुख माँहि फँसा है॥ राजडर पंचडर आगिडर चोरडर; दुर्जन उपाधि डर करि मन कसा है। जैसें पट भूषणादि नाना भाँति भोग रुजू; पीड़ौ वात विथाकौ पुरुषकी जों बसा है॥ २६७॥

तिर्यचोंके दुःख।

महाशीत महाताप महारोग तन व्याप; पीठपर भार दूरि

देश तक चलना। तन असमरथ औ परै है पराये वश; सहत कुबोल मार खात पल कल ना॥ पीड़े भूख प्यासके न थिरता गहत छिन; काटत मसक[1] डाँस काग कछु सल ना। तीक्ष्ण कषाय बड़ी चाहैं पै न मिलै कछु, धिग पशु-भव जामें रहै नित जलना॥ २७१॥

देह की दशा।

कारागार[2] सम यह देह तासौं कहा नेह; अस्थिरूप[3] थूल पाषाणनिसौं सँवारी है। बेढ़ी नसाजाल करि पूरित रुधिर मांस; चाम करि आवरत मलमूत क्यारी है। सड़न स्वभाव खान पानके अधार बहु, रोगनिसौं भरी दुख दोष-निसौं भरी है। रची विधि बेरी धरैं आयुरूप वैरी अति, अंद्र अँधेरी तौऊ लगै तोहि प्यारी है॥ २७९॥

महा अशुभ।

अशुभके उदै निज तेजका अभाव होय, ताहूतें विशेष पच्छि अभावमें गनिये। धनका अलाभ पुनि उद्यम अभाव माँहिं; अधिक अधिक पाप कर्म उदै मानिये॥ साहस और तनच्छेम बल बुद्धि नाश विषैं, सवतें अधिक पाप उदै अनुमनिये। तातें ह्वै हुस्यार तजि मनके विकार वीर:महा-दुःख दोषकार पापहेत हनिये॥ २८७॥

---

१ मच्छर। २ कैदखाना। ३ हड्डी।

सराहनारूप उराहना।

प्रथम कलेशमूल तन मनबंध तेरे, बात पित्त कफ आदि बहु रोग घर है। पीड़ क्षुधा तृषा शीत उष्णकौ न धरै धीर; कुमित कुगंध अपवित्र मल धर है॥ शुभ औ अशुभ हानि वृद्धि पापकर्मफलः उदै रूप तेरे हरदम दुख-कर हैं। स्वजन सँघाती परमारथके घाती अरे, धन्नि तेरी छाती एतेपर प्रीत बर है॥ २८९॥

तन, धन, जनकी अवस्था।

शरद के बादल ज्यों देखत विनसि जाय, पापकौं उपाय पैरै जोरै कहा धनकौं। हाड़ मांस मूत बीठ[1] भरौ बहु दोषनसौं, रोगनकौं थान कहा पोषे इम तनकौं॥ पैरै पाप मारगमें स्वारथके संग सब, काहे अपनावत है वादि[2] इन जनकौं। आई मौति नेरे अब सांझ वा सबेरे एरे, फेरत न काहे वृप और निज मनकौं॥ २९०॥

धर्ममें दृढ करनेकी शिक्षा।

विषै-सुख-तजैं कष्टथकी वृप साधन ह्वै, ऐसौ भय मानि न विमुख होउ अब ही। धर्म सुख कारण है सुख धर्म कारज है, कारण न कारज विरोधी होय कब ही॥ कार-णतै कारजकी सिद्धि सरवथा जानि, चूकौ न कदाचि यों

1 विष्टा। 2 वृथा।

बखानैं जन सब ही। तातैं तजि आलस अनादर धरम माँहिं, होउ सावधान यों उचारै गुरुव[1] ही ॥ ३०७ ॥

धर्मकी शिक्षा।

बसत निगोद वास बीतौ है अनंतकाल, काललब्धि पाय लहि विधि[2] उपशमता। धरि भूमि तेज वायु अनोकुह[3] नीरकाय[4], विकलचतुक माँहिं काल बहु गमता ॥ नारक त्रयग माँहिं कायधरी बहुभेव, नरभौ मिलाप ज्यों उकालौं[5] बीज जमता। पाप क्यों गुमावत अकारथ अयान मीत, करै क्यों न परम धरम गहि समता ॥३११॥

धर्मात्माका सुख।

जिनकैं प्रवृत्ति एकदेशहू धरमकी है, तिनकैं न धन तौऊ सुखी चक्रधरतें। विषै भोग वस्तु छते अनछते समरूप, सरधै न सुख दुख होना कभी परते ॥ गईकौ न सोच जाकैं आगेकी न चाह कछू, वर्तमान जैसें तैसें वरतैं उकरतें। मोहकी मरोरमें सदैव सावधान रहै, अरिनके सनमुख जैसें सूर अरतें ॥ ३१५ ॥

धर्मका स्वरूप।

रहित त्रिदोष आतम सुभाव धरमके, दृग ज्ञान चारित त्रिभेद गुण बरना। संशै मोह विभ्रम रहित सरधान दृग,

१ गुरुकी वाणी। २ कर्म। ३ वृक्ष। ४ जलकाय। ५ भुना हुआ।

त्योंही ज्ञान चारित्र आचरणौ निवरना ॥ एकदेश सर्वदेश असंख्यात लोकभेद, तातें विशेष विवहार धर्म निरना । भवते उधारि धरै अगाध नक्षत्र मॉहिं, तातें धर्म साधनमें आलस न करना ॥ २१७ ॥

धर्मके प्रति प्रेरणा ।

जैसें निज तन मन धनके उपायवेमें, हरदम रुज् राखै भावना हू नित रे । तैसें कहूँ महूरत मन वृप साधनमें, थिर करि राखै तौ कितेक भव थित रे ॥ जहाँ दृग ज्ञान उपभोगमें न राग-द्वेष, सोई उतकिट वृष केवली उकत[1] रे । नै-प्रमाण जुगतिसों साधिकरि गहौ भव्य, दहौ भ्रमभाव होउ जीवन[2]-मुकत रे ॥ ३२२ ॥

विषयी प्रति शिक्षा ।

अरे विषयानुरागी चिदानंद यार ! तोहि, कहा वार वार सीख कहूँ तेरे हितकी । तोहि न रुचति जानैं कहा हौंनहार तेरौ, कठिन कठोर पलटै न गति चितकी ॥ मिलै जलसंग पै न गहै रंच अंग जैसें, चक्रमक कंजदल[3] मथनी घिरतकी । भयौ बेशरम तोहि कहेकी न गम हियें, करै न नरम बात बूझै न विरतकी ॥ ३३४ ॥

---

१ कहते है । २ अरहन्त । ३ कमलपत्र ।

वीतराग देवकी ही भक्ति करना चाहिये।

राग द्वेष आश्रित जगत दुःख सुख सब, जाके सुख मान्य ते अयान भव भवके। इनहींके हेत सेवैं राग द्वेष धर देव, आप हो दुखित ते निवारू दुख कवके ॥ जे हैं वीतराग सब ज्ञायक सजोगी जिन, मुख बैंन सरधासौं काज सरै सबके। तिनहीकौ पूजन भजन सुमिरन सदा, करनौं निरालस ह्वै मिले दिन बढ़के ॥ ३५६ ॥

सन्तोष।

मन वच काय कृत कारितानुमत जोग, किये जो करम उदै पात्र[1] करि जितनौं। जौंन देश जौंन विधि जौंन काल माँहिं जेतौ, रुजू लाभ वारि[2] भरि लेह कीनि तितनौं ॥ काहेकौं अनेक देश गिरि वन बन फिरै, ममता निवारि थिर करौ नित चितनौं। मिलेगौ न बाधि[3] काहे करत प्रपंच घने, रुजूमें संतोष धरौ जीवन है कितनौं ॥३६८।

स्त्रियोंका स्वभाव।

क्रोध करि भरी सदा निरदै स्वभाव जाकौ, बोलै मृषा बैंन सब जगतकौं छला है। कलह करत सुख सुलहमें मानें दुःख, कहै कटु वैंन मुख मानौं सर सला है ॥ कृपण कठोर चलै अशुभकी ओर पर,-कृतिकौं विसारि करै मन कलमला

१ वर्तन। २ जल। ३ अधिक।

है। बाहिजतैं भली अतरंग दोपनिसौं रली, ऐसी नारि नागिनीतैं दूर वास भला है ॥ ३७४ ॥

विशेष विचार।

षटद्रव्य गुण परजाय तत्त्वचिन्तवन, नय परमान स्यादवाद रु चलावना। गुणथान चौदै जीवथान चौदै मारगणा, भेद बहु तिन परभावकी लगावना॥ कुलकोड़ि भेद जौनिभेद गति भेद क्रिया, भेद विधि भेद आदि भावकौ लखावना। अथवा सकल संकलप विकलप मेंटि, शुद्ध ज्ञानघन आप आपुमे समावणा॥ ४२० ॥

गृहवासका निषेध।

कहा गृहाश्रम विषैं सुखके अरथ वीर, उद्यम करत भूरि रातिदिन जक[1] ना। हलनिसौं भूमि भेदि बीज बोहि दुखी होय, तेगबांधि राजानिके पाय सेवै शंक ना॥ लेखन वनज वृत्ति औरहू अनेक कृत्ति, करत धनास वश बहु अघ चक्र ना। सुखकौ न लाभ सदा दुखकौ वढाउ मित्र, तातैं तजि धनचाह शांतिरस छक्ना॥ ४२७ ॥

बारह भावना।

परजै न ध्रुव, न सरन, जग दुख रूप, सुख दुख भोगै एक दूसरौ न सीर है। पुदगल जीव भिन्न, तन है अशुचि

१ चैन।

छिन्न, मन वच काय जोग आश्रव जंजीर है ॥ जोगकौ निरोध सोई संवर लखौ सबोध, उदै देय खिरै विधि निर्जरा गहीर है। षट द्रव्यमयी लोक, दुर्लभ स्वपरबोध, वस्तु स्वभाविक धर्म हरै सब पीर है ॥ ४३५ ॥

ज्ञान दर्पण

परपदमें आपा मानना भूल है।

सवैया ३१ सा

मानि परपद आपौ भूले ए अनादिहीके, ऐसे जग-वासी (निजरूप) न संभारे हैं। घरहीमैं सासतो निरंजन जो देव बसै, ताकौं नहीं देखैं तातैं हितकौं निवारे हैं ॥ जोति निजरूपकी न जागी कहुँ हीयेमाहिं, यातैं सुखसागर सुभावकौं विसारे हैं। देशना जिनेंद्र 'दीप' पाय जब आपा लखैं, होइ परमातमा अनंत सुख धारै हैं ॥१८॥

जीव अपनी भूलसे ही दुःखी है।

निहचै निहारत ही आतमा अनादिसिद्ध, आप निज भूलिहीतैं भयौ विवहारी है। ज्ञायक सकति जथाविधि सो तौ गौण्य दई, प्रगट अज्ञानभाव दसा विसतारी है ॥ अपनौ न रूप जानै औरहीसौं और मानै, ठानै भवखेद निज रीति न सँभारी है। ऐसै तो अनादि कहौ कहा साध्य सिद्धि अब, नैक हूँ निहारौ निधि चेतना तुम्हारी है ॥ ४७ ॥

देव जिनराजसे अनादिके बताए आए, तैसो उपदेश हम कहाँलौं बतावैंगे। महा अजान ते सरूपकी चितौनी चुके, अनुभौसौं केतेई भवमें भ्रमावैंगे। एतौ हू कथन कीएँ लागें जो न उरमाहीं, तिनसे कठोर नर और न कहावैंगे। कहै 'दीपचंद' पद आदि देकैं कोऊ सुनौ, तत्त्वके गहैया भव्य भवपार पावैंगे ॥ ५० ॥

आत्मपद ही उपादेय है।

आगम अनादिकौ अनादि यौं बतावतुहैं, तिहूंकाल तेरो पद तोहि उपादेय है। याहीतैं अखंड ब्रह्मंडकौ लखैया लखि, चिदानंद धारैं गुणछन्द सोही धेय है ॥ तूतौ सुखसिंधु गुणधाम अभिराम महा, तेरौ पद ज्ञान और जानि सब ज्ञेय है। एक अविकार सार सबमैं महंत सुद्ध, ताहि अवलोकि त्यागि सदा पर हेय है ॥ ८४ ॥ याही जगमाहिं ज्ञेय भावकौं लखिया ज्ञान, ताको धरि ध्यान आन काहे पर हेरै है। परके संयोगतैं अनादि दुख पाए अब, देखि तू सँभारि जो अखंड निधि तेरै है ॥ वाणी भगवानकीकौं सकल निचोर यहै, समैसार आप, पुण्य पाप नहिं नेरै है। यातैं यह ग्रंथ सिव-पंथको सधैया महा, अरथ विचारि गुरदेव यौं परेरै हैं ॥ ८५ ॥ व्रत तप सील संजमादि उपवास क्रिया, द्रव्य भावरूप दोउ बंधकौं करतु हैं। करम जनित तातैं करमकौ हेतु महा, बंधहीकौं करैं

मोत्तपंथकौं हरतु हैं ॥ आप जैसो होइ ताकौं आपकै समान करै, बंधहीकौ मूल यातैं बन्धकौं भरतु हैं। याकौं परंपरा अति मानि करतूति करैं, तेई महामूढ़ भव-सिंधुमैं परतु हैं ॥८६॥ कारण समान काज सब ही बखानतु है, यातैं परक्रियामाहिं परकी धरणि है। याहीतैं अनादि द्रव्य क्रिया तौ अनेक करी, कछु नाहिं सिद्धि भई ज्ञानकी परणि है ॥ करमकौं वंस जामैं ज्ञानकौ न अंश कोउ, बढ़ै भववास मोत्त-पंथ की हरणि है। यातैं परक्रिया उपादेय तौ न कही जाय, तातैं सदा काल एक बंधकी ढरणि है ॥ ८७ ॥ पराधीन बाधायुत बंधकी करैया महा, सदा विनासीक जाकौ ऐसौ ही सुभाव है। बंध उदै रसफल जीमैं च्यारयौं एक रूप, सुभ वा असुभ क्रिया एक ही लखाव है ॥ करमकी चेतनामैं कैसें मोत्तपंथ सधै, मानैं तेई मूढ़ हीए जिनकै विभाव है। जैसो बीज होय ताकौ तैसो फल लागै जहाँ, यह जगमाहिं जिन-आगम कहाव है ॥ ८८ ॥ क्रिया सुभ कीजे पै ममता न धरीजे कहूं, हूजे न विवादी यामैं पुण्य भावना ही है। कीजे पुन्यकाज सो समाज सारो परहीको, चेतनाकी चाहि नाहिं सधै याकै याही है ॥ याकौं हेय जानि उपादेयमैं मगन हूजै, मिटै है विरोध वाद रहै न कहाँ ही है। आठों जाम आतमाकी रुचिमैं अनंत सुख, कहै 'दीपचन्द' ज्ञान भावहू तहाँ ही है ॥ ८९ ॥

परसैं अपनापन दुःखका कारण है।

करमकलंक लगि आयौ है अनादिहीकौ, यातैं नहिं पाई ज्ञानदृष्टि परकाशनी। गति गति माहिं परजायहीकौं आपो मान्यौ, जान्यौ न सरूपकी है महिमा सुभासनी। [illegible] नाना बंध करै जहाँ, परि परफंद थिति [illegible]। भेदज्ञान भयमैं सरूपमैं संभारि देखी, [illegible] निधि महा चिदानंदकी विलासनी ॥ १०४ ॥ महा रमणीक ऐसौ ज्ञान जोति मेरौ रूप, सुद्ध निज रूपकी अवस्था जो धरतु है। कहा भयौ चिरसौं मलीन ह्वैकै आयौ तौउ, निहचै निहारे परभावन करतु है॥ मेघ घटा नभ माहिं नाना भाँति दीसतु है, घटासौं न होय नभशुद्धता धरतु है। कहै 'दीपचन्द' तिहुँलोक प्रभुताई लीए, मेरे पद देखे मेरौ पद सुधरतु है॥ १०५ ॥ काहे परभावनमैं दौरि दौरि लागतु है, दसा परभावनकी दुखदाई कही है। जनमाहिं दुःख परसंगतैं अनेक सहे, तातैं परसंग तोकौं त्याग जोगि सही है॥ पानीके विलोएँ कहुँ पाइए घिरत नाहिं, काच न रतन होय ढूंढौ सब मही है। यातैं अवलोकि देखि तेरे ही सरूपकी सु- महिमा अनंतरूप महा बनि रही है ॥१०६॥

बहिरात्मा-कथन।

मणिके मुकुट महा सिरपै विराजतु हैं, हीए माहिं हार

नाना रतनके पोए हैं। अलंकार और अंग-अंगमैं अनूप बने, सुन्दर सरूप दुति देखैं काम गोए हैं॥ सुरतरु कुंज-निमैं सुरसंघ साथ देखैं, आवत प्रतीति ऐसे पुण्य बीज बोए हैं। करमके ठाठ ऐसैं कीने हैं अनेकबार, ज्ञान बिनु भए यौं अनादिहीके सोए हैं ॥ ११८ ॥ सुर परजायनिमैं भोग भाव भए जहाँ, सुख रंग राचौ रति कीनी परभावमैं। रंभा हाव भावनिको निरखि निहारि देखैं, प्रेम परतीति भई रमणिरमावमैं ॥ देखि देखि देवनिके पुंज आय पाँय परैं, हियमैं हरष धरैं लागिनि लगावमैं। पर परपंचनिमैं संचिकै करम भारी, संसारी भयौ फिरै जु परके उपा-वमैं ॥११९॥ रमणि रमावमाहिं रति मानि राच्यौ महा, मायामैं मगन प्रीतिकरै परिवारसौं। विषैभोगसौंज विषतुल्य सुधापान जानै, हित न पिछानै बंध्यौ अति भवभारसौं॥ एक इंद्री आदिलै असैनी परिजंत जहाँ, तहाँ ज्ञान कहाँ रुक्यौ करम विकारसौं। अबै देव गुरु जिनवाणीकौ संजोग जुरयौ, सिवपंथ साधौ करि आतमविचारसौं॥ १२३ ॥ आगतैं पतंग यह जलसेती जलचर, जटाके बढाएँ सिद्धि ह्वै तौ बट धरै हैं। मुण्डनतैं उरणिये नगन रहेतैं पशु, कष्टकौं सहेतैं तरू कहुँ नाहिं तरै हैं॥ पठनतैं शुक बक ध्यानके किये तैं कहुँ सीझै नाहिं सुनै यातैं भवदुख भरै हैं। अचल अबाधित अनुपम अखंड महा, आतमीक ज्ञानके लखैया सुख करैं हैं ॥ १८२ ॥

ब्रह्मविलास

पुण्यपचीसिका।

सवैया

काहेको क्रूर तू क्रोध करै अति, तोहि रहै दुख संकट घेरें।
काहेको मान महा शठ राखत, आवत काल छिनै छिन नेरे॥
काहेको अंध तु बंधत मायासों, ये नरकादिकमें तुहि गेरें।
लोभ महादुख मूल है 'भैया' तु चेतत क्यों नहिं चेत सवेरे॥११॥

कवित्त

जेते जग पाप होंहि अधरमके व्याप होंहि, तेते सब कारजको मूल लोभरूप है। जेते दुखपुंज होंहि कर्मनके कुन्ज होंहि, तेते सब बंधनको मूल नेहरूप है॥ जेते बहु रोग होंहि व्याधिके संयोग होंहि, तेते सब मूलको अजारन अनूप है। जेते जग मर्ण होंहि काहूकी न शर्ण होंहि, तेते राग रूपको शरीरनाम भूप है॥ १२॥

सवैया

काहेको क्रूर तु भूरि सहै दुख, पंचनके परपंच भरवाये।
ये अपने अपने रसको नित पोखतु हैं तोहिलोभ लगाये॥
तू कछु भेद न बूझतु रंचक, तोहि ठगा करि देत बंधाये।
है अबके यह दाव भलो नर! जीतले पंच जिनंद बताये॥१५॥
हे नर अंध तु बंधत क्यों निज, सूझत नाहिं कै भंग खई है।
जे अघ संचतु है नित आपको, ते तोहि सौंज करैंगे गई है॥

ये नरकादिकमें तोहि डारिके, देहैं सजा बहु ऐसी भई है।
मानत नाहिं कहूँ समुझाय, सु तोकों दई मति ऐसी दई है॥१६॥

मात्रिक कवित्त

देख तु दृष्टि विचार अभ्यंतर, या जगमहिं कछु साँचो आह। मात तात सुत बन्धव वनिता, इनसो प्रीति करै कित चाह॥ तन यौवन कंचन औ मंदिर, राजरिद्ध प्रभुता पद काह। ये उपजैं अपनी थितिसंजुत, तू कित नाथ होंहि शठ ताह॥ १८॥

सवैया

चेतन ऐसेमें चेतत क्यों नहि, आय बनी सबही विधि नीकी। है नरदेह यो आरज खेत, जिनंदकी बानि सु बूंद अमीकी॥ तामें जु आप गहो थिरता तुम, तौ प्रगटै महिमा सब जीकी। जामें निवास महासुखवास सु, आय मिलै पतियाँ शिवतीकी॥२३॥

कवित्त

ग्रीषममें धूप परै तामें भूमिभारी जरै, फूलत है आंक पुनि अतिही उमहिकैं। वर्षाऋतु मेघ झरै तामें वृक्ष केई फरै, जरत जमासा अघ आपुहीतें डहिकैं॥ ऋतुको न दोष कोऊ पुण्य पाप फलै दोऊ, जैसें जैसें किये पूर्व तैसें रहै सहिकैं। केई जीव सुखी होंहि केई जीव दुखी होंहि, देखहु तमासो 'भैया' न्यारे नैकु रहिकै॥२४॥

ज्ञानअष्टोत्तरी कवित्तबंध

छप्पय

रसनाके रस मीन, प्राण पलमाहिं [illegible] ।
अलि नासा परसंग, रैन बहु [illegible] ॥
मृग करि श्रवण सनेह, देह [illegible] ।
दीपक देख पतंग, दृष्टि हित [illegible] ॥
फरसइंद्रिवस करि परयो, कौन [illegible] ।
एक एक विषवेलिसम, पंचन सेय तु सुख चहै ॥ ५ ॥

कवित्त

जैसो वीतराग देव कह्यो है स्वरूपसिद्ध, तैसो ही स्वरूप मेरो यामें फेर नाहीं है। अष्टकर्म [illegible] मोमें कहूँ नाहिं, अष्ट गुण मेरे सो तौ [illegible] हैं ॥ ज्ञायक स्वभाव मेरो तिहूँ काल मेरे पास, गुण जे अनंत तेऊ सदा मोहि माहीं हैं। ऐसो है [illegible] मेरो तिहूँ काल सुद्धरूप, ज्ञानदृष्टि देखतैं न दूजी परछांहीं है ॥६॥ ज्ञानप्रान तेरे नाहि नेरे तौ न-जानत हो, आनप्रान मानि आनरूप मानि रहे हो। आतमके वंशको न अंश कहूँ खुल्यो कीजै, पुग्गलके वंशसेती लागि लहलहे हो ॥ पुग्गलके हारे हार पुग्गलके जीते जीत, पुग्गलकी प्रीति संग कैसे बहबहे हो। लागत हो धाय धाय लागै न उपाय कछु, सुनो चिदानंदराय कौन पंथ गहे हो ॥ ९ ॥ सुनो राय

चिदानंद कहोजु सुबुद्धि रानी, कहैं कहा बेर बेर नेकु तोहि लाज है। कैसी लाज कहो कहाँ हम कछू जानत न, हमें इहाँ इन्द्रनिको विषै सुख राज है।। अरे मूढ़ विषैसुख सेये तू अनन्ती बेर, अज हूं अघायो नहिं कामी सिरताज है। मानुष जनम पाय आरज सुखेत आय, जो न चेतै हंसराय तेरो ही अकाज है ।। १४ ।। जीवन कितेक तापै सामा तू इतेकु करै, लक्ष कोटि जोर-जोर नैकु न अघातु है। चाहतु धराको धन आन सब भरों गेह, यो न जानै जनम सिरानो मोहि जातु है ।। कालसम क्रूर जहाँ निश-दिन घेरो करै, ताके बीच शशा जीव कोलों ठहरातु है। देखतु है नैननिसों जग सब चल्यो जात, तऊ मूढ चेतै नाहिं लोभै ललचातु है ।। १८ ।। कहाँ हैं वे वीतराग जीते जिन रागद्वेष, कहाँ हैं वे चक्रवर्ति छहो खंडके धनी। कहाँ हैं वे वासुदेव युद्धके करैया वीर, कहाँ हैं वे कामदेव काम-कीसी जे अनी।। कहाँ हैं वे राजा राम रावनसे जीते जिन, कहाँ हैं वे शालिभद्र लच्छि जाके थी घनी। ऐसे तो कईक कोटि ह्वै गये अनंती बेर, डेढ दिन तेरी वारी काहेको करै मनी ।। १९ ।। सुनिरे सयाने नर कहा करै घर घर, तेरो जु शरीरघर घरी ज्यों तरतु है। छिन छिन छीजे आय जल जैसें घरी जाय, ताहूको इलाज कछु उरहू धरतु है।। आदि जे सहे हैं ते तौ यादि कछु नाहि तोहि, आये कहो

कहा गति काहे उछरतु है। घरी एक देखो ख्याल घरीकी कहाँ है चाल, घरी घरी घरियाल शोर यों करतु है ॥२०॥

शतअष्टोत्तरी

कवित्त

पाय नरदेह कहो कीनों कहा काम तुम, रामारामा धनधन करत विहातु है। कैक दिन कैक छिन रहि है शरीर यह, याके संग ऐसें काज करतु सुहातु है॥ जानत है यह घर मरवेको नाहि डर, देख भ्रम भूलि मूढ फूलि मुसकातु है। चेतरे अचेत पुनि चेतवेको नाहि ठौर, आज कालि पींजरेसों पंछी उड़ जातु है ॥ २१ ॥ कौन तुम कहाँ आये कौनें वौराये तुमहिं, काके रस रसे कछु सुधहू धरतु हो। कौन हैं ये कर्म जिन्हे एकमेक मानि रहे, अजहूं न लागे हाथ भाँवरी भरतु हो॥ वे दिन चितारो जहाँ वीते हैं अनादिकाल, कैसे कैसे संकट सहेहु विसरतु हो। तुम तो सयाने पैं समान यह कौन कीन्हो, तीनलोकनाथ ह्वैके दीनसे फिरतु हो ॥ ३० ॥

सवैया

वे दिन क्यों न चितारत चेतन, मातकी कूखमें आय परे हो। ऊरध पाँव लगे निशिवासर, रंच उसासनिको तरसे हो॥ आउसंयोग वचे कहुँ जीवत, लोगनिकी तव

दृष्टि लसे हो। आजु भये तुम यौवनके वस, भूल गये कितनैं निकसे हो ॥ ३२ ॥

कवित्त

देखत हो कहाँ कहाँ केलि करै चिदानंद, आतम स्वभाव भूलि और रस राच्यो है। इन्द्रिनके सुखमें मगन रहै आठों जाम, इन्द्रिनके दुख देखि जाने दुख सांच्यो है ॥ कहूँ क्रोध कहूँ मान कहूँ माया कहूँ लोभ, अहं भाव मानि मानि ठौर ठौर माच्यो है। देव तिरजंच नर नारकी गतिन फिरै, कौन कौन स्वांग धरै यह ब्रह्म नाच्यो है ॥ ३९ ॥ कोउ तौ करै किलोल भामिनीसों रीझि रीझि, वाहीसों सनेह करै कामराग अंगमें। कोउ तौ लहै अनंद लक्ष कोटि जोरि जोरि, लक्ष लक्ष मान करै लच्छिकी तरंगमें ॥ कोउ महा शूरवीर कोटिक गुमान करै, मो समान दूसरो न देखो कोऊ जंगमें। कहैं कहा 'भैया' कछु कहिवेकी बात नाहिं, सब जग देखियतु रागरस रंगमें ॥ ४१ ॥ जौलों तुम और रूप ह्वै रहे हो चिदानंद, तौलो कहूँ सुख नाहिं रावरे विचारिये। इन्द्रिनिके सुखको जो मानि रहे सांचो सुख, सो तौ सब दुःख ज्ञानदृष्टिसों निहारिये ॥ ए तौ विनाशीक रूप छिनमें औरै स्वरूप, तुम अविनाशी भूप कैसें एकु धारिये। ऐसो नरजन्म पाय नैकु तो विवेक कीजै, आप रूप गहि लीजै कर्मरोग टारिये ॥ ४२ ॥ जीवैं जग जिते

जन तिन्हैं सदा रैन दिन, सोचत ही छिन छिन काल छीजियतु है। धन होय धान होय, पुत्र परिवार होय, बड़ो विसतार होय जस लीजियतु है॥ देहहू निरोग होय सुखको संयोग होइ, मनवांछे भोग होय जौलों जी जियतु है। चहै वांछा पूरी होइ पै न वांछे पूरी होय, आयु थिति पूरी होइ, तौलों कीजियतु है॥४५॥ सात धातु मिलन है महादुर्गन्ध भरी, तासों तुम प्रीति करी लहत अनंद हौ। नरक निगोदके सहाई जे करन पंच तिनहीकी सीख संचि चलत सुछंद हौ॥ आठों जाम गहै काम रागरसरंगराचि, करत किलोल मानों माते ज्यों गयंद हौ। कछू तौ विचार करो कहाँ कहाँ भूले फिरो, भलेजू भलेजू "भैया" भले चिदानंद हौ॥ ४६॥

सवैया।

ए मन मूढ़ कहा तुम भूले हो, हंस विसार लगे पर-छाया। यामें स्वरूप नहीं कछु तेरो जु, व्याधिकी पोट बनाई है काया॥ सम्यकरूप सदा गुण तेरो सु, और बनी सब ही भ्रम माया। देखत रूप अनूप विराजत सिद्धसमान जिनंद बताया॥ ४७॥ केवलरूप विराजत चेतन, ताहि विलोकि अरे मतवारे। काल अनादि वितीत भये, अजहूँ तोहि चेत न होत कहा रे॥ भूलि [illegible] फिरवो, अब तौ दिन च्यारि भये ठकुरारे। [illegible]

रह्यो अच्छनिके संग, 'चेतत क्यों नहिं चेतनहारे'' ॥ ५० ॥
बालक है तब बालकसी बुधि, जोबन काम हुतासन[2] जारे।
वृद्ध भयो तब अंग रहे थकि, आये हैं सेत गये सब कारे ॥
पाँय पसारि पर्‍यो धरतीमहिं, रोवै रटै दुख होत महा रे।
बीती यों बात गयो सब भूलि तू, 'चेतत क्यों नहिं चेतन-
हारे' ॥५१॥ बालपनैं नित बालनके सँग, खेल्यो है ताकी
अनेक कथारे। जोबन आप रस्यो रमनी रस, सोउ तौं
बात विदीत यथारे ॥ वृद्ध भयो तन कंपत डोलत, लार परै
मुख होत विथारे। देखि शरीरके लच्छन भैया तु, 'चेतत
क्यों नहिं चेतनहारे' ॥५२। तू ही जु आय बस्यो जननी
उर, तू ही रम्यो नित बालकतारे। जोबनता जु भई पुनि
तोहिको, ताहीके जोर अनेक तैं मारे ॥ वृद्ध भयो तु ही
अंग रहै सब, बोलत बैन कहै तुतरारे। देखि शरीरके
लच्छण भैया तु, 'चेतत क्यों नहिं चेतनहारे' ॥५३॥ औरसों
जाइ लग्यो हित मानिके, वाहिके संग सुज्ञान विडारे।
काल अनादि बस्यो जिनके ढिग, जान्यो न लच्छण ये
अरि सारे ॥ भूलि गयो निजरूप अनूपम, मोह महामदके
मतवारे। तेरो हु दाव बन्यो अबके तुम, 'चेतत क्यों नहिं
चेतनहारे' ॥ ५४ ॥ काहेको देहसों नेह करै तुअ, अंतको
राखी रहैगी न तेरी। मेरी है मेरी कहा करै लच्छिसों,

१. समस्यापूर्ति—'चेतत क्यो नहि चेतनहारे'। २. अग्नि।

काहुकी ह्वैके कहूँ रही नेरी ॥ मान कहा रह्यो मोह कुटुम्बमों, स्वारथके रस लागे सगेरी । तातैं तू चेति विचक्षन चेतन, झूंठी है रीति सब जगकेरी ॥१००॥ जो परलीन रहे निशि-वासर, सो अपनी निधि क्यों न गमावे । जो जगमाहिं लखै न अध्यातम, सो जिय क्यों निहचै पद पावै ॥ जो अपने गुन भेद न जानत, सो भवसागरमें फिर आवे । जो विष खाय सो प्राण तजै, गुड़ खाय जो काहे न कान बिंधावे ॥१०१॥

दुर्मिल सवैया, ८ सगण ।

भगवंत भजो सु तजो परमाद, समाधिके संगमें रंग रहो । अहो चेतन त्याग पराइ सु बुद्धि, गहो निज शुद्धि ज्यों सुक्ख लहो ॥ विषया रसके हित बूडत हो, भवसागरमें कछु शुद्धि गहो । तुम ज्ञायक हो षट् द्रव्यनके, तिनसों हित जानिके आपु कहो ॥ १०२ ॥

कुण्डलिया ।

सुखमें मग्न सदा रहै, दुखमें करै विलाप ।
ते अजान जाने नहीं, यहै पुन्य अरु पाप ॥
यहै पुण्य अरु पाप, आप गुन इनतैं न्यारो ।
चिद्विलास चिद्रूप, सहज जाको उजियारो ॥
गुण अनंत जामैं प्रगट, कबहु होहिं न और रूख ।
तिहिं पद परसे बिनु रहै, मूढ मगन संसारसुख ॥१०४॥

द्रव्यसंग्रह

कवित्त।

व्यौहार नै देखिये तो पुग्गलके कर्मफल, नाना भाँति सुख दुःख ताको भुगतैया है। उपजाये आपुतैं ही शुभ औ अशुभ कर्म ताके फल साता औ असाताको सहैया है॥ निश्चै नय देखिये तो यह जीव ज्ञानमई, अपने चेतन परिणामको करैया है। तातैं भोक्ता पुनि सुचेतन परिणामनिको, शुद्धनै विलोकिये तो सबको लखैया है॥ ९॥

फुटकरकविता,

प्रश्नोत्तर दोहा।

कौन ज्ञान विन आवरन, कौन देव विन राग। कौन साधु निर्ग्रन्थ है, कौन व्रती जिहँ त्याग॥ १७॥

परमार्थपदपंक्ति,

१। राग-भैरो।

या देहीको शुचि कहा कीजे, जासों धोइये सोइपै छीजै॥ या देही०॥ टेक॥ १॥ जो जो धोइये सो सो भरी, देखहु दृष्टि विचारके खरी॥ या देही०॥ २॥ दशों द्वार निशिवासर बहनी, कोटि जतन किये थिर नहिं रहनी॥ या देही०॥ ३॥ तत्त्व यहै आतमरस पीजै, परगुण त्याग जलंजलि दीजे॥ या देही०॥ ४॥

[illegible]

९ । राग [illegible] ।

[illegible] ॥ अरे नं० ॥ टेक ॥ [illegible] नरभव पायो रे । [illegible] भटकि भटकि भरमायो रे ॥ ॥ [illegible] ॥ १ ॥ [illegible] तोको मिलिवो यह दुर्लभ, दश दृष्टान्त[1] [illegible] रे । जो चेते तो चेत रे 'भैया' तोको [illegible] रे ॥ अरे० ॥ २ ॥

१० । राग धमाल गौड़ी ।

कहा परदेशीको पतियारो ॥ कहा० । टेक । मन मानै तब चलै पंथको, सांज गिनै न सकारो । [illegible] छांड़ि इनही पुनि, त्याग चलै तन प्यारो ॥ कहा० । १ ॥ दूर दिसावर चलत आपही, कोऊ न राखन हारो । कोऊ प्रीति करो किन कोटिक, अंत होयगो न्यारो । कहा० । २ ॥ धनसों राचि धरमसों भूलत, झूलत मोह मझारो । इहि विधि काल अनंत गमायो, पायो नाहिं भवपारो । कहा० ॥ ॥ ३ ॥ सांचे सुखसों विमुख होत है, भ्रम मदिरा मतवारो । चेतहु चेत सुनहुरे 'भइया', आप ही आप संभारो ॥ कहा० ॥ ४ ॥

---

१. मनुष्यभवकी दुर्लभता दिखानेके लिये जिनमतमें दश दृष्टान्तस्वरूप कथायें हैं उनके द्वारा ।

१६ । राग केदारो ।

कहो परसों प्रीति कीन्हीं, कहा गुण तुम जान । चतुर चेतन चित विचारो, कहहुँ पुनि पहिचान ॥ १ ॥ वे अचेतन तुम सुचेतन, देखि दृष्टि विनान । परहिं त्याग स्वरूप गहिये, यहै बात प्रमान ॥ २ ॥

२१ । राग अडानो ।

हो चेतन वे दुःख विसरि गये ॥ टेक ॥ परे नरकमें संकट सहते, अब महाराज भये । सूरी सेज सबै तन वेदत, रोग एकत्र ठये ॥ हो चे० ॥ १ ॥ करत पुकार परम पद पावत, कर मन आनंदये । कहूँ शीत कहूँ उष्ण महाभुवि, सागर आयु लये ॥ हो चे० ॥ २ ॥

कालाष्टक । दोहा ।

तिहुं पुरके पुरहूत सब, बंदत शीश नवाय । तिहँ तीर्थंकर देवसों, बचत नाहिं यमराय ॥ १ ॥ जिनकी भ्रूकें फरकतें, कंपत सुरनरवृन्द । तेहू काल छिनमें लये, जो योधा सुर इन्द्र ॥ २ ॥ जाकी आज्ञामें रहैं, छहों खंडके भूप । ता चक्रीधरको ग्रसै, काल महा भयरूप ॥ ३ ॥ नारायण नरलोकमें, महा शूर बलवंत । तीन खंड आज्ञा वहै, तिनैहु काल ग्रसंत ॥ ४ ॥ औरहु भूप बलिष्ट जे, वसत याहि जगमाहिं । तेहु कालकी चालसों, बचत रंच कहुँ नाहिं ॥ ५ ॥ तातैं काल महाबली, करत सबनपै जोर ।

धन धन सिध परमात्मा, जिहँ कीनो इह भोर ॥ ६ ॥ ऐसे काल बलिष्टको, जो जीतै सो देव । कहत दास भगवंतको, कीजे ताकी सेव ॥ ७ ॥ काल बसत जगजालमें, नूतन करत पुरान । 'भैया' जिहँ जग त्यागियो, नमहुँ ताहि धर ध्यान ॥ ८ ॥

उपदेशपचीसिका

चौपाई

सिद्ध समान न जाने आपा, तातैं तोहि लगत है पापा ॥ खोल देख घट पटहिं उघरना । एते पर एता क्या करना ॥ २२ ॥ श्रीजिनवचन अमल रस बानी । पीवहिं क्यों नहिं मूढ़ अज्ञानी ॥ जातैं जन्म जरा मृत हरना । एते पर एता क्या करना ॥ २३ ॥ जो चेतै तो है यह दावो । नाहीं बैठे मंगल गावो ॥ फिर यह नरभव वृक्ष न फरना । एते पर एता क्या करना । २४ ॥ 'भैया' विनवहि बारं-बारा । चेतन चेत भलो अवतारा ॥ ह्वै दूलह शिव नारी वरना । एते पर एता क्या करना ॥ २५ ॥

दोहा ।

ज्ञानमयी दर्शनमयी, चारितमयी स्वभाय । सो परमातम ध्याइये, यहै सु मोक्ष उपाय ॥ २६ ॥

अनित्य पचीसिका ।

दोहा ।

परचो कालके गालमें, मूरख करै गुमान । देहैं छिनमें

दाव जो, निकस जांहिंगे प्रान ॥२॥ लागो है जम जीवको, बोलत ऐसें गाजि। आज कालमें लेतहूँ, कहाँ जाहुगे भाजि ॥ ४ ॥ आज काल जम लेत है, तू जोरत है दाम। लच्छ कोटि जो धर चलै, ऐहै कौनै काम ॥ ६ ॥ दुःखित सब संसार है, सुखी लखै नहिं कोय। एक सुखित जिन धर्म है, जिहँ घट परगट होय ॥ १० ॥ जाके परिग्रह बहुत है, सो बहु दुखके माहिं। बिन परिग्रहके त्यागतैं, परसों छूटै नाहिं ॥ १२ ॥

कवित्त।

नरदेह पाये कहो कहा सिद्धि भई तोहि, विषै सुख सेयें सब सुकृत गमायो है। पंच इन्द्रि दुष्ट तिन्हें पुष्टकर पोष राखे, आय गई जरा तब जोर बिललायो है॥ क्रोध मान माया लोभ चारों चित रोक बैठे, नरक निगोदको संदेसो वेग आयो है। खाय चल्यो गांठको कमाई कोडी एक नांहिं, तोसो मूढ दूसरो न ढूंढयो कहूँ पायो है ॥११॥ वर्ष सौ पचास माहिं एते सब मर जाहिं, जे तें तेरी दृष्टि-विषै देखतु है बावरे। इनमेंको कोऊ नाहिं बचवेको काल पाँहिं, राजा रंक छत्री और शाह उमराव रे॥ जमहीकी जमा माँहि घरी पल चले जाहिं, घटै तेरी आव कछु नाहिं को उपाव रे। आज काल्हि तोहूको समेट काल गाल माहिं, चावि जैहै चेत देख पीछें नाहिं दांव रे॥ २१ ॥

सुपंथकुपंथपचीसिका।

कवित्त।

छयानवें हजार नार छिनकमें दीनी छार, अरे मन ता निहार काहे तू डरत है। छहों खंडकी विभूति छाड़त न वेर कीन्हीं, चमू चतुरंगनसों नेह न. धरत है॥ नौ निधान आदि जे चउदह रतन त्याग, देह सेती नेह तोर वन विचरत है। ऐसी विभो त्यागत विलंब जिन की·हों नाहिं, तेरे कहो केती निधि सोच क्यों करत है॥ २६॥

मोहभ्रमाष्टक।

दोहा।

एक मोहकी मगनसों, भ्रमत सबहि संसार।
देखै अरु समझै नहीं, ऐसो गहल गँवार। २॥

कवित्त।

मोहके भरमसों करम सब करै जीव, मोहकी गहलमें जगत सब गाइये। मोह धरै देह परनेह परसों जु करै, भरमकी भूलमें धरम कहाँ पाइये॥ चरमकी दृष्टिसों परम कहूँ पेखियत, मोहहीकी भूल यह भरम भ्रमाइये। चेतन अचेतनकी जाति दोऊ भिन्न भिन्न, मोह एकमेक लखै "भैया" यों।बताइये॥ ३॥ बापुरे विचारे मिथ्यादृष्टि जीव कहा जानै, कौन जीव कौन कर्म कैसें के मिलाप है। सदा काल कर्मनसों एकमेक होय रहै, भिन्नता न भासी

कौन कर्म कौन आप है ॥ यह तो सर्वज्ञ देव देख्यो भिन्न भिन्नरूप, चिदानंद ज्ञानमयी कर्म जड़ व्याप है। तिहँ भाँति मोह हीन जानै सरधानवान जैसो सर्वज्ञ देखौ तैसो ही प्रताप है ॥ १० ॥

पुण्यपापजगमूल पचीसिका।

कवित्त।

चामके शरीर माहिं वसत लजात नाहिं, देखत अशुचि तोउ लीन होय तनमें। नारि बनी काहेकी बिचार कछु करै नाहिं, रीझि रीझि मोह रहै चामके वदनमें ॥ लक्ष्मीके काज महाराज पद छांड़ देत, डोलत है रंक जैसें लोभकी लगनमें। तन रूसी आयुपै उपाय कई कोटि करै जगतके वासी देखे हांसी आवै मनमें ॥ ४ ॥ नागरिन[1] संग केई सागरन केलि करी, राग रंग नाटक सों तोऊ न अघाये हो। नर देह पाय तुम आयु पल्य तीन पाई, तहाँहू विषै कलोल नानाभाँति गाये हो ॥ जहाँ गये तहाँ तुम विषैसों विनोद कीन्हों, ताहीतैं नरकमें अनेक दुख पाये हो। अजहूं सम्हारि विषै डार क्यों न चिदानंद, जाके संग दुःख होय ताहीसों लुभाये हो ॥ ८ ॥ जहाँ तोहि चलनो है साथ तू तहाँको ढूंढि, इहाँ कहाँ लोगनसों रह्यो तू लुभाय रे। संग तेरे कौन चलै देख तू विचार हिये, पुत्र

१. देवांगनाओंके।

के कलत्र धन धान्य देह काय रे ॥ जाके काज पाप कर भरत है पिंड निज, ह्वै है को सहाय तेरे नर्क जब जाय रे । तहाँ तो अकेलो तू ही पाप पुण्य साथी दोय, तामें भलो होय सोई कीजे हंसराय रे ॥ ९ ॥ जौलों तेरे ज्ञान नैन खुले नाहिं चिदानंद, तौलों तुम मोहवश सूरदास[1] ह्वै रहे । हरके पराये प्रान पोषत हो देह निज, कहो यह कौन धर्म कौन पंथ लै रहे ॥ पापके कियेमों कछु पुण्य नाहीह्वै है तोहि, एतो हू विचार नाही ऐसे ज्ञान खवै रहे । नर्कमें परैगो कौन ? संकट सहैगो कौन ?, अजहूँ सम्हारो क्यों न कौन नींद स्वै रहे ॥ १० ॥ सोवत अनादि काल बीत्यो तोहि चिदानंद, अजहूं सम्हार किन मोहनींद खोयके । सोयो तू निगोद मांहि ज्ञान नैन मूंद आप, सोयो पंच थावरमे शक्तिको समोयके[2] ॥ विकलत्रै देह पाय तहाँ तू ही सोय रह्यो, सोयो न प्रमान धर वाही रूप होयके । पंच इन्द्री विषै मांहिं मग्न होय सोय रह्यो, खोयो तैं अनंतो काल याही भाँति सोयके ॥ ११ ॥

जिनधर्मपचीसिका ।

कवित्त ।

जासों कहै घर तामैं डर तौ कईक तोहि, मङ्गल विसार हंस विषै रस लाग्यो है । गिरवेको डर ... डर

---

१. अंधे । २. संकोचके ।

आगि पानीहूको, वस्तु राखवेको डर चौर डर जाग्यो है॥ पेट भरवेको डर रोग शोक महाडर, लोकनिकी लाज डर राजडर पाग्यो है। डर जमराजहूको डारि तूं निशंक भयो, जैसें मोह राजाने निवाज तोहि दाग्यो है॥ १८॥ रागी द्वेषी देख देव ताकी नित करै सेव, ऐसो है अबेव ताको कैसें पाप खपनो?। राग रोग क्रीडा संग विषैकी उठै तरंग, ताहिमें अभंग रैन दिना करै जपनो॥ आरति औ रौद्र ध्यान दोऊ किये आगेवान, एतेपैं चहै कल्यान दैके दृष्टि ढपनो। अरे मिथ्याचारी तैं विगारी मति गति दोऊ, हाथ ले कुल्हारी पांय मारत है अपनो॥ १९॥ सुन मेरे मीत तू निचिंत ह्वैके कहा बैठो, तेरे पीछे काम शत्रु लागे अति जोर हैं। छिन छिन ज्ञान निधि लेत अति छीन तेरी, डारत अंधेरी भैया किये जात भोर हैं॥ जागवो, तो जाग अब कहत पुकारें तोहि, ज्ञान नैन खोल देख पास तेरे चोर हैं। फोरके शकति निज चोरको मरोर बाँधि, तोसे बलवान आगें चोर ह्वैकै को रहैं॥२३॥

वैराग्यपचीसिका।

(भैया भगवतीदासजी कृत)

दोहा।

रागादिक दूषण तजे, वैरागी जिनदेव। मन वच शीस नवायकैं कीजे तिनकी सेव॥ १॥ जगत मूल यह राग है,

मुक्ति मूल वैराग । मूल दुहुनको यह कह्यो, जाग सकै तो जाग ॥ २ ॥ क्रोध मान माया धरन, लोभ सहित परिणाम । ये ही तेरे शत्रु हैं, समुझो आतमराम ॥ ३ ॥ इनही च्यारों शत्रुको, जो जीतै जगमाहिं । सो पावहि पथ मोक्षको यामें धोखो नाहिं ॥ ४ ॥ जा लच्छीके काज तू, खोवत है निज धर्म । सो लच्छी सँग ना चलै, काहे भूलत भर्म ॥ ५ ॥ जा कुटुम्बके हेत तू, करत अनेक उपाय । सो कुटम्ब अगनी लगा, तोको देत जराय ॥ ६ ॥ पोपत है जा देहको, जोग त्रिविधिके लाय । सो तोको छिन एकमें, दगा देय खिर जाय ॥ ७ ॥ लच्छी साथ न अनुसरै, देह चलै नहिं संग । काढ काढ़ सुजनहि करै, देख जगत के रंग ॥ ८ ॥ दुर्लभ दश दृष्टान्त सम, सो नरभव तुम पाय । विषय सुखनके कारने, सर्वस चले गमाय ॥ ९ ॥ जगहिं फिरत कइ युग भये, सो कछु कियो विचार । चेतन अवतो चेतहू, नरभव लहि अतिसार ॥ १० ॥ ऐसे मति विभ्रम भई, विषयनि लागत धाय । कै दिन कै छिन कै घरी, यह सुख थिर ठहराय ॥ ११ ॥ पी तो सुधा स्वभावकी, जी ! तो कहूँ सुनाय । तू रीतो क्यों जातु है, बीतो नरभव जाय ॥ १२ ॥ मिथ्यादृष्टि निकृष्ट अति, लखै न इष्ट अनिष्ट । भ्रष्ट करत है शिष्टको, शुद्ध दृष्टि दै पिष्ट ॥ १३ ॥ चेतन कर्म उपाधि तज, राग द्वेषको संग । ज्यों प्रगटै परमातमा, शिव सुख होय अभंग

॥ १४ ॥ ब्रह्म कहूँ तो मैं नहीं, छत्री हूँ पुनि नाहिं। वैश्य शूद्र दोऊ नहीं, चिदानंद हूँ माहिं ॥ १५ ॥ जो देखै इहि नैनसों, सो सब विनस्यो जाय। तासों जो अपनो कहै, सो मूरख शिरराय ॥ १६ ॥ पुद्गलको जो रूप है, उपजै विनसै सोय। जो अविनाशी आतमा, सो कछु और न होय ॥ १७ ॥ देख अवस्था गर्भकी, कौन कौन दुख होंहि। बहुर मगन संसारमें सौ लानत है तोहि ॥ १८ ॥ अधो शीस ऊरध चरन, कौन अशुचि आहार। थोरे दिनकी बात यह, भूलि जात संसार ॥ १९ ॥ अस्थि चर्म मलमूत्रमें, रैन दिनाको बास। देखें दृष्टि घिनावनो, तऊ न होय उदास ॥ २० ॥ रोगादिक पीड़ित रहै, महाकष्ट जो होय। तबहू मूरख जीव यह, धर्म न चिन्तै कोय ॥ २१ ॥ मरन समय बिललात है, कोऊ लेहु बचाय। जानै ज्यों त्यों जीजिये, जोर न कछू बसाय ॥ २२ ॥ फिर नरभव मिलिबो नहीं, किये हु कोट उपाय। तातैं बेगहि चेतहू, अहो जगतके राय ॥ २३ ॥ भैयाकी यह वीनती, चेतन चितहिं विचार। ज्ञानदर्श चारित्रमें, आपो लेहु निहार ॥ २४ ॥ एक सात पंचासको, संवत्सर सुखकार। पक्ष शुक्ल तिथि धर्मकी, जै जै निशिपतिवार ॥ २५ ॥

परमात्मा छत्तीसी ।

दोहा ।

कर्मन की जर राग है, राग जरे जर जाय ।
प्रगट होत परमातमा, भैया सुगम उपाय ॥१८॥
काहेको भटकत फिरै, सिद्ध होनके काज ।
रागद्वेषको त्यागदे, 'भैया' सुगम इलाज ॥१९॥
परमातम पदको धनी, रंक भयो बिललाय ।
रागद्वेषकी प्रीतिसों, जनम अकारथ जाय ॥२०॥
रागद्वेषकी प्रीति तुम, भूलि करो जिन रंच ।
परमातम पद ढांकके, तुमहिं किये तिरजंच ॥२१॥
जप तप संयम सब भलो, राग द्वेष जो नाहिं ।
राग- द्वेषके जागते, ये सब सोये जांहि ॥२२॥
राग द्वेषके नाशतें, परमातम परकाश ।
राग द्वेषके भासतें, परमातम पद नाश ॥२३॥
जो परमातम पद चहै, तो तू राग निवार ।
देख सयोगी स्वामिको, अपने हिये विचार ॥२४॥
लाख बातकी बात यह, तोकों दई बताय ।
जो परमातम पद चहै, राग द्वेष तज भाय ॥२५॥
राग द्वेषके त्याग बिन, परमातम पद नाहिं ।
कोटिकोटि जपतप करो, सबहि अकारथ जाहिं ॥२६॥

दोष आतमाको यहै, राग द्वेषके संग ।
जैसें पास मजीठके, वस्त्र और ही रंग ॥२७॥
तैसें आतम द्रव्यको, राग द्वेषके पास ।
कर्म रंग लागत रहै, कैसे लहै प्रकाश ॥२८॥
इन कर्मनको जीतिबो, कठिन बात है मीत ।
जड़ खोदे विन नहिं मिटै; दुष्टजाति विपरीत ॥२९॥
लल्लोपत्तोके[1] किये, ये मिटवेके नाहिं ।
ध्यान अग्नि परकाशकें, होम देहु तिहि माहिं ॥३०॥
ज्यों दारूके गंजको[2], नर नहिं सकै उठाय ।
तनक आग संयोगतैं, छिन इकमें उड़ि जाय ॥३१॥
देह सहित परमातमा, यह अचरज की बात ।
राग द्वेषकें त्यागतैं, कर्म शक्ति जर जात ॥३२॥
परमातमके भेद द्वय, निकल सकल परमान ।
सुख अनंतमें एकसे, कहिवेको द्वय थान ॥३३॥
भैया वह परमातमा, सो ही तुममें आहि ।
अपनी शक्ति सम्हारिके, लखो वेग ही ताहि ॥३४॥
रागद्वेषको त्यागके, धर परमातम ध्यान ।
ज्यों पावे सुख संपदा, भैया इम कल्यान ॥३५॥

❀ इति परमात्मछत्तीसी ❀

१. टालटूल । २. ढेरको ।

नाटक पच्चीसी ।

पुण्य योग भूपति भये, पापयोग भये रंक ।
सुख दुख आपहि मानिके, नाचत फिरै निशंक ।।१६।।
नारि नपुंसक नर भये, नाना स्वांग रमाहिं ।
चेतनसों परिचय नहीं, नाच नाच खिर जाहिं ।।१७।।
ऐसे काल अनंत हुए, चेतन नाचत तोहि ।
अजहूँ आप संभारिये, सावधान किन ! होहि ।।१८।।
सावधान जे जिय भये, ते पहुँचे शिवलोक ।
नाचभाव सब त्यागके, विलसत सुखके थोक ।।१९।।
नाचत हैं जग जीव जे, नाना स्वांग रमंत ।
देखत हैं तिह नृत्यको, सुख अनंत विलसंत ।।२०।।
जो सुख देखत होत है, सो सुख नाचत नाहिं ।
नाचनमें सब दुःख है, सुख निजदेखन माहिं ।।२१।।
नाटकमें सब नृत्य है, सारवस्तु कछु नाहिं ।
ताहि विलोको कौन है, नाचन हारे माहिं ।।२२।।
देखै ताको देखिये, जानै ताको जान ।
जो तोको शिव चाहिये, सो ताको पहचान ! [illegible]
प्रगट होत परमातमा, ज्ञानदृष्टिके [illegible]
लोकालोक प्रमान सब, छिन इकमें [illegible] ।।
'भैया' नाटक कर्मते, नाचत [illegible] ।
नाटक तज न्यारे भये, ते पहुँचे [illegible] पार ।।२५।।

पंचेंद्रियसंवाद

तब बोलै मुनिरायजी, मन क्यों गर्व करंत।
देखहु तंदुल मच्छको, तुमतैं नर्क परंत। ११७॥
पाप जीव कोई करो, तू अनुमोदै ताहि।
तासम पापी तू कह्यो, अनरथ लेही बिसाहि ॥११८॥
इंद्रिय तौ बैठी रहैं, तू दौरै निशदीश।
छिन छिन बांधै कर्मको, देखत है जगदीश ॥११९॥
बहुत बात कहिये कहा, मन सुनि एक विचार।
परमातमको ध्याइये, ज्यों लहिये भवपार ॥१२०॥

ईश्वरनिर्णयपचीसी

कवित्त।

जैसें कौउ स्वान परचो काचके महलबीच, ठौर ठौर स्वान देख भूंस भूंस मरचो है। वानर ज्यौं मूठी बांध परचो है पराये वश, कूएमें निहारि सिंह आप कूद परचो है॥ फटिककी शिलामें विलोक गज जाय अरचो, नलिनीके सुवटाको कौनैधों पकरचो है। तैसें ही अनादिको अज्ञानभाव मान हंस, अपनो स्वभाव भूलि जगतमें फिरचो है॥ १२॥

दृष्टांतपचीसी।

दोहा।

राग न कीजे जगतमें, राग किये दुख होय।
देखहु कोकिल पींजरै, गहि डारत हैं लोय ॥१५॥

नेह न कीजे आनसों, नेह किये दुख होय।
नेह सहित तिल पेलिये, डार जंत्रमें जोय।१७॥
चेतन चंदन वृक्षसों, कर्म सांप लपटाहिं।
बोलत गुरुवच मोरके, सिथिल होय दुर जाहिं॥२०॥
परभावनसों विरचके, निज भावनको ध्यान।
जो इह मारग अनुसरै, सो पावै निर्वान॥२३॥

मनबत्तीसी।

मनसो मूरख जगतमें, दूजो कौन कहाय।
सुख समुद्रको छाड़कें, विषके वनमें जाय॥१६॥
विष भक्षनतें दुख बढ़े, जाने सब संसार।
तबहू मन समझै नहीं, विषयन सेती प्यार॥१७॥
कोटि सत्ताइस अपछरा, बत्तिस लक्ष विमान।
मन जीते बिन इन्द्र हू, सहै गर्भ दुख आन॥२०॥
बाहिज परिग्रह रंच नहिं, मनमें धरै विकार।
तांदुल मच्छ निहारिये, पड़ै नरक निरधार॥२५॥

चौपाई १६ मात्रा।

कहा कहों जियकी जड़ताई। मोपैं कछु बरनी नहिं जाई॥ आरज खंड मनुष्यभव पायो। सो विषयनसंग खेल गमायो॥ ३०॥ आगें कहो कौन गति जैहो। ऐसे जनम बहुर कहाँ पैहो॥ अरे तू मूरख चेत सबेरे। आवत काल छिनहि छिन नेरे॥ ३१॥ जबलों जमकी फौज न

आवै। तबलों जो मनको समुझावै ॥ आतम तत्त्व सिद्ध-सम राजै। ताहि विलोक मर्नभय भाजै ॥ ३२ ॥ बहुत बात कहिये कहु केती। कारज एक ब्रह्म ही सेती ॥ ब्रह्म लखै सो ही सुख पावै, भैया सो परब्रह्म कहावै ॥३३॥

स्वप्नबत्तीसी ।

दोहा।

सुपनेसों कहे झूंठ है, जाग कहे निज़गेह।
ते मूरख संसारमें, लहे न भवको छेह।११॥
कहा सुपनमें सांच है, कहा जगतमें सांच।
भूलि मूढ़ थिर मानिकें, नाचत डोले नाच ॥१२॥
आँख मूंद खोले कहा, जागत कोऊ नाहिं।
सोवत सब संसार है, मोहगहलता माहिं ॥१३॥
मूरख है यह आतमा, क्योंहू समझत नाहिं।
देखि सुपनवत आँखसों, बहुर मगन तिहमाहिं ॥२२॥
जानत है जमराजकी, आवत फ़ौज प्रचंड।
मारि करै इह देहको, छिनकमाहिं शत खंड ॥२३॥
ऐसे जमको भय नहीं, पोषत तन मन लाय।
तिनसम मूरख जगतमें, दुजो कौन कहाय ॥२४॥
मूरख सोवत जगतमें, मोह गहलतामाहिं।
जन्म मरन बहु दुख सहै, तो हू जागत नाहिं।२५॥

जन ऊपर जम जोर है, जिनसों जम हु डराय ।
तिनके पद जो सेइये, जमकी कहा बसाय ॥२६॥

फुटकर विषय ।

कवित्त ।

अपनी कमाई भैया पाई तुम यहाँ आय, अब कछु सोच किये हाथ कहा परि है । तब तो विचार कछु कीन्हों नाहिं बंधसमैं, याके फल उदै आय हमै ऐसे करि है ॥ अब पछिताये कहा होत है अज्ञानी जीव, भुगते ही बनै कृतिकर्म कहूं हरि है । आगेको संभारिकैं विचारि काम वही करि, जाते चिदानंद फंद फेरकै न परि है ॥ ७ ॥

सवैया ।

हे मन नीच निपात निरथक, काहेको सोच करै नित झूरो । तू कितहू कितहू परद्रव्य है, ताहिकी चाह निशा दिन भूरो ॥ आवत हाथ कछू शठ तेरे जु, बांधत पाप प्रमाण न पूरो । आगेको बेलि बढ़ै दुखकी कछु, सूझत नाहिं कियों भयो सूरो ॥ ९ ॥

कवित्त ।

केई केई बेर भये भूपर प्रचंड भूप, बड़े बड़े भूपनके देश छीनि लीने हैं । केई केई बेर भये सुर भौनवासी देव, केई केई बेर तो निवास नर्क कीने हैं ॥ केई केई बेर भये कीट मल-मूत माहिं, ऐसी गति नीच बीच सुख [illegible] हैं ।

कौडीके अनंतभाग आपन बिकाय चुके, गर्व कहा करे मूढ़ ! देखि दृग दीने हैं ॥ १५ ॥

दोहा ।

त्रिन कषायके त्यागतें, सुख नहिं पावै जीव ।
ऐसे श्रीजिनवर कही, वानी माहिं सदीव ॥२१॥

❀ इति सम्पूर्ण ❀

❀ समयसार नाटक ❀

हितोपदेश कथन ।

कवित्त ।

सतगुरु कहे भव्यजीवनसो, तोरहु तुरत मोहकी जेल । समकितरूप गहो अपनो गुण, करहु शुद्ध अनुभवको खेल ॥ पुदगलपिंड भावरागादिक, इनसो नहीं तिहारो मेल । ये जड़ प्रगट गुपत्त तुम चेतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल ॥ १२ ॥

अथ द्वितीय अजीवद्वार प्रारंभ ॥ २ ॥

गुरु परमार्थकी शिक्षा कथन करे है ॥ सवैया ३१ सा.

भैया जगवासी तू उदासी ह्वैके जगतसों, एक छ महीना उपदेश मेरो मानरे । और संकलप विकलपके विकार तजि, बैठिके एकंत मन एक ठौर आनरे ॥ तेरा घट सरितामें तूही ह्वै कमल वाकों, तूही मधुकर ह्वै सुवास

पहिचान रे। आपति न ह्वै है कछू ऐसौ तू विचारत है, सही ह्वै है आपति सरूप योंही जानरे ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थ पुण्यपापद्वार प्रारंभ ॥ ४ ॥

शिष्यके प्रश्नकूं गुरु उत्तर कहै हैं पापपुण्य एकत्वकरण ॥ सवैया ३१ सा.

पापबंध पुण्यबंध दुहूमें मुकति नांहि, कटुक मधुर स्वाद पुद्गलको देखिये। संक्लेश विशुद्धि सहज दोउ कर्म-चाल, कुगति सुगति जग जालमें विसेखिये॥ कारणादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि, ऐसो द्वैत भाव ज्ञान दृष्टिमें न लेखिये। दोउ महा अंधकूप दोउ कर्म बंधरूप, दुहूंको विनाश मोक्षमारगमें देखिये॥ ६ ॥

अथ सप्तम निर्जराद्वार प्रारंभ ॥ ७ ॥

जीवकी शयन दशाका स्वरूप कहे हैं॥ सवैया ३१ सा.

काया चित्रशालामें करम परजंक भारि, मायाकी सवारी सेज चादर कलपना। शयन करे चेतन अचेतनता नींद लिये, मोहकी मरोर यहै लोचनको ढपना॥ उदै बल जोर यहै श्वासको शबद घोर, विषै सुखकारी जाकी दौर यही सपना। ऐसे मूढ़ दशामें मगन रहे तिहुंकाल, धावे भ्रमजालमें न पावे रूप अपना॥ १३ ॥

जीवकी जाग्रत दशाका स्वरूप कहे हैं।। सवैया ३१ सा.

चित्रशाला न्यारी परजंक न्यारी सेज न्यारी, चादर भी न्यारी यहाँ झूठी मेरी थपना। अतीत अवस्था सैन निद्रा बोहि कोउ पै न विद्यमान पलक न यामें अब छपना ।। श्वास औ सुपन दोउ निद्राकी अलंग बूझे, सूझे सब अंक लखि आतम दरपना। त्यागी भयो चेतन अचे-तनता भाव छोड़ि, भाले दृष्टि खोलिके संभाले रूप अपना ।। १४ ।।

सप्तभय-दोहा।

इहभव भय परलोक भय, मरण वेदना जात।
अनरक्षा अनगुप्त भय, अकस्मात भय सात ।।४७।।

सात भयके जुदे जुदे स्वरूप कहे हैं ।। सवैया ३१ सा.

दशधा परिग्रह वियोग चिंता इह भव, दुर्गति गमन भय परलोक मानिये। प्राणनिको हरण मरण भै कहावे सोइ, रोगादिक कष्ट यह वेदना बखानिये ।। रक्षक हमारो कोउ नाहीं अनरक्षा भय, चोर भय विचार अनगुप्त मन आनिये। अनचिंत्यो अबहि अचानक कहांधो होय, ऐसे भय अकस्मात जगतमें जानिये ।। ४८ ।।

इहभवके भय निवारणकूं मंत्र (उपाय) कहे हैं ॥

छप्पय छन्द ।

नख शिख मित परिमाण, ज्ञान अवगाह निरक्खत ।
आतम अंग अभंग संग परधन इम अक्खत ॥
छिनभंगुर संसार विभव परिवार भार जसु ।
जहाँ उतपति तहाँ प्रलय, जासु संयोग वियोग तसु ॥
परिग्रह प्रपंच परगट परखि, इह भव भय उपजै न चित ।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित ॥४९॥

परभवके भय निवारणकूं मंत्र (उपाय) कहे हैं ॥

छप्पय छन्द ।

ज्ञान चक्र मम लोक, जासु अवलोक मोक्ष सुख ।
इतर लोक मम नांहि, जिस मांहि दोष दुख ॥
पुन्य सुगति दातार, पाप दुर्गति दुखदायक ।
दोऊ खंडित खानि, मैं अखंडित शिवनायक ॥
इहविधि विचार परलोक भय, नहि व्यापत वरते सुचित ।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित ॥५०॥

मरणके भय निवारणकूं मंत्र (उपाय) कहे हैं ॥

छप्पय छन्द ।

फरश जीभ नासिका, नयन अरु श्रवण अक्ष इति ।
मन वच बल तीन, स्वास उस्वास आयु थिति ॥

ये दश प्राण विनाश, ताहि जग मरण कहीजे।
ज्ञान प्राण संयुक्त, जीव तिहुँकाल न छीजे॥
यह चित करत नहिं मरण भय, नय प्रमाण जिनवर कथित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित॥५१॥

वेदनाके भय निवारणकूं मंत्र (उपाय) कहे हैं॥

छप्पय छन्द।

वेदनहारो जीव, जांहि वेदंत सोउ जिय।
यह वेदना अभंग, सो तो मम अंग नांहि विय॥
करम वेदना द्विविध, एक सुखमय द्वितीय दुख।
दोऊ मोह विकार, पुद्गलाकार बहिमुख॥
जब यह विवेक मनमें धरत, तब न वेदना भय विदित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित॥५२॥

अनरक्षाके भय निवारणकूं मंत्र (उपाय) कहे हैं॥

छप्पय छन्द।

जो स्ववस्तु सत्ता स्वरूप, जगमांहि त्रिकालगत।
तास विनाश न होय, सहज निश्चय प्रमाण मत॥
सो मम आतम दरव, सरवथा नहि सहाय धर।
तिहि कारण रक्षक न होय, भक्षक न कोय पर॥
जब यहि प्रकार निरधार किय, तब अनरक्षा भय नसित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित॥५३॥

चोरभय निवारणकूं मंत्र (उपाय) कहे हैं ॥

छप्पय छन्द।

परमरूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन मंडित।
पर प्रवेश तहँ नाहिं, माहिं महि अगम अखंडित।
सो मम रूप अनूप, अकृत अनमित अटूट धन।
ताहि चोर किम गहै, ठौर नहिं लहै और जन॥
चितवंत एम धर ध्यान जब, तब अगुप्त भय उपसमित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित॥५४॥

अकस्मात्भय निवारणकूं मंत्र (उपाय) कहे हैं ॥

छप्पय छन्द।

शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम।
अलख अनादि अनंत, अतुल अविचल स्वरूप मम॥
चिदविलास परकाश, वीत विकलप सुख थानक।
जहाँ दुविधा नहिं कोइ, होइ तहाँ कछु न अचानक॥
जब यह विचार उपजंत तब, अकस्मात भय नहि उदित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित॥५५॥

अथ अष्टम बंधद्वार प्रारंभ ॥ ८ ॥

चार पुरुषार्थ ऊपर ज्ञानीका अर अज्ञानीका विचार कहे हैं ॥ सवैया३१ सा

कुलको आचार ताहि मूरख धरम कहे, पंडित धरम कहे वस्तुके स्वभावकों। खेहको खजानो ताहि अज्ञानी

अरथ कहे, ज्ञानी कहे अरथ दरब दरसावकों ॥ दंपत्तिको भोग ताहि दुरबुद्धि काम कहे, सुधी काम कहे अभिलाष चित्त चावकों । इंद्रलोक थानको अजान लोक कहे मोक्ष, सुधी मोक्ष कहे एक बंधके अभावकों ॥ १४ ॥

वस्तुका सत्यस्वरूप अर मूढका विचार।

सवैया ३१ सा.

तिहूँलोक मांहि तिहूँकाल सब जीवनिको, पूरब करम उदै आय रस देत है। कोऊ दीरघायु धरे कोऊ अल्प आयु मरे, कोऊ दुखी कोऊ सुखी कोऊ समचेत है ॥ याहि मैं जिवाऊं याहि मारूं याहि सुखी करूं, याहि दुखी करूं ऐसे मूढ मान लेत है । आदि अहं बुद्धिसों न विनसे भरम भूल, यहै मिथ्याधरम करम बंध हेत है ॥ १६ ॥ जहांलों जगतके निवासी जीव जगतमें, सबे असहाय कोउ काहु-को न धनी है। जैसे जैसे पूरब करम सत्ता बांधि जिन्हे, तैसे तैसे उदैमें अवस्था आइ बनी है। एतेपर जो कोऊ कहे कि मैं जिवाऊं मारूं, इत्यादि अनेक विकलप बात घनी है। सो तो अहं बुद्धिसों विकल भयो तिहुंकाल, डाले निज आतम शकति तिन्ह हनी है ॥ १७ ॥

अधम मनुष्यका स्वभाव कहे हैं ॥ सवैया ३१ सा.

जैसे रंक पुरुषके भावे कानी कौड़ी धन, उलुवाके भावे जैसे संझाही विहान है। कूकरके भावे ज्यों पिडोर

जिरवानी मठ्ठा, सूकरके भावे ज्यों पुरीष पकवान है ॥ वायसके भावे जैसे नींबकी निंबोरी दाख, बालकके भावे दंतकथा ज्यों पुरान है। हिंसकके भावे जैसे हिंसामे धरम तैसे, मूरखके भावे शुभ बंध निरवान है ॥ २१ ॥

सवैया ३१ सा

रविके उदोत अस्त होत दिन दिन प्रति, अंजुलीके जीवन ज्यों जीवन घटतु है। कालके ग्रसत छिन छिन होत छीन तन, आरेके चलत मानो काठ ज्यों कटतु है ॥ एतेपरि मूरख न खोजे परमारथको, स्वारथके हेतु भ्रम भारत ठटतु है। लग्यो फिरे लोकनिसों पग्योपरि जोगनिसों विषैरस भोगनिसों नेकु न हटतु है ॥२६॥

मूढ़जीव कर्मबंधसे कैसे निकसे नहीं सो लोटण कबूतरका दृष्टांत देके कहे हैं ॥ सवैया ३१ सा.

लिये दृढ़ पेच फिरे लोटण कबूतरसो, उलटो अनादिको न कहूँ सुलटतु है। जाको फल दुःख ताहि सातासों कहत सुख, सहत लपेटि असि धारासी चटतु है ॥ ऐसे मूढ़जन निज संपत्ती न लखे यों ही, मेरी मेरी मेरी निशिवासर रटतु है। याहि ममतासों परमारथ विनसि जाइ, कांजिको स्पर्श पाय दूध ज्यों फटतु है ॥ २८ ॥

नाकका अर कानका दृष्टांत देके मूढके अहंबुद्धिका स्वरूप कहे हैं ॥ सवैया ३१ सा.

रूपकी न झांक हिये करमको डांक पिये, ज्ञान दबि रह्यो मिरगांक जैसे घनमें। लोचनकी ढांकसों न मानें सदगुरु हांक, डोले मूढ़ रंकसो निशंक तिहूँ पनमें। टांक एक मांसकी डलीसी तामें तीन फांक, तीन कोसो अंक लिखि राख्यो काहूं तनमे। तासों कहे नांक ताके राखवेको करे कांक, बांकसों खडग बांधि बांधि धरे मनमें ॥२९॥

कुत्तेका दृष्टांत देके मूढ़का विषयमें मग्नपणा दिखावे हैं ॥ सवैया ३१ सा.

जैसे कौऊ कूकर क्षुधित सूके हाड़ चाबे, हाड़नकी कोर चहुँओर चुभे मुखमें। गाल तालु रसनासों मुखनिको मांस फाटें, चाटे निज रुधिर मगन स्वाद सुखमें॥ तैसे मूढ़ विषयी पुरुष रति रीत ठाणे, तामें चित्त साने हित माने खेद दुःखमें। देखे परतक्ष बल हानि मल मूत खानि, गहे न गिलानि पगि रहे राग रुखमें ॥३०॥

देहकी चाल कहे हैं ॥ सवैया २३ सा

देह अचेतन प्रेत दरी रज,रेत भरी मल खेतकी क्यारी। व्याधिकी पोट आराधिकी ओट, उपाधिकी जोट समाधिसों न्यारी॥ रे जिया देह करे सुख हानि, इते परती तोहि

लागत प्यारी । देह तो तोहि तजेगी निदान पै, तूहि तजे क्यों न देहकी यारी ॥ ३८ ॥

दोहा ।

सुन प्राणी सद्गुरु कहे, देह मैलकी खानि ।
धरे सहज दुख पोषियो, करे मोक्षकी हानि ॥३९॥

देहका वर्णन करे हैं ॥ सवैया ३१ सा

रेतकीसी गढी कीधो मढि है मसाण कीसी, अन्दर अंधेरि जैसी कंदरा है शैल की । ऊपरकी चमक दमक पट भूषणकी, धोके लगी भली जैसी कलि है कनैरकी ॥ औगुणकी उंडि महा भोंडि मोहकी कनोंडि, मायाकी मसूरति है मूरति है मैलकी । ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसों; ह्वै रही हमारी मति कोल्हू कैसे बैलकी ॥ ४० ॥ ठौर ठौर रकतके कुंड केसनिके झुंड, हाड़निसों भरी जैसे थरी है चुरैलकी । थोरेसे धक्काके लगे ऐसे फटजाय मानो, कागदकी पूरी कीधो चादर है चैलकी ॥ सूचे भ्रम वानि ठानि मूढ़निसों पहिचानि, करे सुख हानि अरु खानि बद फैलकी । ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसों, ह्वै रही हमारी मति कोल्हू कैसे बैलकी ॥४१॥

संसारी जीवकी गति कोल्हूके बैल समान है ॥

सवैया ३१ सा ।

पाटी बांधी लोचनीसों संचुके दबोचनिसों, कोचनीके सोचसों निवेदे स्वेद तनको । धाइबोही धंधा अरु कंधा मांहि लग्यो जोत वार वार, आर सहे कायर ह्वै मनको ॥ भूख सहे प्यास सहे दुर्जनको त्रास सहे, थिरता न गहे न उसास लहे छिनको । पराधीन घूमे जैसा कोल्हूको कमेरा बैल, तैसौही स्वभाव भैया जगवासी जनको ॥ ४२ ॥ जगतमें डोले जगवासी नररूप धरि, प्रेत कैसे दीप कींधो रेत कैसे धूहे है । दीसे पट भूषण आडंबरसों नीके फिरे, फीके छिन मांहि सांझ अंबर ज्यों सूहे है ॥ मोहके अनल दगे मायाकी मनीसों पगे, डाभकी अणीसों लगे ऊस कैसे फूहे हैं । धरमकी बूझि नांहि उरझे भरम मांहि, नाचि नाचि मरि जाहि मरी कैसे चूहे हैं ॥ ४३ ॥

जगवासी जीवके मोहका स्वरूप कहे हैं ॥

सवैया ३१ सा ।

जासूं तू कहत यह संपदा हमारी सो तो, साधुनि ये डारी ऐसे जैसे नाक सिनकी । तासूं तू कहत हम पुन्य जोग पाइ सो तो, नरककी साई है बढ़ाई डेढ़ दिनकी ॥ घेरा मांहि परचो तू विचारे सुख आंखिनिको, माखिनके चूटत

मिठाई जैसे भिनकी। एतेपरि होई न उदासी जगवासी जीव, जगमें असाता है न साता एक छिनकी ॥ ४४ ॥

दोहा।

यह जगवासी यह जगत्, इनसों तोहि न काज।
तेरे घटमें जग बसे, तामें तेरो राज ॥४५॥

मनका चञ्चलपणा स्थिर कैसे होयगा ॥

दोहा।

जो मन विषय कषायमें, बरते चंचल सोइ।
जो मन ध्यान विचारसों, रुकैसु अविचल होइ ॥५२॥
तातें विषय कषायसों, फेरि सुमनकी वाणि।
शुद्धातम अनुभौ विषै, कीजे अविचल आणि ॥५३॥

अथ नवमो मोक्षद्वार प्रारंभ।

परकी संगति जो रचै, बंध बढ़ावै सोय।
जो निज सत्तामें मगन, सहज मुक्त सो होय ॥१९॥
उपजे विनसे थिर रहे, यहु तो वस्तु बखान।
जो मर्यादा वस्तुकी, सो सत्ता परमान ॥२०॥
जाके घट समता नहीं, ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानही, सो अपराधी जीव ॥२५॥
अपराधी मिथ्यामती, निरदै हिरदै अंध।
परको माने आतमा, करे करमको बंध ॥२६॥

झूठी करणी आचरे, झूठे सुखकी आस।
झूठी भगती हिय धरे, झूठो प्रभुको दास ॥२७॥

सवैया ३१ सा।

माटी भूमि सैलकी सो सम्पदा बखाने निज, कर्ममें अमृत जाने ज्ञानमें जहर है। अपना न रूप गहे और ही सों आपा कहे, साता तो समाधि जाके असाता कहर है॥ कोपको कृपान लिये मान मद पान किये, मायाकी मरोर हिये लोभकी लहर है। याही भाँति चेतन अचेतनकी संगतिसों, साथसों विमुख भयो झूठमें बहर है ॥ २८ ॥ तीन काल अतीत अनागत वरतमान, जगमें अखंडित प्रवाहको डहर है। तासों कहे यह मेरो दिन यह मेरी घरी, यह मेरो ही पिरोई मेरो ही पहर है॥ खेहको खजानो जोरे तासो कहे मेरा गेह, जहाँ बसे तासों कहे मेरा ही शहर है। याही भाँति चेतन-अचेतनकी संगतीसों, सांचसों विमुख भयो झूठमें बहर है ॥२९॥

दोहा।

जिन्हके मिथ्यामति नहीं, ज्ञानकला घट मांहि।
परचे आतमरामसों, ते अपराधी नांहि ॥३०॥

सवैया ३१ सा।

जिन्हके धरम ध्यान पावक प्रगट भयो, संसै मोह विभ्रम विरख तीनों बढ़े हैं। जिन्हके चितौनि आगे उदै

स्वान खुसि मागं, लागं [illegible] [illegible] ज्ञान गज चढ़े हैं ॥
जिन्हके समझकी तरंग [illegible] आगमके, आगममें निपुण अध्यातममें कढ़े हैं। तेई परमारथी पुनीत नर आठों याम, राम रस गाढ़ करे यह पाठ पढ़े हैं ॥ ३१ ॥

सवैया ३१ सा।

जिन्हके चिहुंटी चिमटासी गुण चुनवेकों, कुकथाके सुनिवे कों दोउ कान मढ़े हैं। जिन्हके सरल चित्त कोमल वचन बोले, सौम्यदृष्टि लिये डोले मोम कैसे गढ़े हैं ॥ जिन्हके सकति जगी अलख अराधिवेकों, परम समाधि साधिवेकों मन बढ़े हैं। तेई परमारथ पुनीत नर आठों याम, राम रस गाढ़ करे यह पाठ पढ़े हैं ॥३२॥

दोहा।

ता कारण जगपंथ इत, उत शिव मारग जोर।
परमादी जगकूं ढुके, अपरमाद शिव ओर ॥४०॥
जे परमादी आलसी, जिन्हके विकलप भूर।
होइ सिथिल अनुभौ विषै, तिनको शिव पथ दूर ॥४१॥
जे परमादी आलसी, ते अभिमानी जीव।
जे अविकलपी अनुभवी, ते समरसी सदीव ॥४२॥
जे अविकलपी अनुभवी, शुद्ध चेतना युक्त।
ते मुनिवर लघुकालमें, होई करमसे मुक्त ॥४३॥

कवित्त।

जैसे पुरुष लखे पहाड़ चढ़ि, भूचर पुरुष तांहि लघु लग्गे। भूचर पुरुष लखे ताको लघु, उत्तर मिले दुहुको भ्रम भग्गे ॥ तैसे अभिमानी उन्नत गल, और जीवको लघुपद दग्गे। अभिमानीको कहे तुच्छ सब, ज्ञान जगे समता रस जग्गे ॥ ४४ ॥

सवैया ३१ सा.

करमके भारी समुझे न गुणको मरम, परम अनीति अधरम रीति गहे हैं। होइ न नरम चित्त परम धरम हूते, चरमकी दृष्टिसों भरम भूलि रहे हैं ॥ आसन न खोले मुख वचन न बोले सिर, नायेहू न डोले मानो पाथरके चहे हैं। देखनके हाउ भव पंथके बढ़ाऊ ऐसे, मायाके खटाउ अभिमानी जीव कहे हैं ॥ ४५ ॥

सवैया ३१ सा।

धीरके धरैय्या भव-नीरके तरैय्या भय,-भीरके हरैय्या वरवीर ज्यों उमहे हैं। मारके मरैय्या सुविचारके करैय्या, सुख-ढारके ढरैय्या गुण लोंसों लहलहे हैं॥ रूपके रिझैय्या सब नयके समझैय्या सब हीके लघु भैय्या सबके कुबोल सहे हैं। वामके वमैय्या दुख दाम दमैय्या ऐसे, रामके रमैय्या नर ज्ञानी जीव कहे हैं ॥ ४६ ॥

चौपाई

जे समकिती जीव समचेती, तिनकी कथा कहूं तुम-सेती। जहाँ प्रमाद क्रिया नहि कोई. निरविकल्प अनुभौ पद सोई ॥ ४७ ॥ परिग्रह त्याग जोग थिर तीनों, करम बंध नहिं होय नवीनो ॥ जहाँ न राग द्वेष रस मोहे। प्रगट मोक्ष मारग मुख सोहे ॥ ४८ ॥ पूरव बंध उदय नहिं व्यापे। जहाँ न भेद पुन्य अरु पापे ॥ द्रव्य भाव गुण निर्मल-धारा। बोध विधान विविध विसतारा ॥४९॥ जिन्हके सहज अवस्था ऐसी। तिन्हके हिरदे दुविधा कैसी। जे मुनि-क्षपक श्रेणि चढ़ि धाये। ते केवल भगवान कहाये ॥ ५० ॥

इति नवमो मोक्षद्वार समाप्त भयो ॥ ९ ॥

अथ दशमो सर्वविशुद्धिद्वार प्रारंभ ॥१०॥

सवैया ३१ सा।

कायासे विचारै प्रीति माया ही में हारि जीति, लिये हठ रीति जैसे हारिलकी लकरी। चुंगुलको जोर जैसे गोह गहि रहे भूमि, त्योंही पाय गाडे पैं न छोड़े टेक पकरी ॥ मोहकी मरोरसों भरमको न ठौर पावे, धावे चहुँ ओर ज्यों वढ़ावे जाल मकरी। ऐसे दुरबुद्धि भूलि झूठके झरोखे झूलि, फूली फिरे ममता जंजीरनिसों जकरी ॥ ३७ ॥ वात

सुनि चौंकि उठे बात ही सों भौंकि उठे, बातसों नरम होइ बातहीसों अकरी। निंदा करे साधुकी प्रशंसा करे हिंसककी, साता माने प्रभुता असाता माने फकरी॥ मोक्ष न सुहाइ दोष देखे तहाँ पैठि जाइ, कालसों डराइ जैसे नाहरसों बकरी। ऐसे दुरबुद्धि भूलि झूठके झरोखे झूलि, फूली फिरे ममता जंजीरनिसों जकरी॥ ३८॥

दोहा।

यथा सूत संग्रह विना, मुक्त माल नहिं होय।
तथा स्याद्वादी विना, मोक्ष न साधे कोय॥४०॥

सवैया ३१ सा।

वेद पाठी ब्रह्म माने निश्चय स्वरूप गहे, मीमांसक कर्म माने उदैमें रहतु है। बौद्धमती बुद्ध माने सूक्षम स्वभाव साधे, शिवमति शिवरूप कालको कहतु है॥ न्याय ग्रंथके पढ़ैय्या थापे करतार रूप, उद्यम उदीरि उर आनँद लहतु है। पाँचो दरसनि ते तो पोषे एक एक अंग, जैनी जिन-पंथि सरवंगि नै गहतु है॥ ४३॥

दोहा।

कुब्जा कारी कूबरी, करे जगतमें खेद।
अलख अराधे राधिका, जाने निज पर भेद॥७२॥

सवैया ३१ सा।

कुटिला कुरूप अंग लगी है पराये संग, अपनो प्रमाण करि आपहि बिकाई है। गहे गति अंधकीसी, सकति कमंधकीसी बंधको बढाय करै धंधहीमें धाई है॥ रांड़कीसी रीत लिये मांड़कीसी मतवारि, सांड ज्यों सुछंद डोले भांड़कीसी जाई है। घरको न जाने भेद करै पराधीन खेद, याते दुरबुद्धी दासी कुबजा कहाई है॥ ७३॥ रूपकी रसीली भ्रम कुलफकी कीली शील, सुधाके समुद्र झीलि सीलि सुखदाई है। प्राची ज्ञानभानकी अजाची है निदानकी, सुराचि निरवाची ठौर साची ठकुराई है॥ धामकी खबरदार रामकी रमन हार, राधा रस पंथनिके ग्रंथनिमें गाई है। संतनकी मानी निरवानी नूरकी निसानी, याते सद्‌बुद्धि रानी राधिका कहाई है॥ ७४॥

दोहा।

वह कुब्जा वह राधिका, दोऊ गति मति मान।
वह अधिकारी कर्मकी, वह विवेककी खान॥७५॥
कर्म चक्र पुद्गल दशा, भावकर्म मतिवक्र।
जो सुज्ञानको परिणमन, सो विवेक गुणचक्र॥७६॥

कवित्त।

जैसे नर खिलार चोपरिको, लाभ विचारि करे चितचाव। धरे सवारि सारि बुधि बलसों, पासा जो कुछ परे

सुदाव ॥ तैसे जगत जीव स्वारथको, करि उद्यम चिंतवे उपाव । लिख्यो ललाट होइ सोई फल, कर्म चक्रको यही स्वभाव ॥ ७७ ॥ जैसे नर खिलार सतरंजको, समुझै सब सतरंजकी घात । चले चाल निरखे दोऊ दल, महुरा गिणे विचारे मात ॥ तैसे साधु निपुण शिव पथमें, लक्षण लखे तजे उतपात । साधे गुण चिंतवे अभयपद, यह सुविवेक चक्रकी बात ॥ ७८ ॥

दोहा ।

ज्ञानवंत अपनी कथा, कहे आपसों आप ।
मैं मिथ्यात दशाविषैं, कीने बहुविध पाप ॥८९॥

सवैया ३१ सा ।

हिरदे हमारे महा मोहकी विकलताई, तातैं हम करुणा न कीनी जीव-घातकी । आप पाप कीने औरनिकों उपदेश दीने हुति अनुमोदना हमारे याही बातकी । मन वच कायामें मगन ह्वै कमाये कर्म, धाये भ्रम जालमें कहाये हम पातकी । ज्ञानके उदयते हमारी दशा ऐसी भई, जैसे भानु भासत अवस्था होत प्रातकी ॥ ९० ॥

सवैया ३१ सा ।

ज्ञान भान भासत प्रमाण ज्ञानवंत कहे, करुणानिधान अमलान मेरा रूप है । कालसों अतीत कर्म चालसों अभीत जोग, जालसों अजीत जाकी महिमा अनूप है ॥

मोहको विलास यह जगतको वास मैं तो, जगतसों शून्य पाप पुन्य अंधकूप है। पाप किन किये कौन करे करि है सो कौन, क्रियाको विचार सुपने की दौर धूप है ॥ ९१ ॥ करणीके धरणीमें महा मोह राजा बसे, करणी अज्ञान भाव राक्षसकी पुरी है। करणी करम काया पुद्गलकी प्रतिछाया, करणी प्रगट माया मिसरीकी छुरी है ॥ करणीके जालमें उरझि रह्यो चिदानंद, करणीकी ओट ज्ञानभान दुति दुरी है। आचारज कहै करणीसों व्यवहारी जीव, करणी सदैव निहचै स्वरूप बुरी है ॥ ९६ ॥ भेषमें न ज्ञान नहिं ज्ञान गुरु वर्तनमें, मंत्र जंत्र गुरु तंत्रमें न ज्ञानकी कहानी है। ग्रंथमें न ज्ञान नहीं ज्ञान कवि चातुरीमें, वातनिमें ज्ञान नहीं ज्ञान कहा वानी है ॥ तातैं भेष गुरुता कवित्त ग्रंथ मंत्र वात इनीते अतीत ज्ञान चेतना निशानी है। ज्ञानहीमें ज्ञान नहीं ज्ञान और ठोर कहूँ, जाके घट ज्ञान सोही ज्ञानकी निदानी है ॥ १११ ॥ भेष धरि लोकनिको वंचे सो धरम ठग, गुरु सो कहावें गुरुवाई जाके चहिये। मंत्र तंत्र साधक कहावे गुणी जादूगरि, पंडित कहावे पंडिताई जामें लहिये ॥ कवित्तकी कलामें प्रवीण सो कहावे कवि, वात कहि जाने सो पवारगीर कहिये। एते सब विषैके भिकारी मायाधारी जीव, इनकों विलोकिके दयालुरूप रहिये ॥ ११२ ॥

चौपाई ।

गुण पर्यायमें दृष्टि न दीजे, निर्विकल्प अनुभव रस पीजे ॥ आप समाइ आपमें लीजे । तनुपा मेटि अपनपो कीजे ॥ ११६ ॥

दोहा ।

तज विभाव हूजे मगन, शुद्धातम पद मांहि ।
एक मोक्ष मारग यहै, और दूसरो नांहि ॥११७॥

सवैया ३१ सा ।

केई मिथ्यादृष्टि जीव धरे जिन मुद्रा भेष, क्रियामें मगन रहे कहे हम यती है । अतुल अखंड मल रहित सदा उद्योत, ऐसे ज्ञान भावसों विमुख मूढ़ मती है । आगम संभाले दोष टालें व्यवहार भाले, पाले व्रत यद्यपि तथापि अविरती है । आपको कहावे मोक्षमारगके अधिकारी, मोक्षसे सदैव रुष्ट दुष्ट दुरगती है ॥ ११८ ॥

इति दशमो सर्वविशुद्धिद्वार समास भयो ॥ १० ॥

अथ बारहमो साध्य साधक द्वार प्रारंभ ॥१२॥

सवैया २३ सा ।

चेतनजी तुम जागि विलोकहु, लागि रहे कहाँ मायाके ताई । आये कहीं सो कहीं तुम जाहुगे, माया रहेगी जहाँके तहांई ॥ माया तुमारी न जाति न पाति न, वंशकी

बेलि न अंशकी रखाई। ताहि लिये बिन लातनि मारत,
ऐसी अनीति न कीजे गुसाईं ॥ ५ ॥

दोहा।

माया छाया एक है, घटै बढ़ै छिन मांहि।
इनके संगति जे लगे, तिन्हें कहूं सुख नांहि ॥६॥

सवैया २३ सा।

लोकनिसों कछु नातो न तेरो, न तोसों कछू इह लोकको नांतो। ते तो रहे रमि स्वारथके रस, तू परमारथके रस मांतो॥ ये तनसों तनमें तनसे जड़, चेतन तूं तनसों निति हांतो। होहि सुखी अपनो बल फेरिके, तोरिके राग विरोधको तांतो ॥ ७ ॥

सोरठा।

जे दुर्बुद्धि जीव, ते उत्तंग पदवी चहे।
जे समरसी सदीव, तिनको कछू न चाहिये ॥८॥

सवैया ३१ सा।

हांसीमें विषाद वसे विद्यामें विवाद वसे, कायामें मरण गुरु वर्तनमें हीनता। शुचिमें गिलानि वसे प्रापतीमें हानि वसे, जयमें हारि सुन्दर दशामें छवि छीनता॥ रोग वसे भोगमें संयोगमें वियोग वसे, गुणमें गरव वसे सेवा मांहि दीनता। और जग रीत जेती गर्भित असाता तेति, साताकी सहेली है अकेली उदासीनता ॥ ९ ॥

दोहा।

जो उत्तंग चढ़ि फिर पतन, नाहिं उत्तंग वह कूप।
जो सुख अंतर भय बसे, सो सुख है दुखरूप ॥१०॥
जो विलसे सुख संपदा, गये तहाँ दुख होय।
जो धरती बहु तृणवती, जरे अग्निसे सोय ॥११॥

पांच प्रकारके जीव।

दोहा।

डुंघा प्रभु चूंघा चतुर, सूंघा रोचक शुद्ध।
ऊंघा दुर्बुद्धि विकल, घूंघा घोर अबुद्ध ॥१६॥
जाकी परम दशाविषैं, कर्म कलंक न होय।
डूंघा अगम अगाध पद, वचन अगोचर सोय ॥१७॥
जो उदास ह्वै जगतसों, गहे परम रस प्रेम।
सो चूंघो गुरुके वचन, चूंघे बालक जेम ॥१८॥
जो सुवचन रुचिसों सुने, हिये दुष्टता नाँहि।
परमारथ समुझे नहीं, सो सूंघा जगमांहि ॥१९॥
जाको विकथा हित लगे, आगम अंग अनिष्ट।
सो विषयी दुखसे विकल, दुष्ट रुष्ट पापिष्ट ॥२०॥
जाके वचन श्रवण नहीं, नहिं मन सुरति विराम।
जड़तासो जड़वत भयो, घूंघा ताको नाम ॥२१॥

चौपाई।

ढूंघा सिद्ध कहे सब कोउ। सूंघा ऊंघा मूरख दोऊ॥
घूंघा घोर विकल संसारी। चूंघा जीव मोक्ष अधिकारी॥२२॥

दोहा।

चूंघा साधक मोक्षको, करै दोष दुख नाश।
लहै पोष संतोषसौं, बरनौं लक्षण तास॥२३॥
कृपा प्रशम संवेग दम, आस्तिक भाव वैराग।
ये लक्षण जाके हिये, सप्त व्यसनको त्याग॥२४॥

चौपाई।

जूवा आमिष मदिरा दारी। आखेटक चोरी परनारी॥
येई सप्त व्यसन दुखदाई। दुरित मूल दुर्गतिके भाई॥२५॥

सवैया ३१ सा।

अशुभमें हारि शुभ जीति यहै द्यूतकर्म, देहकी मगनताई यहै मांस भखिवो। मोहकी गहलसों अजान यहै सुरापान, कुमतीकी रीत गणिकाको रस चखिवो॥ निर्दय ह्वै प्राण घात करवो यहै शिकार, परनारी संग पर बुद्धिको परखिवो। प्यारसों पराई सौंज गहिवेकी चाह चोरी, एई सातौं व्यसन विडारे ब्रह्म लखिवो॥ २७॥

इति श्री अमृतचन्द्राचार्यानुसार समयसारनाटक समाप्त॥

अथ चतुर्दश गुणस्थानाधिकार प्रारंभ।

सवैया ३१ सा।

केई जीव समकीत पाई अर्ध पुद्गल, परावर्तकालतांई चोखे होई चित्तके। केई एक अंतर महूरतमें गंठि भेदि, मारग उलंघि सुख वेदे मोच्च वित्तके॥ ताते अंतर महूरत सों अर्ध पुद्गललों, जेते समैय होहि तेते भेद समकितके। जाहि समै जाको जब समकित होइ सोइ, तबहीसों गुण गहे दोष दहे इतके॥ २४॥

चौपाई।

सत्य प्रतीति अवस्था जाकी। दिन दिन रीति गहे समताकी। छिन छिन करे सत्यको साको। समकित नाम कहावे ताको॥ २७॥

दोहा।

आपा परिचे निज विषे, उपजे नहिं संदेह।
सहज प्रपंच रहित दशा, समकित लच्चण एह॥२९॥
चेतो सहज स्वभावके, उपदेशे गुरु कोय।
चहुँगति सैनी जीवको, सम्यकदर्शन होय॥२८॥

आपा परिचै निज विषै, उपजै नहिं सन्देह।
सहज प्रपंच रहित दशा, समकित लच्छन येह ।२९॥
करुणावत्सल सुजनता, आतम निंदा पाठ।
समता भक्ति विरागता, धर्म राग गुण आठ ॥३०॥
चित प्रभावना भावजुत, हेय-उपादै वाणि।
धीरज हरष प्रवीणता, भूषण पंच वखाणि ॥३१॥
अष्ट महामद अष्ट मल, षट आयतन विशेष।
तीन मूढता संयुक्त, दोष पचीसों एष ॥३२॥
जाति लाभ कुल रूप तप, बल विद्या अधिकार।
इनको गर्व न कीजिये, यह मद अष्ट प्रकार ॥३३॥
ज्ञान गर्व मति मंदता, निष्ठुर वचन उद्गार।
रुद्रभाव आलस दशा, नाश पंच परकार ॥३७॥
लोक हास्य भय भोग रुचि, अग्र सोच थिति मेव।
मिथ्या आगमकी भगति, मृषा दर्शनी देव ॥३८॥

सवैया ३१ सा।

चारित्र मोहकी चार मिथ्यातकी तीन तामें, प्रथम प्रकृति अनंतानुबंधी कोहनी। बीजी महा मान रस भीजी मायामयी तीजी चौथे महा लोभ दशा परिग्रह पोहनी ॥ पांचवी मिथ्यातमति छटी मिश्र परणति, सातवी समै प्रकृति समकित मोहनी। येई षट विंग वनितासी एक कुतियासी, सातो मोह प्रकृति कहावे सत्ता रोहनी ॥४१॥

छप्पय।

सात प्रकृति उपशमहि, जासु सो उपशम मंडित।
सात प्रकृति क्षय करनहार, चायिकी अखंडित ॥
सात मांहि कछु चपे कछुक उपशम करि रक्खे।
सो चय उपशमवंत, मिश्र समकित रस चक्खे ॥
षट् प्रकृति उपशमे-वा क्षपे, अथवा चय उपशम करे।
सातई प्रकृति जाके उदै, सो वेदक समकित धरे ॥४२॥

श्रावकके २१ गुण।

सवैया ३१ सा।

लज्जावंत दयावंत प्रसन्न प्रतीतवंत, पर दोषको ढकैया पर उपकारी है। सौम्यदृष्टी गुणग्राही गरिष्ट सबको इष्ट, सिष्ट पची मिष्टवादी दीरघ विचारी है॥ विशेषज्ञ रसज्ञ कृतज्ञ तज्ञ धरमज्ञ, न दीन न अभिमानी मध्य व्यवहारी है। सहज विनीत पाप क्रियासों अतीत ऐसो, श्रावक पुनीत इकवीस गुणधारी है ॥५४॥

बाईस अभक्ष्यके नाम।

ओरा घोरबरा निशिभोजन, बहुबीजा बैंगण संधान।
पीपर बड़ उंबर कठूमर पाकर जो फल होय अजान ॥
कंदमूल माटी विष आमिष मधु माखन अरु मदिरा पान।
फल अति तुच्छ तुषार चलितरस, जिनमत ये बावीस बखान ॥५५॥

प्रतिमा और प्रतिमाओं के भेदोंके लक्षण।

दोहा।

संयम अंश जग्यो जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदै प्रतिज्ञाको भयो, प्रतिमा ताको नाम ॥५८॥

आठ मूलगुण संग्रहे, कुव्यसन क्रिया न कोय।
दर्शन गुण निर्मल करे, दर्शन प्रतिमा सोय ॥५९॥

पंच अणुव्रत आदरे, तीन गुणव्रत पाल।
शिक्षाव्रत चारों धरे, यह व्रत प्रतिमा चाल ॥६०॥

द्रव्य भाव विधि संयुकत, हिये प्रतिज्ञा टेक।
तजि ममता समता गहे, अंतर्मुहूरत एक ॥६१॥

चौपाई।

जो अरि मित्र समान विचारे। आरत रौद्र कुध्यान निवारै॥ संयम सहित भावना भावे। सो सामाइकवंत कहावे ॥ ६२ ॥

दोहा।

प्रथमहि सामायिक दशा, चार पहरलों होय।
अथवा आठ पहर रहे, प्रोसह प्रतिमा सोय ॥६३॥

जो सचित्त भोजन तजे, पीवे प्रासुक नीर।
सो सचित्त त्यागी पुरुष, पंच प्रतिज्ञा गीर ॥६४॥

चौपाई ।

जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पाले। तिथि आये निशि दिवस संभाले ॥ गहि नव वाडि करे व्रत रख्या। सो षट् प्रतिमा श्रावक आख्या ॥ ६५ ॥ जो नव वाडि सहित विधि साधे। निशि दिन ब्रह्मचर्य आराधे ॥ सो सप्तम प्रतिमा धर ज्ञाता। सील शिरोमणि जगत विख्याता ॥ ६६ ॥

दोहा ।

जो विवेक विधि आदरे, करे न पापारंभ।
सो अष्टम प्रतिमाधनी, कुगति विजै रणथंभ ॥६८॥

चौपाई ।

जो दशधा परिग्रहको त्यागी। सुख संतोष सहज वैरागी ॥ समरस संचित किंचित ग्राही। सो श्रावक नौ प्रतिमा वाही ॥ ६९ ॥

दोहा ।

परका पापारंभको, जो न देइ उपदेश।
सो दशमी प्रतिमा सहित, श्रावक विगत कलेश ॥७०॥

चौपाई

जो स्वच्छंद वरते तजि डेरा। मठ मंडपमें करे बसेरा ॥ उचित आहार उदंड विहारी। सो एकादश प्रतिमा धारी ॥ ७१ ॥

दोहा ।

पट प्रतिमाताईं जघन्य, मध्यम नव पर्यंत ।
उत्कृष्ट दशमी ग्यारवीं, इति प्रतिमा विरतंत ॥७३॥

सवैया ३१ सा ।

मांसकी गरंथि कुच कंचन कलश कहै, कहै मुख चंद जो श्लेषमाको घर है । हाड़के दशन याहि हीरा मोती कहे ताहि, मांसके अधर ओठ कहे विंब फल है ॥ हाड़ दंड भुजा कहे काल नाल काम जुधा, हाड़हीके थंभा जंघा कहे रंभा तरु है । यौंही झूठी जुगति बनावे औ कहावे कवि, एते पर कहे हमें शारदाको वर है ॥ १८ ॥

दोहा ।

घटघट अंतर जिन वसे, घटघट अंतर जैन ।
मतमदिराके पानसो, मतवाला समुझै न ॥२२॥

❀ इति संपूर्ण ❀

❀ बनारसीविलास ❀

(पं० बनारसीदासजी)

सवैया ३१ सा ।

जामें सदा उतपात रोगनिसो छीजे गात कछू न उपाय छिन छिन आउ खपनो । कीजे बहुपाप और

नरक दुःख चिंता व्याप, आपदा कलापमें विलाप ताप तपनो ॥ जामें परिग्रहको विषाद मिथ्या बकवाद विषै भोग सुख है सवाद जैसो सपनो। ऐसो है जगत्तवास जैसो चपला विलास जामें तू मगन भयो त्यागि धर्म अपनो ॥ १ ॥ जगमें मिथ्याती जीव भ्रम करै है सदीव भ्रमके प्रवाहमें बहा है आगे बहेगा। नाम राखिवेको महारंभ करैं दंभ करैं यो न जाने दुर्गतिमें दुःख कौन सहेगा ॥ बारबार कहे मैं ही भागवंत धनवंत मेरा नाम जगतमें सदाकाल रहेगा। याही ममतासों गहि आयो है अनन्त नाम आगे योनि योनिमें अनंत नाम गहेगा ॥ २ ॥

सवैया २३ सा।

मात पिता सुत बन्धु सखी जन मीत हितू सुख कामिन कीके। सेवक राजि मतंगज बाजि महादल साजि रथी रथ नीके ॥ दुर्गति जाय दुखी विललाय परै सिर आय अकेले ही जीके। पंथ कुपंथ सुगुरु समझावत और सगे सब स्वारथहीके ॥ ३ ॥

सवैया ३१ सा।

ये ही हैं कुगतिकी निदानी दुख दोष दानी, इन हीकी संगतिसों संगभार वहिये। इनकी मगनतासों विभोको

विनाश होय, इन हीकी प्रीतिसों अनीति पंथ गहिये ॥ ये ही तप भावको विडारें दुराचार धारें, इन हीकी तपत विवेक भूमि दहिये। ये ही इन्द्री सुभट इनहि जीतें सोई साधु, इनको मिलापी सो तो महापापी कहिये ॥ ४ ॥ मौनके धरैया गृह त्यागके करैया विधि, रीतिके सधैया पर निंदासों अपूठे हैं। विद्याके अभ्यासी गिरिकंदराके वासी शुचि, अंगके अचारी हितकारी बैन छूटे हैं। आगमके पाठी मन लाए महाकाठी भारी, कष्टके सहनहार रामाहूँ सों रूठे हैं। इत्यादिक जीव सब कारज करत रीते, इंद्रियनके जीते विना सब अंग झूठे हैं ॥ ५ ॥ धर्म तरु भंजनको महामत्त कुंजरसे, आपदा भण्डारके भरनको करोरी हैं। सत्यशील रोकवेको पौढ़ सरदार जैसे, दुर्गतिका मारग चलायवेको धोरी हैं ॥ कुमतिके अधिकारी कुनय पंथके विहारी, भद्र भाव इंधन जरायवेको होरी हैं। मृपाके सहाई दुर्भावनाके भाई ऐसे, विषयाभिलाषी जीव अघके अघोरी हैं ॥ ६ ॥

पं० वनारसीदासजी वनारसीविलास मे कहते हैं।

मत्तगयन्द (सवैया)

ज्यों मतिहीन विवेक विना नर, साजि मतङ्गज ईंधन ढोवै। कंचन भाजन धूल भरै शठ, मूढ़ सुधारससों

पगधोवै ॥ वाहित काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवै। त्यों यह दुर्लभ देह 'बनारसि' पाय अजान अकारथ खोवै ॥ ७ ॥

कवित्तमात्रिक (३१) मात्रा।

ज्यों जरमूर उखारि कल्पतरु, बोवत मूढ़ कनकको खेत। ज्यों गजराज बेच गिरिवर सम, क्रूर कुबुद्धि मोल खर लेत ॥ जैसे छांड़ि रतन चिन्तामणि, मूरख काचखंड मन देत। तैसे धर्म विसार 'बनारसि' धावत अधम विषय-सुखहेत ॥ ८ ॥

सोरठा।

ज्यों जल बूढ़त कोय, वाहन तज पाहन गहै।
त्यों नर मूरख होय, धर्म छांडि सेवत विषय ॥ ९ ॥

सवैया।

प्रशमको अहित अधीरजको बाल हित, महामोह-राजाकी प्रसिद्ध राजधानी है। भ्रमको निधान दुरध्यानको विलासवन, विपतको थान अभिमानकी निशानी है ॥ दुरितको खेत रोग शोग उतपति हेत, कलहनिकेत दुरगतिको निदानी है। ऐसो परिग्रह भोग सबनको त्याग जोग, आतम गवेषीलोग याही भाँति जानी है ॥ १० ॥

अध्यात्मपदपंक्ति (२) राग रामकली।

चेतन तू तिहुँकाल अकेला,

नदी नावसंजोग मिले ज्यों, त्यों कुटंबका मेला, चेतन०।टेक॥
यह संसार असार रूप सब, ज्यों पटपेखन खेला।
सुखसंपति शरीर जलबुदबुद, विनशत नाहीं बेला, चेतन०॥१॥
मोहमगन आतमगुन भूलत, परी तोहि गलजेला।
मैं मैं करत चहूं गति डोलत, बोलत जैसें छेला, चेतन०॥२॥
कहत बनारसि मिथ्यामत तज, होय सुगुरुका चेला।
तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझेला, चेतन०॥३॥

(६) राग विलावल।

ऐसैं क्यों प्रभु पाइये, सुन मूरख प्रानी।
ऐसैं निरख मरीचिका, मृग मानत पानी॥ऐसैं०॥१॥
ज्यों पकवान चुरैलका, विषयारस त्यों ही।
ताके लालच तू फिरै, भ्रम भूलत यों ही॥ऐसे०॥२॥
देह अपावन खेटकी, अपनीकरि मानी।
भाषा मनसा करमकी, तैं निजकर जानी॥ऐसैं०॥३॥
नाव कहावति लोककी, सो तौ नहिं भूलै।
जाति जगतकी कलपना, तामैं तू झूलै॥ऐसैं०॥४॥
माटी भूमि पहारकी, तुह संपति सूझै।
प्रगट पहेली मोहकी, तू तऊ न बूझै॥ऐसैं०॥५॥

तैं कबहूँ निज गुणविषै, निजदृष्टि न दीनी।
पराधीन परवस्तुसौं, अपनायत कीनी ॥ ऐसैं० ॥ ६ ॥
ज्यों मृगनाभि सुवास सों, ढूंढत बन दौरै।
त्यों तुझमें तेरा धनी, तू खोजत औरै ॥ ऐसैं० ॥ ७ ॥
करता भरता भोगता, घट सो घटमाहीं।
ज्ञान विना सद्गुरु विना, तू समुझत नाहीं ॥ ऐसैं ॥ ८ ॥

(११) राग धनाश्री।

चेतन उलटी चाल चले।

जड़संगततैं जड़ता व्यापी निजगुन सकल टले ॥ चेतन० टेक ॥ १ ॥ हितसों विरचि ठगनिसों राचे, मोह पिसाच छले। हँसि हँसि फंद सवारि आपही, मेलत आप गले ॥ चेतन० ॥ २ ॥ आये निकसि निगोद सिंधुतें, फिर तिह पंथ टले। कैसें परगट होय आग जो दबी पहारतले ॥ चेतन० ॥ ३ ॥ भूले भवभ्रम वीचि 'बनारसि' तुम सुरज्ञान भले। धर शुभध्यान ज्ञाननौका चढ़ि, बैठे ते निकले ॥ चेतन० ॥ ४ ॥

समाधिमरण

(कविवर सूरचन्दकृत 'बड़ा समाधिमरण')

बन्दौं श्रीअरहंत परमगुरु, जो सबको सुखदाई।
इस जगमें दुख जो मैं भुगते, सो तुम जानो राई ॥

अब मैं अरज करूँ प्रभु तुमसे, कर समाधि उर माहीं।
अन्त समयमें यह वर माँगूं, सो दीजै जग-राई ॥१॥

भव-भवमें तन धार नये मैं, भव-भव शुभ संग पायो।
भव-भवमें नृप-रिद्धि लई मैं, मात पिता सुत थायो ॥
भव-भवमें तन पुरुष-तनो धर, नारी हू तन लीनो।
भव-भवमें मैं भयो नपुंसक, आतम-गुन नहिं चीनो ॥२॥

भव भवमें सुर-पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे।
भव-भवमें गति-नरकतनी धर, दुख पाये विधियोगे ॥
भव-भवमें तिर्यंच योनि धर, पायो दुख अतिभारी।
भव-भवमें साधर्मी जनको, संग मिल्यो हितकारी ॥३॥

भव-भवमें जिन-पूजन कीनी, दान सुपात्र हि दीनो।
भव-भवमें मैं समवसरनमें, देख्यो जिन गुन भीनो ॥
एती वस्तु मिली भव-भवमें, 'सम्यक' गुन नहिं पायो।
ना समाधि-युत मरन कियो मैं, तातैं जग भरमायो ॥४॥

काल अनादि भयो जग भ्रमते, सदा कु-मरन हि कीनो।
एक बारहू 'सम्यक' युत मैं, निज-आतम नहिं चीनो ॥
जो निज परको ज्ञान होय तो, मरन समय दुख काँई।
देह विनाशी, मैं निज-भासी, जोति-सरूप सदाई ॥५॥

विषय-कषायनके वस ह्वैकें, देह आपनो जान्यो।
कर मिथ्या सरधान हिये विच, आतम नाहिं पिछान्यो ॥

यों क्लेस हिय धार मरन करि, चारों गति भरमायो।
सम्यकदर्शन-ज्ञान-चरन ये, हिरदेमें नहिं लायो ॥६॥

अब यह अरज करूँ प्रभु सुनिये, मरन समय यह माँगौं।
रोगजनित पीड़ा मत होवो, अरु कषाय मत जागौ ॥
ये मुझ मरन समय दुख-दाता, इन हर, साता कीजे।
जो समाधि-युत मरन होय मुझ, अरु मिथ्या-गद छीजे ॥७॥

यह तन सात कुधात-मयी है, देखत ही घिन आवै।
चर्म-लपेटी ऊपर सोहै, भीतर विष्ठा पावै ॥
अति दुर्गन्ध अपावन सा, यह मूरख प्रीति बढ़ावै।
देह विनासी, जिय अविनासी, नित्य-सरूप कहावै ॥८॥

यह तन जीर्ण कुटी सम आतम, यातैं प्रीति न कीजे।
नूतन महल मिलै जब भाई, तब यामें क्या छीजे ॥
मृत्यु होनसे हानि कौन है, याको भय मत लावो।
समतासे जो देह तजोगे, तो शुभ तन तुम पावो ॥९॥

मृत्यु-मित्र उपकारी तेरो, इस अवसरके माहीं।
जीरन तनसे देत नयो यह, या सम साहू नाहीं ॥
या सेती इस मृत्यु समय पर, उत्सव ही अति कीजे।
क्लेश-भावको त्याग सयाने, समता-भाव धरीजे ॥१०॥

जो तुम पूरब पुण्य किये हैं, तिनको फल सुखदाई।
मृत्यु-मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग-सम्पदा भाई ॥

राग-रोषको छोड़ सयाने, सात व्यसन दुखदाई।
अन्त समयमे समता धारो, पर-भव-पंथ सहाई ॥११॥
कर्म महादुठ वैरी मेरो, ता सेती दुख पावै।
तन-पिंजरमे बन्ध कियो मोहि यासों कौन छुड़ावै॥
भूख-तृषा दुख आदि अनेकन, इस ही तनमें गाढ़े।
मृत्यु-राज अब आय दया कर, तन-पिंजरसों काढ़े ॥१२॥
नाना वस्त्राभूषण मैंने, इस तनको पहराये।
गन्ध सुगन्धित अतर लगाये, षटरस असन कराये॥
रात-दिना मैं दास होयकर, सेव करी तन केरी।
सो तन मेरे काम न आयो, भूल रह्यो निधि मेरी ॥१३॥
मृत्यु-रायको सरन पाय, तन नूतन ऐसो पाऊँ।
जामें सम्यक-रतन तीन लहि, आठों कर्म खपाऊँ॥
देखो तन सम और कृतघ्नी, नाहिं सु या जग माहीं।
मृत्यु समयमें ये ही परिजन, सबही हैं दुखदाई ॥१४॥
यह सब मोह बढ़ावनहारे, जियको दुरगति-दाता।
इनसे मोह निवारो जियरा, जो चाहो सुख-साता॥
मृत्यु-कल्पद्रुम पाय सयाने, माँगो इच्छा जेती।
समता धरकर मृत्यु करो तो, पावो सम्पति तेती ॥१५
चौ आराधन सहित प्रान तज, तौ ये पदवी पावो।
हरि प्रतिहरि चक्री तीर्थेश्वर, स्वर्ग-मुकतिमें जावो।

मृत्यु-कल्पद्रुम सम नहिं दाता, तीनों लोक मंझारे।
ताको पाय कलेस करो मत, जन्म-जवाहर हारे ॥१६॥

इस तनमें क्या राचै जियरा, दिन-दिन जीरन होहै।
तेज-कान्ति-बल नित्य घटत है, या सम अथिर सु को है।
पाँचों इन्द्री शिथिल भई अब, साँस शुद्ध नहिं आवै।
तापर भी ममता नहिं छोड़ै, समता उर नहिं लावै ॥१७॥

मृत्युराज उपकारी जियको, तनसों तोहि छुड़ावै।
नातर या तन बन्दीगृहमें, पड़ौ-पड़ौ बिललावै॥
पुद्गलके परमानू मिलकें, पिण्ड-रूप तन भासी।
ये तो मूरत, मैं हूँ अमूरत, ज्ञान-जोति गुन खासी ॥१८॥

रोग-शोक आदिक जे वेदन, ते सब पुद्गल लारे।
मैं तो चेतन व्याधि-विना नित, हैं सो भाव हमारे॥
या तनसों इस छेत्र-सँबन्धी, कारन आन बन्यो है।
खान-पान दे याको पोस्यो, अब सम-भाव ठन्यो है ॥१९॥

मिथ्यादर्शन, आत्म-ज्ञान बिन, यह तन अपनो जान्यो।
इन्द्री-भोग गिने सुख मैंने, आपो नाहि पिछान्यो॥
तन बिनसनतें नाश जानि निज, यह अयान दुखदाई।
कुटुम आदिको अपनो जान्यो, भूल अनादी छाई ॥२०॥

अब निज भेद जथारथ समझो, मैं हूँ जोति-सरूपी।
उपजै-बिनसै सो यह पुद्गल, जान्यो याको रूपी॥

इष्टऽनिष्ट जेते सुख-दुख हैं, सो सब पुद्गल सागै।
मैं जब अपनो रूप विचारों तब वे सब दुख भागै ॥२१॥

बिन समता तनऽनन्त धरे मैं, तिनमें ये दुख पायो।
शस्त्र-घाततैंऽनन्त बार मर, नाना योनि भ्रमायो।
बार अनन्त हि अग्नि माहिं जर, मूवो सुमति न लायो।
सिंह व्याघ्र अहिऽनन्त बार मुझ, नाना दुःख दिखायो ॥२२॥

बिन समाधि ये दुक्ख लहे मैं, अब उर समता आई।
मृत्यु-राजको भय नहिं मानो, देवै तन सुखदाई ॥
यातैं जब लग मृत्यु न आवै, तब लग जप-तप कीजे।
जप-तप बिन इस जगके माहीं, कोई भी नहिं सीजे ॥२३॥

स्वर्ग-सम्पदा तपसों पावै, तपसों कर्म नसावै।
तप ही सों शिव-कामिनि-पति ह्वै, यासों तप चित लावै ॥
अब मैं जानी समता बिन मुझ, कोऊ नाहिं सहाई।
मात-पिता सुत-बान्धव तिरिया, ये सब हैं दुखदाई ॥२४॥

मृत्यु समयमें मोह करें ये, तातैं आरत हो है।
आरततैं गति नीची पावै, यों लख मोह तज्यो है ॥
और परिग्रह जेते जगमें, तिनसों प्रीत न कीजै।
परभवमें ये संग न चालैं, नाहक आरत कीजै ॥२५॥

जे-जे वस्तु लखत हैं, ते पर, तिनसों नेह निवारो।
पर-गति में ये साथ न चालैं, ऐसो भाव विचारो ॥

जो परभवमें संग चलै तुझ, तिनसों प्रीत सु कीजै।
पंच पाप तज, समता धारो, दान चार विध दीजै ॥२६॥
दशलक्षण-मय धर्म धरो हिय, अनुकम्पा उर लावो।
षोड़शकारण नित्य विचारो, द्वादश भावन भावो॥
चारों परवी प्रोषध कीजै, असन रातको त्यागो।
समता धर दुरभाव निवारो, संयमसों अनुरागो ॥२७॥
अन्त समय में यह शुभ भाव हि, होवें आन सहाई।
स्वर्ग-मोक्ष-फल तोहि दिखावें, ऋद्धि देहिं अधिकाई॥
खोटे भाव सकल जिय त्यागो, उरमें समता लाके।
जा सेती गति-चार दूर कर, बसहु मोक्षपुर जाके ॥२८॥
मन थिरता करके तुम चिन्तो, चौ-आराधन भाई।
ये ही तोकों सुखकी दाता, और हितू कोउ नाहीं॥
आगें बहु मुनिराज भये हैं, तिन गहि थिरता भारी।
बहु उपसर्ग सहे शुभ भावन, आराधन उर धारी ॥२९॥
तिनमें कछुइक नाम कहूँ मैं, सो सुन जिय चित लाके।
भावसहित अनुमोदे जो जन, दुर्गति होय न ताके॥
अरु समता निज उरमें आवे, भाव अधीरज जावे।
यों निश-दिन जो उन मुनिवरको, ध्यान हिये बिच लावे ॥३०॥
धन्य-धन्य सुकुमाल महामुनि, कैसे धीरज धारी।
एक स्यालिनी जुग बच्चा-जुत, पाँव भख्यो दुखकारी॥

यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥३१॥

धन्य धन्य जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्रीने तन खायो।
तौ भी श्रीमुनि नेक डिगे नहिं, आतमसों हित लायो ॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥३२॥

देखो गज-मुनिके सिर ऊपर, विप्र अगिनि बहु बारी।
सीस जलै जिम लकड़ी तिनको, तौ हू नाहि चिगारी ॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥३३॥

सनतकुमार मुनीके तनमें, कुष्ठ-वेदना व्यापी।
छिन्न-भिन्न तन तासों हूवो, तब चिन्त्यो गुन आपी ॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥३४॥

श्रेणिक-सुत गंगा में डूब्यो, तब 'जिन' नाम चितारो।
धर सलेखना परिग्रह छोड़्यो, शुद्ध भाव उर धारो ॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥३५॥

समँतभद्र मुनिवरके तनमें, छुधा-वेदना आई।
ता दुखमें मुनि नेक न डिगियो, चिन्त्यो, निज गुन भाई ॥

यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥३६॥

ललितघटादिक तीस-दोय मुनि, कोसाम्बी तट जानो।
नदीमें मुनि वहकर मूवे, सो दुख उन नहिं मानो॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥३७॥

धर्मघोष मुनि चम्पानगरी, वाह्य ध्यान धर ठाढ़ो।
एक मासकी कर मर्यादा, तृषा-दुक्ख सह गाढ़ो॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥३८॥

श्रीदत्त मुनिको पूर्व-जन्मका, वैरी देव सु आके।
विक्रिय कर दुख शीत-तनो जो, सह्यो साधु मन लाके॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥३९॥

वृषभसेन मुनि उष्ण शिलापर, ध्यान धरो मन लाई।
सूर्य-घाम अरु उष्ण पवनकी, वेदन सहि अधिकाई॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥४०॥

अभयघोष मुनि काकन्दीपुर, महा वेदना पाई।
वैरी चंडनें सब तन छेद्यो, दुख दीनो अधिकाई॥

यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी ।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥४१॥

[illegible] दुख पायो, तौ भी [illegible] न त्यागी ।
शुभ भावनसों प्राण तजे निज, [illegible] ॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी ।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥४२॥

पुत्र-चिलाती नामा मुनिको, बैरीने [illegible] घाता ।
मोटे-मोटे कीट पड़े तन, तापर निज-गुन राता ॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी ।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥४३॥

दंडक नामा मुनिकी देही, बानन कर अरि भेदी ।
ता पर नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म-महारिपु छेदी ॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी ।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥४४॥

अभिनन्दन मुनि आदि पाँचसौ, घानी पेलि जु मारे ।
तौ भी श्रीमुनि समता धारी, पूरब कर्म विचारे ॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी ।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥४५॥

चाणक मुनि गौघरके माहीं, मूंद अगिनि परजाल्यो ।
श्रीगुरु उर सम-भाव धारके, अपनो रूप सम्हाल्यो ॥

यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥४६॥
सात शतक मुनिवर दुख पायो, हथिनापुरमें जानो।
बलि ब्राह्मण-कृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहिं मानो॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥४७॥
लोहमयी आभूषण गढ़के, ताते कर पहराये।
पाँचों पाण्डव मुनिके तनमें, तौ भी नाहिं चिगाये॥
यह उपसर्ग सह्यो, धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव भारी ॥४८॥
और अनेक भये इस जगमें, समता-रसके स्वादी।
वे ही हमकों हों सुखदाता, हरिहैं टेव प्रमादी॥
सम्यकदर्शन-ज्ञान-चरन तप, ये आराधन चारों।
ये ही मोकों सुखकी दाता, इन्हें सदा उर धारों ॥४९॥
यों समाधि उर माहीं लावो, अपनो हित जो चाहो।
तजि ममता अरु आठों मदको, जोति-सरूपी ध्यावो॥
जो कोई नित करत पयानो, ग्रामान्तरके काजै।
सो भी सगुन विचारे नीके, शुभके कारन साजै ॥५०॥
मात-पितादिक सर्व कुटुम मिलि, नीके सगुन बनावैं।
हलदी धनिया पुङ्गी अक्षत, दूध दही फल लावैं॥

एक ग्राम जावनके कारन, करें शुभाशुभ भारे।
जब पर-गतिको करत पयानो, तब नहिं सोचो प्यारे॥५१॥
सर्व कुटुम जब रोवन लागें, तोहि रुलावें सारे।
ये अपसगुन करें सुन तोकों, तू यों क्यों न विचारे॥
अब पर-गतिको चालन विरियाँ, धर्म ध्यान उर आनो।
चारों आराधन आराधो, मोह-तनों दुख हानो॥५२॥
होय निःशल्य तजो सब दुविधा, आतम-राम सुध्यावो।
अब पर-गतिको करहु पयानो, परम-तत्त्व उर लावो॥
मोह-जालको काटो प्यारे, अपनो रूप विचारो।
मृत्यु-मित्र उपकारी तेरो, यों उर निश्चय धारो॥५३॥

"मृत्यु महोत्सव-पाठ' को, पढ़ें-सुनें बुधिवान;
सरधा धर नित सुख लहैं, 'सूरचन्द' शिव-थान।
पंच उभय नव एक शुभ, संवत सो सुखदाय;
आश्विन श्यामा सप्तमी, कह्यो पाठ मन लाय।

समाप्तम्।

बारह भावना प्रकरण

बारह भावना बुधजनकृत।

गीता छन्द।

जेती जगतमैं वस्तु तेती अथिर परणमती सदा।
परणमन राखन नाहि समरथ इंद्रचक्री मुनि कदा॥

सुत नारि यौवन और तन धन जान दामिनि दमकसा ।
ममता न कीजे धारि समता मानि जलमैं नमकसा ॥१॥
चेतन अचेतन सब परिग्रह हुआ अपनी थिति लहैं ।
सो रहैं आप करार माफिक अधिक राखे ना रहैं ॥
अब शरण काकी लेयगा जब इंद्र नाहीं रहत हैं ।
शरण तो इक धर्म आतम जाहि मुनिजन गहत हैं ॥२॥
सुर नर नरक पशु सकल हेरे कर्म चेरे बन रहे ।
सुख शासता नहिं भासता सब विपतिमें अतिसन रहे ॥
दुख मानसी तो देवगतिमैं नारकी दुख ही भरै ।
तिर्यंच मनुज वियोग रोगी शोक संकटमैं जरै ॥३॥
क्यों भूलता शठ फूलता है देख परिकर-थोकको ।
लाया कहाँ ले जायगा क्या फौज भूषण रोकको ॥
जनमत मरत तुझ एकलेको काल केता हो गया ।
सँग और नाहीं लगे तेरे सीख मेरी सुन भया ॥४॥
इंद्रीनतैं जाना न जावै तू चिदानंद अलक्ष है ।
स्वसंवेदन करत अनुभव होत तब प्रत्यक्ष है ॥
तन अन्य जड़ जानो सरूपी तू अरूपी सत्य है ।
कर भेदज्ञान सो ध्यान धर निज और बात असत्य है ॥५॥
क्या देख राचा फिरै नाचा रूप सुन्दर तन लहा ।
मलमूत्र भांडा भरा गाढ़ा तू न जानै भ्रम गहा ॥

क्यों सुग नाहीं लेत आतुर क्यों न चातुरता धरै।
तुहि काल गटकै नाहिं अटकै छोड़ तुमको गिर परै॥६॥
कोई खरा कोई बुरा नहिं, वस्तु विविध स्वभाव है।
तू वृथा विकलप ठान उरमें करत रागउपाव है॥
यूं भाव आस्रव बनत तू ही द्रव्य आस्रव सुन कथा।
तुझ हेतुसे पुद्गल करम न निमित्त हो देते व्यथा॥७॥
तन भोग जगत सरूप लख डर भविक गुर शरणा लिया।
सुन धर्म धारा भर्म गारा हर्षि रुचि सन्मुख भया॥
इंद्री अनिंद्री दाबि लीनी त्रस रु थावर बँध तजा।
तब कर्म आस्रव द्वार रोकै ध्यान निजमैं जा सजा॥८॥
तज शल्य तीनों वरत लीनो बाह्यभ्यंतर तप तपा।
उपसर्ग सुर नर जड़ पशुकृत सहा निज आतम जपा॥
तब कर्म रस विन होन लागे द्रव्यभावन निर्जरा।
सब कर्म हरकै मोक्ष वरकै रहत चेतन ऊजरा॥९॥
बिच लोक नंतालोक मांहीं लोकमैं द्रव सब भरा।
सब भिन्न भिन्न अनादि रचना निमितकारण की धरा॥
जिनदेव भाषा तिन प्रकाशा भर्मनाशा सुन गिरा।
सुर मनुष तिर्यक नारकी हुइ ऊर्ध्व मध्य अधो धरा॥१०॥
अनंतकाल निगोद अटका निकस थावर तनधरा।
भू-वारि-तेज-बयार ह्वैकै बेइंद्रिय त्रस अवतरा॥

फिर हो ति इंद्री वा चौइंद्री पंचेंद्री मनबिन बना ।
मनयुत मनुषगतिहोन दुर्लभ ज्ञान अति दुर्लभ घना ॥११॥
जिय ! न्हान धोना तीर्थ जाना धर्म नाहीं जपजपा ।
तन नग्न रहना धर्म नाहीं धर्म नाहीं तपतपा ॥
वर धर्म निज आतम स्वभावी ताहि बिन सब निष्फला ।
बुधजन धरम निज धार लीना तिनहिं कीना सब भला ॥१२॥

दोहा ।

अथिराशरण संसार है, एकत्व अनित्यहि जान ।
अशुचि आस्रव संवरा, निर्जर लोक बखान ॥१३॥
बोधरुदुर्लभ धर्म ये, बारह भावन जान ।
इनको भावै जो सदा, क्यों न लहै निर्वान ॥१४॥

इति श्री बुधजनकृत बारह भावना समाप्त ।

बारह भावना जयचंदजीकृत ।

दोहा ।

द्रव्यरूपकरि सर्व थिर, परजय थिर है कौन ।
द्रव्यदृष्टि आपा लखो, पर्जय नयकरि गौन ॥१॥
शुद्धातम अरु पंच गुरु, जगमैं सरनौ दोय ।
मोह उदय जियके वृथा, आन कल्पना होय ॥२॥
परद्रव्यनतैं प्रीति जो, है संसार अबोध ।
ताको फल गति चारमें, भ्रमण कह्यो श्रुत शोध ॥३॥

परमारथतैं आतमा, एक रूप ही जोय।
कर्मनिमित विकलप घने, तिन नासे शिव होय ॥४॥
अपने अपने सत्वकूं, सर्व वस्तु विलसाय।
ऐसें चितवै जीव तब, परतें ममत न थाय ॥५॥
निर्मल अपनी आतमा, देह अपावन गेह।
जानि भव्य निज भावको, यामें तजो सनेह ॥६॥
आतम केवल ज्ञानमय, निश्चय-दृष्टि निहार।
सब विभाव परिणाममय, आस्रव भाव विडार ॥७॥
निज स्वरूपमें लीनता, निश्चय संवर जानि।
समिति गुप्ति संजम धरम, धरें पापकी हानि ॥८॥
संवरमय है आतमा, पूर्व कर्म झड़ जाय।
निज स्वरूपको पायकर, लोकशिखर जब थाय ॥९॥
लोकस्वरूप विचारिकैं, आतमरूप निहार।
परमारथ व्यवहार गुणि, मिथ्याभाव निवारि ॥१०॥
बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भवमें प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं ॥११॥
दर्शज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि।
दयाक्षमादिक रतनत्रय, यामें गर्भित जान ॥१२॥

॥ इति श्री बारहभावना-जयचन्दजी कृत समाप्त ॥

बारहभावना भगौतीदासजीकृत ।

चौपाई ।

पंच परमपद वंदन करों । मन वच भाव सहित उर धरों ॥ बारह भावन पावन जान । भाऊं आतम गुण पहिचान ॥ १ ॥ थिर नहिं दीखहि नैननि वस्त । देहादिक अरु रूप समस्त ॥ थिर बिन नेह कौनसों करों । अथिर देख ममता परिहरों ॥ २ ॥ असरन तोहि सरन नहिं कोय । तीन लोकमहिं दृगधर जोय । कोउ न तेरो राखनहार । कर्मनवस चेतन निरधार ॥ ३ ॥ अरु संसार भावना एह । परद्रव्यनसों कीजे नेह । तू चेतन वे जड़ सरवंग । तातैं तजहु परायो संग ॥ ४ ॥ एक जीव तू आप त्रिकाल । ऊरध मध्य भवन पाताल । दूजो कोउ न तेरो साथ । सदा अकेलो फिरहि अनाथ ॥ ५ ॥ भिन्न सदा पुद्गलतैं रहै । भ्रमबुद्धितैं जड़ता गहै ॥ वे रूपी पुद्गलके खंध । तू चिन्मूरत सदा अबंध ॥ ६ ॥ अशुचि देख देहादिक अंग । कौन कुवस्तु लगी तो संग ॥ अस्थी मांस रुधिर गद गेह । मलमूतन लखि तजहु सनेह ॥ ७ ॥ आस्रव परसों कीजे प्रीत । तातैं बंध बढ़हि विपरीत ॥ पुद्गल तोहि अपनपो नाहिं । तू चेतन वे जड़ सब आंहि ॥ ८ ॥ संवर परको रोकन भाव । सुख होवेको

यही उपाव ॥ आवे नहीं नये जहां कर्म । पिछले रुकि प्रगटै निजधर्म ॥ ९ ॥ थिति पूरी ह्वै खिर खिर जाहिं । निर्जरभाव अधिक अधिकाहिं ॥ निर्मल होय चिदानंद आप । मिटै सहज परसंग मिलाप ॥ १० ॥ लोकमांहि तेरो कछु नाहिं । लोक आन तुम आन लखांहिं ॥ वह षट दर्शनको सब धाम । तू चिनमूरति आतम राम । ११॥ दुर्लभ पर दर्वनिको भाव । सो तोहि दुर्लभ है सुनि राव ॥ जो तेरो है ज्ञान अनंत । सो नहिं दुर्लभ सुनो महंत ॥ १२ ॥ धर्म सु आप स्वभावहि जान । आप स्वभाव धर्म सोइ मान ॥ जब वह धर्म प्रगट तोहि होय । तब परमातम पद लखि सोय ॥ १३ ॥ ये ही बारह भावन सार । तीर्थंकर भावहिं निरधार ॥ ह्वै वैराग महाव्रत लेहिं । तब भवभ्रमन जलांजुलि देहिं ॥ १४ ॥ "भैया" भावहु भाव अनूप । भावत होहु चरित शिवभूप ॥ सुख अनंत विलसहु निशदीस । इम भाख्यो स्वामी जगदीस ॥ १५ ॥

* इति श्री बारह भावना समाप्तम् *

बारह-भावना

(कविवर भूधरदास-कृत)

राजा, राणा, छत्रपति, हाथिनके असवार ।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार ॥ १ ॥

दल-बल, देई-देवता, मात-पिता परिवार।
मरती बिरियाँ जीवको, कोऊ न राखनहार ॥ २ ॥
दाम विना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसारमें, सब जग देखो छान ॥ ३ ॥
आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय।
यूँ कबहूँ इस जीवको, साथी-सगा न कोय ॥ ४ ॥
जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय।
घर-संपति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन-लोय ॥ ५ ॥
दिपै चाम-चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगतमें, अवर नहीं घिन-गेह ॥ ६ ॥

मोह-नींदके जोर, जगवासी घूमैं सदा।
कर्म-चोर चहुँओर, सरवस लूटैं, सुध नहीं ॥ ७ ॥
सतगुरु देय जगाय, मोह-नींद जब उपशमैं।
तब कछु बनहिं उपाय, कर्म-चोर आवत रुकैं ॥ ८ ॥

ज्ञान-दीप तप-तेल भर, घर शोधै भ्रम छोर।
या विधि विन निकसैं नहीं, पैठे पूरव चोर ॥
पंच महाव्रत संचरन, समिति पंच परकार।
प्रबल पंच इन्द्रिय-विजय, धार निर्जरा सार ॥ ९ ॥
चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादितैं, भरमत हैं विन ज्ञान ॥ १० ॥

धन-कन-कंचन राज-सुख, सबहि सुलभकर जान ।
दुरलभ है संसारमें, एक जथारथ ज्ञान ॥ ११ ॥
जाचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन ।
बिन जाचे बिन चितये, धर्म सकल सुख दैन ॥ १२ ॥

वैराग्य-भावना

(श्री वज्रनाभि चक्रवर्ती की)

दोहा ।

बीज राख फल भोगवै, ज्यों किसान जगमाहिं ।
त्यों चक्री नृप सुख करै, धर्म बिसारै नाहिं ॥ १ ॥

(जोगीरासा या नरेन्द्रछंद)

इह विध राज करै नरनायक, भोगै पुण्य विशालो ।
सुख-सागरमें रमत निरन्तर, जात न जान्यो कालो ॥
एक दिवस शुभ कर्म-सँजोगे क्षेमंकर मुनि वंदे ।
देखि सिरीगुरुके पद-पंकज, लोचन-अलि आनंदे ॥ २ ॥
तीन प्रदच्छिन दे सिर नायो, कर पूजा थुति कीनी ।
साधु समीप विनय कर बैठ्यो, चरननमें दिठि दीनी ॥
गुरु उपदेश्यो धर्म-शिरोमणि, सुन राजा वैरागे ।
राज-रमा-वनितादिक जे रस, ते रस बेरस लागे ॥ ३ ॥
मुनि-सूरज कथनी किरनावलि, लगत भरम-बुधि भागी ।
भव-तन भोग-स्वरूप विचारो, परम धरम अनुरागी ॥

इह संसार महावन भीतर, भ्रमते ओर न आवै।
जामन मरन जरा दौं दाझै, जीव महादुख पावै ॥ ४ ॥
कबहूँ जाय नरक-थिति भुंजै, छेदन भेदन भारी।
कबहूँ पशु-परजाय धरै तहँ, बध-बंधन भयकारी ॥
सुरगतिमें पर संपति देखे राग उदय दुख होई।
मानुष-योनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहिं कोई ॥ ५ ॥
कोई इष्ट वियोगी बिलखै, कोई अनिष्ट सँयोगी।
कोई दीन दरिद्री बिगुचे, कोई तनके रोगी ॥
किस ही घर कलिहारी नारी, कै बैरी सम भाई।
किस ही के दुख बाहिर दीखें, किस ही उर दुचिताई ॥ ६ ॥
कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै, तब रोवै।
खोटी संततिसों दुख उपजै, क्यों प्रानी सुख सोवै ॥
पुन्य उदय जिनके, तिनके भी नाहिं सदा सुख साता।
यह जगवास जथारथ देखे सब दीखे दुखदाता ॥ ७ ॥
जो संसारविषैं सुख होता, तीर्थंकर क्यों त्यागैं।
काहेको शिव-साधन करते, संजमसों अनुरागैं ॥
देह अपावन अथिर घिनावन, यामैं सार न कोई।
सागरके जलसों शुचि कीजै, तौ भी शुद्ध न होई ॥ ८ ॥
सात कुधातु भरी मल-मूरत, चाम लपेटी सोहै।
अंतर देखत या सम जगमें और अपावन को है ॥

नव मलद्वार स्रवैं निशि-वासर, नाम लिये घिन आवै।
व्याधि उपाधि अनेक जहाँ तहँ, कौन सुधी सुख पावै ॥ ९ ॥
पोषत तो दुख दोष करै अति, सोषत सुख उपजावै।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावै ॥
राचन जोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है।
यह तन पाय महातप कीजै, यामें सार यही है ॥१०॥
भोग बुरे भवरोग बढ़ावैं, वैरी हैं जग जीके।
वेरस होंय विपाक समय अति, सेवत लागैं नीके ॥
वज्र-अगिनि विष-से, विषधर-से, ये अधिके दुखदाई।
धर्म-रतनके चोर चपल अति, दुर्गतिपन्थ सहाई ॥११॥
मोह-उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जानै।
ज्यों कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन मानै ॥
ज्यों-ज्यों भोग सँजोग-मनोहर, मन-वांछित जन पावै।
तृष्णा-नागिन त्यों-त्यों डंकै, लहर जहरकी आवै ॥१२॥
मैं चक्रीपद पाय निरंतर, भोगे भोग घनेरे।
तौ भी तनक भये नहिं पूरन, भोग मनोरथ मेरे ॥
राजसमाज महा अघ-कारण, वैर बढ़ावनहारा।
वेश्या सम लछमी अति चंचल, याका क्या पतियारा ॥१३॥
मोहमहारिपु वैर विचार्यो, जग-जिय संकट डारे।
घर-कारागृह वनिता वेड़ी, परिजन जन रखवारे ॥

सम्यकदर्शन ज्ञान चरण तप, ये जियके हितकारी।
ये ही सार, असार और सब, यह चक्री चित धारी ॥१४॥

छोड़े चौदह रत्न नवोनिधि अरु छोड़े सँग-साथी।
कोड़ि अठारह घोड़े छोड़े चौरासी लख हाथी॥
इत्यादिक सम्पति बहुतेरी जीरन तृण सम त्यागी।
नीति विचार नियोगी सुतकों, राज दियो बड़भागी ॥१५॥

होय निशल्य अनेक नृपति सँग, भूषण वसन उतारे।
श्रीगुरु चरण धरी जिनमुद्रा, पंच महाव्रत धारे॥
धनि यह समझ सुबुद्धि जगोत्तम, धनि यह धीरजधारी।
ऐसी सम्पति छोड़ बसे वन, तिन पद धोक हमारी ॥१६॥

दोहा।

परिग्रह-पोट उतार सब, लीनों चारित-पन्थ।
निज-स्वभावमें थिर भये, वज्रनाभि निरग्रन्थ॥

पूज्य आचार्योंके वैराग्यसे विभूषित पद्योंका संकलन

श्रीपूज्यपाद स्वामीकृत समाधिशतकके वैराग्यमय कतिपय श्लोक।

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥ १५ ॥

अर्थ—संसारके दुःखोंका मूल: शरीरमें आत्मबुद्धि करना है, अतः शरीरमें आत्मबुद्धिको त्यागकर व इंद्रियोंसे विरक्त होकर अन्तरात्माका ध्यान करना चाहिये।

स्वबुद्धया यावद्गृहणीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जबतक यह जीव शरीर, वचन और मनको आत्मारूप मानता रहेगा तबतक संसारका दुःख है। जब आत्माको इनसे भिन्न विचारनेका अभ्यास करेगा तब दुःखोंसे छूट जायेगा।

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

अर्थ—समान आकार बना रहने पर भी इस शरीर-रूपी सेनाके चक्रमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन परमाणु आकर मिलते रहते हैं पुराने झड़ते रहते हैं तो भी मूढ़बुद्धिवाले बहिरात्मा जीव इस शरीरको भ्रान्तिसे थिर मानकर इसे ही आत्मा माना करते हैं।

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यंगेन विशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

अर्थ—"मैं गोरा हूँ, स्थूल हूँ, अथवा कृश (दुबला) हूँ" इस प्रकार शरीरके धर्मोंसे आत्माको पृथक् समझे। आत्मा तो नित्य मात्र ज्ञान शरीरधारी है।

देहान्तरगतेर्बीजं, देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

अर्थ—इस शरीरमें आत्माकी भावना करना अन्य नवीन नवीन शरीर धारण करनेका कारण है और आत्मामें ही आत्माकी भावना करना इस शरीरसे छूटनेका उपाय है अर्थात् मोक्ष प्राप्तिका कारण है।

शृण्वन्नप्यन्यत-कामं, वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं, यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

अर्थ—"शरीरसे आत्मा भिन्न है" इस बातको उपाध्याय आदिक गुरुओं से सुनकर भी तथा इसी बातको दूसरोंसे बार बार कहते रहने पर भी जब तक भेदज्ञान की दृढ़-भावना नहीं की जाती तब तक मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

आत्मानुशासन

(श्रीगुणभद्राचार्य)

शरणमशरणं यो बन्धवो बंधमूलं।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ॥

विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत् ।

त्यजत भजत धर्मं निर्म्मलं शर्म्मकामाः ॥६०॥

अर्थ—जिसे तू शरण समझता है वही तुझे मरणसे नहीं बचा सकता। ये भाई बन्धु बंधनके मूल हैं। चिर परिचित स्त्री अनेक आपदाओंका द्वार है। स्वार्थके सगे पुत्र शत्रु हैं। इन सबको छोड़ और यदि तू सुखको चाहता है तो तू पवित्र धर्मका सेवन कर।

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि ।

शाश्वतं पदमायाति मुधाऽऽयातमवेहि ते ॥७०॥

अर्थ—ये आयु शरीरादि सभी अवश्य नाश होनेवाले हैं, यदि इनकी ममता छोड़नेसे अविनाशी मोक्षपद प्राप्त होता है तो सहजमें ही आया जान।

गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं,

खलः कायोप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम् ।

किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह,

स्थिता भ्रन्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः ॥७२॥

अर्थ—यह आयु प्रगट ही अरहटकी घड़ीके जलकेसमान छिन छिन गल रही है। यह दुष्ट शरीर भी आयुकी गतिके अनुसार निरंतर पतनशील है। जिनसे जीवन बना रहता

है, जब वे आयु व काय ही विनाशीक हैं तब अन्य पुत्र स्त्री व धनधान्यादिकके संबंधकी क्या बात, वे तो छूटने ही वाले हैं। तो भी यह अज्ञानी जीव अपनेको थिर मानता है, जैसे नावमें बैठा पुरुष चलता हुआ भी भ्रमसे अपनेको थिर मान लेता है।

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं।
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन्वने यौवने ॥
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वृद्धो वार्द्धमृतः क्व जन्मफलितं धर्मो भवेन्निर्मलः ॥८९॥

अर्थ—भो जीव, बालावस्थामें तू परिपूर्णांगका धारक न होनेसे अपने हित या अहितको कुछ भी नहीं जानता है। यौवनमें स्त्रीरूपी वृक्षोंके वनमें भ्रमता हुआ कामान्ध बना रहता है। मध्य अवस्थामें बढ़ी हुई धनकी तृष्णासे पशुके समान खेती आदि कर्मोंको करता हुआ क्लेश पाता है। बुढ़ापेमें अधमरा हो जाता है। तब बता, नरजन्मको सफल करनेके लिये तू पवित्र धर्मको कहाँ पालन करेगा।

दीप्तोभयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत्।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि ॥२३॥

अर्थ—जैसे दोनों तरफ आगसे जलते हुये एरंडके काष्टके बीचमें प्राप्त कीड़ा महान दुःखी होता है उसी प्रकार

जन्म तथा मरणसे व्याप्त इस शरीरमें यह प्राणी कष्ट पाता है।

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यंतमखिलं,
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराघबहुलम्।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः,
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥१०५॥

अर्थ—आत्मज्ञानी जीवोंके लिये यह शरीर त्यागने योग्य है, क्योंकि वे विचार करते हैं कि यह शरीर गर्भसे लेकर मरण पर्यंत वृथा ही दुःख, अपवित्रता, भय, पराभव और पापादिसे पूर्ण है। यदि इस अचेतन शरीरका राग छोड़नेसे मुक्तीरूपी लक्ष्मीका लाभ हो तो ऐसा कौन मूर्ख है जो इसको त्याग ने के लिये समर्थ न हो ?

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि,
काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानं।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाःस्यु-,
र्मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥१९५॥

अर्थ—प्रथम ही शरीरकी उत्पत्ति होती है, उस शरीरमें इन्द्रियाँ विषम विषयोंको चाहती हैं, वे विषयभोग महानपनेकी हानि करते हैं, महाक्लेशके कारण हैं, भयके करने वाले हैं,

पापके उपजाने वाले हैं, और निगोदादि कुयोनिके देने वाले हैं। इसलिये यह शरीर ही अनर्थकी परंपराका मूल कारण है।

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि ।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम् ॥१९६॥

अर्थ—अज्ञानी लोग, अहो, कैसा न करने योग्य काम करते हैं, शरीरको भी पोषते हैं, विषयभोगोंको भी सेवते हैं मानों विष पीकर जीना चाहते हैं।

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ ।
प्रांते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥२०१॥

अर्थ—इस शरीरकी उत्पत्ति तो माता है, मरण इसका पिता है, मानसिक शारीरिक दुःख इसके भाई हैं, अंतमें जरा इसका मित्र है तो भी इस शरीरमें तेरी आशा है यह बड़ा आश्चर्य है, अहो !

शुद्धोप्यशेषविषयावगमोप्यमूर्तोप्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि । मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र, किं वा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥२०२॥

अर्थ—हे चिदानंद ! तू तो शुद्ध है, सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है, अमूर्त्तीक है तो भी इस अचेतन शरीरने तुझे अपवित्र कर दिया है। यह शरीर मूर्त्तीक है, सदा अपवित्र चेतना रहित है। यह तो केशर कपूरादि सुगंधित

वस्तुओंको भी दूषित कर देता है इस शरीरको धिक्कार हो! धिक्कार हो !

हा हतोसितरां जन्तो येनास्मिस्तव सांप्रतम् ।
ज्ञानं कायाऽशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसः ॥२०३॥

अर्थ—हाय हाय ! हे प्राणी ! तू अत्यन्त ठगाया गया, नष्ट भया, तू शरीरमें ममत्व करके अति दुःखी भया। अब तू विचार, यह शरीर अशुचि है, ऐसा जानना यही सच्चा ज्ञान है तथा इसका ममत्व तजना ही साहसका काम है।

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै—
स्तद्भूयोप्यविकुत्सयन्नभिलषस्य प्राप्तपूर्वं यथा ।
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान्यावद्दुराशामिमा-
मंहःसंहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥ ५० ॥

अर्थ—हे मूढ़ ! इस संसारमें विषयी जीवोंने कौतूहलपूर्वक भोगकर जिन पदार्थोंको छोड़ा है, उनकी तू फिर अभिलाषा करता है। ऐसा रागी भया है मानो ये भोग पहिले कभी पाए ही न थे। इनको तूने अनन्तबार भोगा है और अनंत जीवोंने भी अनंत बार भोगा है। क्या तिनकी तुझे ग्लानि नहीं आती है ? ये तो झूठनके समान हैं, इनसे तुझे क्या कभी शान्ति मिल सकती है ? तुझे तब ही शांति मिलेगी जब तू इस प्रबल वैरीकी ध्वजाके

समान आशाको छोड़ेगा। विषयोंकी आशा कभी मिटती नहीं, यही बड़ी दुःखदायिनी है।

लब्धेन्धनोज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ॥५६॥

अर्थ—अग्नि तो ईंधनके होने पर ही जलती है परंतु ईंधनके न होनेपर बुझ जाती है। परंतु इन्द्रियोंके भोगोंकी मोहरूपी अग्नि बड़ी भयानक है जो दोनों तरह जलती रहती है। यदि भोग्य पदार्थ मिलते हैं तो भी जलती रहती है और नहीं मिलते हैं तो भी जलती रहती है। अहो! इसकी शान्ति किसी भी प्रकार नहीं होती है?

तत्त्व भावना या बृहत् सामायिक पाठ

(श्री अमितगति आचार्य)

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगै–
स्तनुधनसुतहेतोः कर्म्म यादृक् करोषि।
सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से,
सुखममलमनंतं किं तदा नाऽश्नुषेऽलं ॥६६॥

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी! तू शरीर, धन, पुत्रके लिये असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प तथा वाणिज्य कर्मोंद्वारा जैसा परिश्रम करता है वैसा यदि तू एक दफे भी संयमके

लिये करे तो तब तू निर्मल अनंतसुख क्यों नहीं भोग-सकेगा ?

दिनकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिंदोः ।
सुरशिखरिणी जातु प्राप्यते जंगमत्वं ॥
न पुनरिह कदाचित् घोरसंसारचक्रे ।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म्म पुंसा ॥६८॥

अर्थ—कदाचित् सूर्यकी किरणसमूहमें ठंडापन आ जावे, चंद्रमा उष्ण हो जावे, सुमेरु पर्वत चलने लग जावें तो भी दुःखोंके भण्डार इस भयानक संसारचक्रमें भ्रमण करते हुए प्राणीको सच्चा सुख नहीं प्राप्त हो सकता ।

सकललोकमनोहरणक्षमाः करणयौवनजीवितसंपदः । कमल-पत्रपयोलवचञ्चलाः किमपि न स्थिरमस्ति जगत्त्रये ॥१०९॥

अर्थ—समस्त संसारके मनको हरन करनेमें समर्थ इन्द्रियें, यौवन, जीतव्य व संपदाएं कमलपत्रपर पड़ी हुई पानीकी बूंदके समान चंचल हैं । तीनों लोकोंमें कुछ भी (कोई भी पर्याय) स्थिर नहीं है ।

संयोगेन दुरन्तकल्मषभुवा दुःखं न किं प्रापितो ।
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्राजाध्यासिते ॥
संगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना ।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनो निश्चलम् ॥१७॥

अर्थ—जरा व मरणरूपी व्याघ्र समूहसे भरे हुए इस संसार-वनमें महान पापको उत्पन्न करनेवाले इस शरीरके संयोगसे ऐसा कौनसा दुःख है, जो तूने प्राप्त नहीं किया है ? अब तू अपने मनको स्थिर करके ऐसा काम कर जिससे तुझे स्वप्नमें भी इस दुष्ट शरीरका फिर संग न हो।

दुर्गंधेन मलीमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रियः।
साध्यंते सुखकारिणा यदि तदा संपद्यते का क्षतिः॥
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखदं रत्नं यदि प्राप्यते।
लाभः केन न मन्यते बत तदा लोकस्थितिं जानता॥१८॥

अर्थ—यह शरीर तो दुर्गंधमय अशुचि है। ऐसे शरीर से यदि स्वर्ग व मोक्ष देनेवाली सुखकारी सम्पदायें प्राप्त हो सकें तो क्या हानि है, उसके लिये यत्न करना ही चाहिये। यदि किसी निन्दा योग्य तुच्छ वस्तुके बदलेमें सुखदाई रत्न प्राप्त हो सके तो लोककी स्थितिको जानने वाले को क्यों न मानना चाहिये ?

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता।
गुर्वी दुःखपरंपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते॥
तत्र स्थापयता विनष्टममतां विस्तारिणीं संपदम्।
का शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम्॥४३॥

अर्थ—इस शरीरके साथ रहते हुए अज्ञानी आत्माने स्थिर मानकर जो पापकर्म किये हैं उससे दुःखोंकी परंपरा इसने उठाई है। यदि यह इस शरीरसे ममता हटाले तो ऐसी कौनसी संपत्ति है जो इसको प्राप्त न हो सके ? क्या इन्द्रकी, क्या चक्रवर्तीकी, क्या नारायण की ?

भीतं मुंचति नांतको गतघृणो भैषीर्वृथा मा नतः।
सौख्यं जातु न लभ्यतेऽभिलषितं त्वं माभिलाषीरिदं॥
प्रत्यागच्छति शोचितं न विगतं शोकं वृथा मा कृथाः।
प्रेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम् ॥७३॥

अर्थ—मृत्यु जब आती है तब उससे भयभीत होनेपर भी वह छोड़ती नहीं है। अतः तू उसपर घृणा मत कर और डरे भी मत। जब तू इच्छित विषय भोगोंको कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता, तो तू उनकी अभिलाषा मत कर। जिसका मरण हो गया वह जब शोक करने पर भी वापिस नहीं आता तब तू वृथा शोक मत कर। विचारपूर्वक कार्य करनेवाले किसी भी कामको विना प्रयोजन नहीं करते हैं।

यो निःश्रेयसशर्मदानकुशलं संत्यज्य रत्नत्रयम्।
भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं भोगं मिथः सेवते॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनकं हालाहलं वल्भते।
सद्यो जन्मजरांतकक्षयकरं पीयूषमत्यस्य सः ॥१०१॥

अर्थ—जो कोई मूढ़ मोक्षसुख देनेवाले रत्नत्रय धर्मको छोड़कर भयानक व तीव्र दुःखके फलको पैदा करनेवाले भोगोंको बारबार सेवन करता है, तो मैं ऐसा मानता हूँ कि वह जन्म, जरा, मरणके नाशक अमृतको जल्दीसे फेंककर प्राणोंको हरनेवाले हलाहल विषको पीता है।

ज्ञानार्णव

(श्री शुभचंद्राचार्य)

माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यतेऽङ्गजा।
पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पौत्रिकं पदम् ॥१६॥

अर्थ—इस संसारमें माता मरकर पुत्री, बहन मरकर स्त्री, स्त्री मरकर पुत्री, पिता मरकर पुत्र, पुत्र मरकर पौत्र हो जाता है।

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस शरीरके प्राप्त होनेका फल उन्होंने ही लिया, जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर अपने अपने आत्मकल्याणके लिये ध्यानादि पवित्र कर्मोंसे इसे क्षीण किया।

कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥१२॥

अर्थ—कपूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचन्दनादि सुन्दर सुन्दर पदार्थोंको भी यह मनुष्योंका शरीर संसर्ग-मात्रसे मैला कर देता है। ऐसा शरीर प्रीति करने योग्य कैसे हो सकता है?

यदत्रविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम्।
अनन्तजन्मसन्तानक्लेशसंपादकं यतः ॥ ५—२० ॥

अर्थ—इन्द्रियोंका विषयसेवनजन्य सुख दुःख ही है, क्योंकि यह विषयसुख अनंत संसारकी परिपाटीमें दुःखोंको ही पैदा करनेवाला है।

दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम्।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते न विद्मः केन हेतुना ॥ १० ॥

अर्थ—इन्द्रियजन्य सुख दुःख ही है। यह अविद्या-रूपी सर्पसे पोषित है। न जाने मूर्ख जन किस हेतुसे इस सुखमें रंजायमान होते हैं।

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः।
बद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात् ॥
भृङ्गा गन्धोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाः कुरङ्गा।
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः ॥२५॥

अर्थ—रसना इन्द्रियके वश होकर मछलियाँ प्राण खोती हैं, हाथी स्पर्श इन्द्रियके वश होकर गड्ढेमें गिराए

जाते हैं व बाँधे जाते हैं, पतंगे नेत्र इन्द्रियके वश होकर आगकी ज्वालामें जलकर मरते हैं, भ्रमर गंधके लोलुपी होकर कमलके भीतर मर जाते हैं, मृग गीतके वश होकर प्राण गँवाते हैं। ऐसे एक २ इन्द्रियके वश प्राणी मरते हैं; अहो आश्चर्य है तब भी देह धारियोंका राग इन्द्रियोंके विषयमें बना ही रहता है।

तत्त्वज्ञान तरंगिणी

(श्री ज्ञानभूषण भट्टारक)

एकेंद्रियादसंज्ञाख्यापूर्णपर्यंतदेहिनः।
अनंतानंतमाः संति तेषु न कोऽपि तादृशः॥
पंचाद्विसंज्ञिपूर्णेषु केचिदासन्न भव्यतां।
नृत्वं चालभ्य तादृशाः भवंत्यार्याः सुबुद्धयः ॥१०-११॥

अर्थ—एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक अनंतानंत जीवोंमें सम्यग्दर्शन पानेकी योग्यता ही नहीं है। पंचेन्द्री सैनी जीवोंमें कुछ ही जीव निकटभव्यता और मानवपर्यायको प्राप्त करके उसमें भी जो आर्य हैं व सुबुद्धि हैं वे ही मुख्यरूपसे सम्यक्त्वी होकर शुद्ध चिद्रूप का ध्यान कर सकते हैं।

दुर्गंधं मलभाजनं कुविधिना निष्पादितं धातुभि-
रंगं तस्य जनैर्निजार्थमखिलैराख्या धृता स्वेच्छया।

तस्याः किं मम वर्णनेन सततं किं निंदनेन च
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्त्वतः ॥१०-८॥

अर्थ—यह शरीर दुर्गंधमय है, मलोंका घर है, अशुभ-कर्मके उदयसे धातुओंद्वारा बना है। तथापि अज्ञानी जीवोंने अपने स्वार्थके लिये अपनी इच्छानुसार इसकी प्रशंसा की है। वस्तुतः शरीर और कर्मोंसे उत्पन्न हुए, रागादि विकारोंसे रहित शुद्ध चिद्रूप स्वरूप मुझे इस शरीरकी प्रशंसा और निंदासे, अहो, क्या प्रयोजन ?

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्ते सुखं मे सततं तृणायते। कुस्त्री-
रमास्थानकदेहदेहजात् सदेति चित्रं मनुतेऽल्पधीः सुखं ॥१०-९॥

अर्थ—मैंने शुद्ध चिद्रूपके सुखको जान लिया है, अतः मेरे चित्तमें देवेन्द्र, नागेन्द्र और इन्द्रोंके सुख सर्वदा जीर्ण तृणके समान प्रतिभासित होते हैं। परंतु यह बड़ा आश्चर्य है, कि अज्ञानी जीव स्त्री, लक्ष्मी, घर, शरीर और पुत्रादिके द्वारा होनेवाले क्षणिक सुखको, जो वास्तवमे दुःखरूप है, सुख मान लेता है।

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत्।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषयोंके भोगनेमे सत्पुरुषोंको आकु-लता होनेके कारण वस्तुतः दुःख ही होता है। परंतु शुद्ध

चिद्रूपके अनुभव करनेमें निराकुलता होनेके कारण यथार्थ सुखका वस्तुतः अनुभव होता है।

द्वादशानुप्रेक्षा

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य)

दुग्गंधं बीभत्थं कलिमलभरिदं अचेयणो मुत्तं।
सडणपडणं सहावं देहं इदि चिन्वये णिच्चं ॥४४॥

अर्थ—शरीर दुर्गंधमय है, घृणामय है, मैलसे भरा है, अचेतन है, मूर्तीक है, इसका स्वभाव ही सड़ना व पड़ना है, ऐसा ज्ञानीको नित्य विचारना चाहिये।

प्रवचनसार

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य)

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥८०॥

अर्थ—इन्द्रियोंद्वारा प्राप्त सुख दुःख ही है क्योंकि वह पराधीन, बाधासहित, विनाशीक, बंधका कारण तथा विषम है।

शील पाहुड़में-

वारि एक्कम्मि यजम्मे सरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहयाणं भमंति संसारकांतारे ॥२२॥

अर्थ—विषवेदनासे आहत जीव एक ही बार जन्ममें मृत्युको प्राप्त होता है परंतु विषयरूपी विष खाने वाले संसार-वनमें बार२ मरकर भ्रमते फिरते हैं।

मूलाचार, द्वादशानुप्रेक्षा।

(श्री वट्टकेरस्वामी)

असुइविलिविले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो।
मादूइसेमलालाइयं तु तिव्वासुहं पिवदि॥ ३३॥

अर्थ—अपवित्र मूत्रमल श्लेष्मपित्त रुधिरादिसे घृणामय गर्भमें वसता हुआ, मांस की झिल्लीसे ढकाहुआ, माताके कफ द्वारा पाला हुआ यह जीव महान दुर्गंध रसको पीता है।

अत्थं कामसरीरादियं पि सव्वमसुभत्ति णादूण।
णिव्विज्जंतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुहं॥३५॥

अर्थ—द्रव्य, काम भोग, शरीरादि ये सब तेरे बिगाड़ करनेवाले अशुभ हैं ऐसा जानकर इनसे वैराग्य धारण करके ऐसा आत्मध्यान कर जिससे इस अपवित्र शरीरका संबंध सदाके लिये छूट जावे।

मोत्तूणं जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो॥ ३६॥

अर्थ—देव, असुर, तिर्यंच, नारकी व मानवोंसे भरे हुए इस लोकमें एक जिनेन्द्रप्रणीत धर्मको छोड़कर कोई शुभ तथा पवित्र वस्तु नहीं है।

एदं सरीरमसुई णिच्चं कलिकलुसभायणमचोक्खं।
अंतोछाइद ढिड्डिस खिब्भिसभरिदं अमेज्झघरं ॥ ७८ ॥

अर्थ—यह शरीर महान अशुचि है, नित्य रागद्वेष उत्पन्न करनेका कारण है, अशुभ वस्तुओंसे बना है, चमड़ेसे ढका है, भीतर पीप, रुधिर, मांस, चरबी, वीर्य आदिसे पूर्ण है तथा मलमूत्रका भण्डार है।

एदारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिमपूदियमचोक्खे।
सडणपडणे असारे रागं ण करिंति सप्पुरिसा ॥८४॥

अर्थ—ऐसे दुर्गंधित, पीपादिसे भरे, अपवित्र, सड़न-गलन स्वभाववाले, साररहित इस शरीरमें सत्पुरुष राग नहीं करते हैं।

धित्तेसिमिंदियाणं जेसिं वसदो दु पावमज्जणिय।
पावदि पावविवागं दुक्खमणंतं भवगदिसु ॥४३ ॥

अर्थ—इन इन्द्रियोंको धिकार हो जिनके वशमें पड़के प्राणी पापोंको बांधकर उनके फलसे चारों गतियोंमें दुःखको पाते हैं।

वट्टकेरस्वामी मूलाचार, समयसार अधिकार में कहते हैं:—

बीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्स वि तहित्थिरूवस्स ।
हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥९९॥

अर्थ—काष्ठके बने हुए स्त्रीके रूपको देखनेसे भी सदा भय रखना चाहिये। क्योंकि निमित्तकारणसे इस जीवका मन विकारी हो जाता है।

घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंतअग्गिसमा।
तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं गया इयरे ॥१००॥

अर्थ—पुरुष घीसे भरे हुए घटके समान है, स्त्री जलती हुई आगके समान है। इस कारण बहुतसे पुरुष स्त्रीके संयोगसे नष्ट हो चुके। जो बचे, वे ही मोक्ष पहुँचे हैं।

मायाए बहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥१०१॥

अर्थ—स्त्रीके रूपको देखनेसे बिना किसी अपेक्षाके सदा ही भयभीत रहना चाहिये। चाहे वह माताका रूप हो, चाहे बहनका हो, चाहे वह कन्याका हो, चाहे गूंगीका हो व चाहे वृद्ध स्त्रीका हो।

भगवती आराधना

(श्री शिवकोटि आचार्य)

जदि होज्ज मच्छियाप,-त्तसरिसिया तयाए णो पिहिदं।
को णाम कुणिमभरियं, सरीरमालध्दुमिच्छेज्ज ॥१०३७॥

अर्थ—यदि यह शरीर मक्खीके पर समान पतली त्वचासे ढका न हो तो इस मैलसे भरे हुए शरीरको कौन स्पर्शना चाहेगा ?

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं।
सुट्ठु वि दयिदं महिलं, दट्ठुं पि णरो ण इच्छेज्ज॥१०३८॥

अर्थ—इस शरीर का सारा चमड़ा जल जावे, शरीर सफेद निकल आवे और घावोंसे रस झड़ने लग जावे तो प्यारी स्त्री भी उसे देखना पसंद न करेगी।

जदि दा रोगा एकम्मि, चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी।
सव्वम्मि चेव देहे, होदव्वं कदिहि रोगेहिं ॥१०५३॥
पंचेव य कोडीओ, अट्ठासट्ठिं तहवे लक्खाइं।
णव णवदिं च सहस्सा, पंचसया होंतिं चुलसीदी ॥१०५४॥

अर्थ—यदि एक आँखमें ९६ रोग होते हैं, तो सारे शरीरमें कितने रोग होंगे ? इस शरीरमें पांच करोड़ अडस

लाख निन्याणवे हज़ार पाँचसौ चौरासी (५६९९५८४) रोग उपजने योग्य होते हैं।

रूवाणि कट्ठकम्मा-, दियाणि चिट्ठंति सारवंतस्स ।
धणिदं पि सारवंत-, स्स ठादि चिरं सरीरमिमं ॥१२५५॥

अर्थ—काष्ठ व पत्थरकी मूर्तियें सँवारी हुई बहुत समय तक ठहर सकती हैं, परन्तु यह मनुष्यका शरीर अत्यन्त संस्कार करते हुए भी बहुत देर नहीं ठहरता है।

ण लहदि जह लेहंतो, सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो ।
सो सगतालुगरुहिरं, लेहंतो मण्णए सुक्खं ॥१२५६॥
महिलादिभोगसेवी, ण लहइ किंचि वि सुहं तहा पुरिसो ।
सो मण्णदे वराओ, सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥१२५७॥

अर्थ—जैसे कुत्ता सूखे हाड़ोंको चाबता हुआ रसको नहीं पाता है, हाड़ोंकी नोकसे उसका तालवा कट जाता है जिससे रुधिर निकलता है, उस रुधिरको पीता हुआ उसे हाड़से निकला मान सुख मान लेता है वैसे स्त्री आदिके भोगोंको करता हुआ कामी पुरुष कुछ भी सुख नहीं पाता है। कामकी पीड़ासे दीन हुआ अपनी कायके परिश्रमको ही सुख मान लेता है।

❀ इति वैराग्य प्रकरण ❀

- श्री —

प्रकाशकीय

आज हमें यह अपूर्व सुंदर संग्रह ग्रंथ प्रकाशन करते हुए हर्ष हो रहा है, यों तो अभी समाजमें अनेकों संग्रह ग्रंथ बहुत काफी मात्रामे प्रचलित हैं, लेकिन यह उन सबसे ही अपनी अपूर्वता रखता है, अध्यात्मरसिक मुमुक्षुके लिये यह पुस्तक एक प्रकारकी गाइड बुकके रूपमें काम आवेगी, अपने समयका सदुपयोग करनेके लिये इसमें भक्ति, पूजा, वैराग्य, अध्यात्म आदि विषयोंके अनेक चुने हुए छोटे २ पद्य, पाठ, भजन, स्तोत्र आदि भी हैं तो अनेक बड़े २ समयसार, प्रवचन-सार जैसे महान् ग्रंथराजोंका सरल पद्यानुवाद भी है ताकि हरएक मुमुक्षु अपनी २ रुचिके अनुसार सब प्रकारकी सामग्री इसमें प्राप्त करके समयका पूर्ण उपयोग कर सके।

मेरी बहुत समयसे ऐसी इच्छा थी कि एक ऐसे ग्रंथका संग्रह करके प्रकाशन किया जावे कारण अध्यात्मरसिक पुरुषके लिये अपनी रुचिके अनुकूल सामग्री इकट्ठी करनेके लिये अनेकों पुस्तकोंको टटोलना पड़ता था और उन सबको अपने साथ २ रखना असंभव जैसा ही था। अतः यह एक ऐसी पुस्तक होगी जिस एक ही में मुमुक्षु अपनी रुचिके अनुसार सर्व प्रकारकी सामग्री प्राप्त कर सकेगा।

इसके संग्रह करनेमें बहुत समय व परिश्रम उठाना पड़ा है। अनेक ग्रंथोंको चुन २ कर मैंने श्री पं० श्रेयांसकुमारजी को दिये और

उनमेंसे उन्होने जो २ विशेष २ सुंदर व विशेष उपयोगी पद्य स्तोत्र गाथा भजन आदि थे उनको संग्रह किया और फिर हम दोनों ने बैठकर उनको फिर जांचकर उनमेंसे भी छांटे तथा उनके विषयको देखते हुए उनको ३ भागोंमें विभक्त किया।

(१) पहला भक्ति-प्रकरण है इसमें जो २ पद्य आदि देव, शास्त्र, गुरु आदिकी भक्ति, वंदना, पूजन आदिकी मुख्यता वाले थे उनको इस प्रकरणमें लिया गया है।

(२) दूसरे वैराग्य प्रकरणमें संसार, देह, भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न करानेकी मुख्यता वाले पद्यादिको का संग्रह है।

(३) तीसरे अध्यात्म प्रकरणमें अपनी आत्माके समीप पहुंचाने की मुख्यता वाले एवं तात्विक विषयके अनेक पद्य, स्तोत्र एवं ग्रंथादिका संग्रह है।

उपरोक्त प्रकरणोंमें कई स्थानों पर संस्कृत श्लोक भी संग्रह किये गये है लेकिन समझने में सरलता हो इसलिये सबकी हिंदी भाषामें टीका भी साथकी साथ लगा दी गई है। इस ग्रंथमें आये हुए अनेक पद्यादिको की कविके नाम सहित एक २ पद्यकी प्रथम चरणकी सूची बनवाकर लगादी गई है ताकि किसी भी विषयके किसी भी कविके किसी भी पद्यको ढूंढनेमे कोई असुविधा न हो। तथा प्रत्येक कविके द्वारा रचित कविता स्तोत्र आदि किन किन पृष्ठोंपर छपे है इसकी भी सूची बनवाकर लगादी गई है। इस ग्रंथकी ५०० प्रतियोका तो तीनों प्रकरणोंका एक पुस्तकके रूपमे प्रकाशन किया गया

है तथा ५०० प्रतियोंका हरएक प्रकरणका एक २ अलग २ रूपमें प्रकाशन किया है ताकि जिज्ञासुओंको सुविधा रहे।

इस ग्रंथके तीनों प्रकरणोंमें ३२ आचार्यों व कवियों की ५४ पु… से ८०५ स्तोत्र आदिका पद्य संख्या ७७५ में संग्रह किया गया … इसके बहुत सी पुस्तकें जैसे दौलत विलास, बुद्ध विलास आदिके इसी प्रकार अमृतचंद्राचार्यके समयसार पर रचे गये कलश, बनारसी… द्वारा रचित समयसार कलशोंका पद्यानुवाद आदिको पूराका पूरा इस ग्रंथमें नहीं लिया गया है, बल्कि उनमें से चुन २ कर खास २ पद्यादि ही पुस्तकका आकार बहुत बढ़ जानेके भयसे लिये गये है अतः जो पाठक विशेष रुचिवान हों, वे विशेष अध्ययनके लिये उन ग्रंथराजों की स्वाध्याय करें।

अंतमें मै संग्रहके कर्ता श्री पं० श्रेयांसकुमारजी शास्त्रीको उनके परिश्रमकी सराहना करते हुए धन्यवाद देता हूँ तथा प्रेसके मैनेजर बाबू नेमीचंदजी बाकलीवाल भी धन्यवादके पात्र हैं।

इस ग्रंथके छपनेमे कुछ अशुद्धियां रह गई है उसके लिये हम पाठकोंसे क्षमा मांगते है तथा निवेदन करते हैं कि वे शुद्धिपत्र द्वारा शुद्ध करके ग्रंथका उपयोग करें।

भवदीयः—

नेमीचंद पाटनी

प्रधानमंत्री

श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट

मारोठ (मारवाड़)

कवि-सूची

प्रत्येक आचार्य व कवि आदिकी रचनाऐं किन किन पृष्ठों पर हैं

— उनकी सूची —

विषय सूची

अध्यात्म प्रकरण पृष्ठ ३२५ से ७७५

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ

अध्यात्म प्रकरण

दौलतविलास

(४२)

जानत क्यौं नहिं रे, हे नर आतमज्ञानी ॥ जानत० ॥ टेक ॥ रागदोष पुद्गलकी संपति, निहचै शुद्धनिशानी ॥ ॥ जानत० ॥१॥ जाय नरक पशुनरसुरगतिमें, यह परजाय विरानी । सिद्धसरूप सदा अविनाशी, मानत विरले प्रानी ॥ जानत० ॥ २ ॥ कियौ न काहू हरै न कोई, गुरु-शिख कौन कहानी । जनममरनमलरहित विमल है, कीचविना जिमि पानी ॥ जानत० ॥ ३ ॥ सारपदारथ है तिहुं जगमें, नहिं क्रोधी नहिं मानी । दौलत सो घटमाहिं विराजै, लखि हूजै शिवथानी ॥ जानत० ॥ ४ ॥

(४८)

चिन्मूरत दृग्धारीकी मोहि, रीति लगत है अटापटी[1] ॥ चिन्मूरत० ॥ टेक ॥ बाहिर नारकिकृत दुख भोगै, अंतर सुखरस गटागटी । रमत अनेक सुरनिसँग पै तिस,

---

१ अटपटी ।

परनतितैं नित हटाहटी[1] ॥ चिन्मू० ॥ १ ॥ ज्ञानविराग-शक्तितैं विधिफल[2], भोगत पै विधि घटाघटी[3] । सदननिवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटाछटी ॥ चिन्मू० ॥२॥ जे भवहेतु अबुधके तें तस, करत बंधकी झटाझटी । नारक पशु तिय षंढ[4] विकलत्रय, प्रकृतिनकी ह्वै कटाकटी ॥ चिन्मू० ॥ ३ ॥ संयम धर न सकै पै संयम, धारनकी उर चटाचटी । तासु सुयश गुनकी दौलतके, लगी रहै नित रटारटी ॥ चिन्मू० ॥ ४ ॥

(६७)

मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी ॥ मेरे० ॥ टेक ॥ तन बिनवसन असनबिन वनमें, निवसों नासा दृष्टि धरी ॥ मेरे० ॥१॥ पुण्यपापरससौं कब विरचों, परचों निजनिधि चिरविसरी । तज उपाधि सजि सहजसमाधी, सहों घाम-हिम-मेघझरी[5] ॥ मेरे० ॥ २ ॥ कब थिरजोग धरों ऐसो मोहि, उपल[6] जान मृग खाज हरी । ध्यान[7]-कमान तान अनुभव-शर, छेदौं किहि दिन मोह अरी ॥ मेरे० ॥ ३ ॥ कब तृनकंचन एक गनों अरु, मनिजड़ितालय[8] शैलदरी[9] ।

---

१ दूरपना । २ कर्मफल । ३ न्यूनता । ४ नपुंसक । ५ धूप-शीत-वर्षा । ६ पत्थर । ७ ध्यानरूपी धनुपपर अनुभवरूपी बाण । ८ रत्नजड़ित महल । ९ पर्वतकी कदरा (गुफा) ।

दौलत सतगुरुचरनसेउं जो, पुरवो आश यहै हमरी ॥ मेरे० ॥ ४ ॥

(६९)

चित चिंतके चिदेश[1] कब, अशेष[2] पर[3] वमूं[4]। अपार निधि[5] दुचार[6],-की चमू[7] दमूं ॥ चित० ॥ टेक ॥ तजि पुण्यपाप थाप आप, आपमें[8] रमूं[9]। कब राग-आग शर्म[10]-बाग,-दाघनी शमूं[11] ॥ चित० ॥ १ ॥ दृगज्ञानभानतैं[12] मिथ्या, अज्ञानतम दमूं। कब सर्व प्राणिभूत, सत्त्वसों छमूं ॥ चित० ॥ २ ॥ जल[13] मल्ललिप्त-कल[14] सुकल[15],-सुबल्ल परिनमूं। दलकें त्रिशल्लमल्ल[16] कब, अटल्लपद[17] पमूं ॥ चित० ॥ ३ ॥ कब ध्याय अज अमरको फिर न, भव-विपिन[18] भमूं। जिन-पूर कौल[19] दौलको यह, हेतु हौं नमूं चित० ॥ ४ ॥

---

१ आत्मा। २ सम्पूर्ण। ३ परपदार्थ। ४ वमन करदूं-छोड़दूं। ५ कर्म। ६ दो गुणित चार अर्थात् आठ। ७ सेना। ८ आत्मामें। ९ रमण करूं। १० सुखरूपी बागको जलानेवाली। ११ शमन करूं, शांत करूं। १२ सम्यग्दर्शन और ज्ञानरूपी सूर्यसे। १३ जड़। १४ शरीर। १५ शुक्लध्यानके बलसे। १६ माया, मिथ्यात्व, निदानरूप तीन शल्यरूपी पहलवान। १७ मोक्षपद। १८ संसार-रूपी वन। १९ प्रतिज्ञा।

❀ द्यानत विलास ❀

(२) राग सोरठा ।

गलतानमता कब आवैगा ॥ टेक ॥ राग दोष परणति मिट जै है, तब जियरा सुख पावैगा ॥ गलता० ॥१॥ मैं ही ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मैं, तीनों भेद मिटावैगा । करता किरिया करमभेद मिटि, एक दरब लौं लावैगा ॥ गलता० ॥ २ ॥ निहचैं अमल मलिन व्योहारी, दोनों पच्छ नसावैगा । भेद गुण गुणीको नहिं ह्वैं है, गुरु शिख कौन कहावैगा ॥ गलता० ॥ ३ ॥ द्यानत साधक साधि एक करि, दुविधा दूर बहावैगा । वचनभेद कहवत सब मिटकै, ज्योंका त्यों ठहरावैगा ॥ गलता० ॥ ४ ॥

(३) राग सारंग ।

मोहि कब ऐसा दिन आय है ॥टेक॥ सकल विभाव अभाव होंहिंगे, विकलपता मिट जाय है ॥ मोहि० ॥ १ ॥ यह परमातम यह मम आतम, भेदबुद्धि न रहाय है । औरनिकी का बात चलावै, भेदविज्ञान पलाय है । मोहि० ॥ २ ॥ जानैं आप आपमैं आपा, सो व्यवहार विलाय है । नय-प्रमान-निखेपन-माहीं, एक न औसर पाय है ॥ मोहि० ॥ ३ ॥ दरसन ज्ञान चरनके विकलप, कहो कहाँ

ठहराय है। द्यानत चेतन चेतन ह्वै है, पुदगल पुदगल थाय है ॥ मोहि० ॥ ४ ॥

(६) राग काफी धमाल।

सो ज्ञाता मेरे मन माना, जिन निज-निज, पर-पर जाना ॥ टेक ॥ छहों दरवतैं भिन्न जानकै, नव तत्वनितै आना। ताकौं देखै ताकौं जानै, ताहीके रसमें माना ॥ सो ज्ञाता० ॥ १ ॥ कर्म शुभाशुभ जो आवत हैं, सो तो पर पहिचाना। तीन भवनको राज न चाहै, यद्यपि गांठ दरब बहु ना ॥ सो ज्ञाता० ॥ २ ॥ अखय अनंती सम्पति विलसै, भव तन भोग मगन ना। द्यानत ता ऊपर बलिहारी, सोई "जीवन मुकत" भना ॥ सो ज्ञाता० ॥ ३ ॥

(१२) राग सोरठ।

कर कर आतमहित रे प्रानी ॥ टेक ॥ जिन परिनामनि बंध होत है, सो परनति तज दुखदानी ॥ कर० ॥१॥ कौन पुरुष तुम कहां रहत हौ, किहिकी संगति रति मानी। जे परजाय प्रगट पुद्गलमय, तेतैं क्यों अपनी जानी ॥ कर० ॥ २ ॥ चेतनजोति झलक तुझमाहीं, अनुपम सो तैं विसरानी। जाकी पटतर लगत आन नहिं दीप रतन शशि सूरानी ॥ कर० ॥ ३ ॥ आपमें आप लखो अपनो

पद, द्यानत करि तन-मन-बानी। परमेश्वरपद आप पाइये, यौं भाषैं केवलज्ञानी ॥ कर० ॥ ४ ॥

(१३) राग विहागरो।

जानत क्यों नहिं रे, हे नर आतमज्ञानी ॥ टेक ॥ रागदोष पुद्गलकी संगात, निहचै शुद्धनिशानी ॥ जानत० ॥ १ ॥ जाय नरक पशु नर सुर गतिमें, ये परजाय विरानी। सिद्ध-स्वरूप सदा अविनाशी, जानत विरला प्रानी ॥ जानत० ॥ २ ॥ कियो न काहू हरै न कोई, गुरु शिख कौन कहानी। जनम-मरन-मलरहित अमल है, कीच विना ज्यों पानी ॥ जानत० ॥ ३ ॥ सार पदारथ है तिहुं जगमें, नहिं क्रोधी नहिं मानी। द्यानत सो घटमाहि विराजै, लख हूजै शिवथानी ॥ जानत० ॥ ४ ॥

(१४) राग काफी।

आपा प्रभु जाना मैं जाना ॥ टेक ॥ परमेसुर यह मैं इस सेवक, ऐसो भर्म पलाना ॥ आपा० ॥ १ ॥ जो परमेसुर सो मम मूरति, जो मम सो भगवाना। मरमी होय सोइ तो जानै, जानै नाहीं आना ॥ आपा० ॥ २ ॥ जाको ध्यान धरत हैं मुनिगन, पावत हैं निरवाना। अर्हंत सिद्ध सूरि गुरु मुनिपद, आतमरूप बखाना ॥ आपा० ॥ ३ ॥ जो निगोदमें सो मुझमाहीं, सोई है शिव थाना।

द्यानत निहचैं रंच फेर नहिं जानै सो मतिवाना ॥ आपा० ॥ ४ ॥

(१६) राग काफी।

अब हम आतमको पहचाना जी ॥ टेक ॥ जैसा सिद्धक्षेत्रमें राजत, तैसा घटमें जाना जी ॥ अब हम० ॥ १ ॥ देहादिक परद्रव्य न मेरे, मेरा चेतन बाना जी ॥ अब हम० ॥ २ ॥ द्यानत जो जानै सो स्याना, नहिं जाने सो दिवाना जी ॥ अब हम० ॥ ३ ॥

(२४)

आतम अनुभव करना रे भाई ॥ टेक ॥ जब लौं भेद-ज्ञान नहिं उपजै, जनम मरन दुख भरना रे ॥ भाई० ॥१॥ आतम पढ़ नव तत्त्व बखानै, व्रत तप संजम धरना रे । आतम-ज्ञान बिना नहिं कारज, जोनी-संकट परना रे ॥ भाई० ॥ २ ॥ सकल ग्रन्थ दीपक हैं भाई, मिथ्या तमके हरना रे । कहा करैं ते अंध पुरुषको, जिन्हैं उपजना मरना रे ॥ भाई० ॥ ३ ॥ द्यानत जे भवि सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे । 'सोऽहं' ये दो अक्षर जपकै, भव-जल पार उतरना रे ॥ आतम० ॥ ४ ॥

(२६)

अब हम आतमको पहिचान्यौ ॥ टेक ॥ जब ही सेती मोह सुभट बल, खिनक एकमें भान्यौ ॥ अब० ॥ १ ॥

राग विरोध विभाव भजे झर, ममता भाव पलान्यौ। दरसन ज्ञान चरनमें, चेतन भेद रहित परवान्यौ॥ अब० ॥२॥ जिहि देखैं हम अवर न देख्यो, देख्यो सो सरधान्यौ। ताकौ कहो कहैं कैसैं करि, जा जानै जिम जान्यौ॥ अब० ॥ ३ ॥ पूरव भाव सुपनवत देखे, अपनो अनुभव तान्यो। द्यानत ता अनुभव स्वादत ही, जनम सफल करि मान्यौ ॥ अब० ॥ ४ ॥

(३०)

आतमरूप अनूपम है, घटमाहिं विराजै ॥ टेक ॥ जाके सुमरन जापसों, भव भव दुख भाजै हो ॥ आतम० ॥ १ ॥ केवल दरसन ज्ञानमैं, थिरतापद छाजै हो। उपमा को तिहुँ लोकमें, कोउ वस्तु न राजै हो ॥ आतम० ॥२॥ सहै परीषह भार जो, जु महाव्रत साजै हो। ज्ञान विना शिव ना लहै, बहुकर्म उपाजै हो ॥ आतम० ॥ ३ ॥ तिहुं लोक तिहुं कालमें, नहिं और इलाजै हो। द्यानत ताकों जानिये, निज स्वारथ काजै हो ॥ आतम० ॥ ४ ॥

(३५)

धिक ! धिक ! जीवन समकित विना ॥ टेक ॥ दान शील तप व्रत श्रुतपूजा, आतमहेत न एक गिना ॥ धिक० ॥ १ ॥ ज्यों विनु कन्त कामिनी शोभा, अंबुज विनु सरवर ज्यों सुना। जैसे विना एकड़े बिन्दी, त्यों समकित

विन सरव गुना ॥ धिक० ॥२॥ जैसे भूप बिना सब सेना, नीव बिना मंदिर चुनना। जैसे चन्द बिहूनी रजनी, इन्हैं आदि जानो निपुना ॥ धिक० ॥ ३ ॥ देव जिनेन्द्र, साधु गुरु, करुना, धर्मराग व्योहार भना। निहचै देव धरम गुरु आतम, द्यानत गहि मन वचन तना ॥ धिक० ॥ ४ ॥

(३७) राग मल्हार।

ज्ञान सरोवर सोई हो भविजन ॥ टेक ॥ भूमि छिमा करुना मरजादा, सम-रस जल जहँ होई ॥ भविजन० ॥१॥ परहति लहर हरख जलचर बहु, नय-पंकति परकारी। सम्यक कमल-अष्टदल गुण हैं, सुमन भँवर अधिकारी ॥ भविजन० ॥ २ ॥ संजम शील आदि पल्लव हैं, कमला सुमति निवासी। सुजस सुवास कमल परिचय तैं, परसत भ्रम तप नासी ॥ भविजन० ॥ ३ ॥ भव मल जात न्हात भविजनका, होत परम सुख साता। द्यानत यह सर और न जानैं, जानैं बिरला ज्ञाता ॥ भविजन० ॥ ४ ॥

(३९) राग सारंग।

हम लागे आतमरामसों ॥टेक॥ विनाशीक पुद्गलकी छाया, कौन रमै धनमानसों ॥ हम० ॥ १ ॥ समता सुख घटमें परगास्यो, कौन काज है कामसों। दुविधा-भाव जलांजुलि दीनौं, मेल भयो निज स्वामसों ॥ हम० ॥ २ ॥

भेदज्ञान करि निज पर देख्यौ, कौन विलोकै आतमसौं। उरै परैकी बात न भावै, लौ लाई गुणगानमसौं ॥ हंस० ॥ ३ ॥ विकलप भाव रंक सब भाजे, झरि चेतन अभिरा-मसौं। द्यानत आतम अनुभव करिकै छूटे भव दुखधामसौं ॥ हंस० ॥ ४ ॥

(५०)

मगन रहु रे ! शुद्धातममें मगन रहु रे ॥ टेक ॥ रागदोष परको उतपात, निहचै शुद्ध चेतना जात ॥ मगन० ॥ १ ॥ विधि निषेधको खेद निवारि, आप आपमें आप निहारि ॥ म०॥२॥ बंध मोक्ष विकलप करि दूर, आनँदकंद चिदातम सूर ॥ मगन० ॥ ३ ॥ दरसन ज्ञान चरन समुदाय, द्यानत ये ही मोक्ष उपाय ॥ मगन० ॥ ४ ॥

(५१)

आतम जानो रे भाई ! ॥ टेक ॥ जैसी उजल आरसी रे, तैसी आतम जोत । काया-करमनसौं जुदी रे, सबको करै उदोत ॥ आतम० ॥ १ ॥ शयन दशा जागृत दशा रे, दोनों विकलपरूप । निरविकलप शुद्धातमा रे, चिदानंद चिद्रूप ॥ आतम० ॥२॥ तन वचसेती भिन्न कर रे, मनसों निज लौ लाय । आप आप जब अनुभवै रे, तहां न मन वच काय ॥ आतम० ॥३॥ छहौ दरब नव तत्त्वतैं रे, न्यारो आतमराम। द्यानत जे अनुभव करैं रे, ते पावैं शिव धाम ॥ आतम० ॥४॥

(५३)

री ! मेरे घट ज्ञान घनागम छायो ॥ री० ॥ टेक ॥ शुद्ध भाव बादल मिल आये, सूरज मोह छिपायो ॥री०॥१॥ अनहद घोर घोर गरजत है, भ्रम आताप मिटायो । समता चपला चमकनि लागी अनुभौ-सुख झर लायो ॥री० ॥२॥ सत्ता भूमि बीज समकितको, शिवपद खेत उपायो । उद्धत (?) भाव सरोवर दीसै, मोर सुमन हरषायो ॥ री० ॥ ३ ॥ भव-प्रदेशतैं बहु दिन पीछैं, चेतन पिय घर आयो । द्यानत सुमति कहै सखियन सों, यह पावस मोहि भायो ॥ री० ॥ ४ ॥

(५८)

तुम ज्ञानविभव फूली वसन्त, यह मन मधुकर सुखसों रमन्त ॥ टेक ॥ दिन बड़े भये वैराग भाव, मिथ्यामत रजनीको घटाव ॥ तुम० ॥ १ ॥ बहु फूली फैली सुरुचि बेलि, ज्ञाताजन समतासंग केलि ॥ तुम० ॥ २ ॥ द्यानत बानी पिक मधुररूप, सुरनरपशु आनँदघनसुरूप ॥ तुम० ॥ ३ ॥

(५९) राग मल्हार ।

जगतमें सम्यक उत्तम भाई ॥ टेक ॥ सम्यकसहित प्रधान नरकमें, धिक शठ सुरगति पाई ॥ जगत० ॥ १ ॥ श्रावकव्रत मुनिव्रत जे पालैं, ममता बुद्धि अधिकाई ।

तिनतैं अधिक असंजमचारी, जिन आतम लव लाई ॥ जगत० ॥ २ ॥ पंच-परावर्तन तैं कीनै, बहुत बार दुखदाई । लख चौरासि स्वांग धरि नाच्यौ, ज्ञानकला नहिं आई ॥ जगत० ॥ ३ ॥ सम्यक बिन तिहुं जग दुखदाई, जहँ भावै तहँ जाई । द्यानत सम्यक आतम अनुभव, सद्गुरु सीख बताई ॥ जगत० ॥ ४ ॥

(६०) राग गौड़ी ।

भाई ! अब मैं ऐसा जाना ॥ टेक ॥ पुद्गल दरव अचेत भिन्न हैं, मेरा चेतन बाना ॥ भाई० ॥ १ ॥ कलप अनन्त सहत दुख बीते, दुखकौ सुख कर माना । सुख दुख दोऊ कर्म अवस्था, मैं कर्मनतैं आना ॥ भाई० ॥ २ ॥ जहां भोर था तहां भई निशि, निशिकी ठौर विहाना । भूल मिटी जिनपद पहिचाना, परमानन्द निधाना ॥ भाई० ॥ ३ ॥ गूंगे का गुड़ खांय कहैं किमि, यद्यपि स्वाद पिछाना । द्यानत जिन देख्या ते जानै, मेंडक हंस परवाना ॥ भाई० ॥ ४ ॥

(६१) राग ख्याल ।

आतम जान रे जान रे जान ॥टेक॥ जीवनकी इच्छा करै, कबहुं न मांगै काल । (प्राणी) सोई जान्यो जीव है, सुख चाहै दुख टाल ॥ आतम० ॥ १ ॥ नैन वैनमें कौन है, कौनसुनत हैं बात । (प्राणी) देखत क्यों नहिं आपमें, जाकी चेतन

जात ॥ आतम० ॥ २ ॥ बाहिर ढूंढै दूर है, अंतर निपट नजीक । (प्राणी) ढूंढनवाला कौन है, सोई जानो ठीक ॥ आतम० ॥ ३ ॥ तीन भवनमें देखिया, आतम समे नहिं कोय । (प्राणी) द्यानत जे अनुभव करैं, तिनकौं शिव-सुख होय ॥ आतम० ॥ ४ ॥

(६३) राग रामकली

हम न किसीके कोई न हमारा, झूठा है जगका व्योहारा ॥ टेक ॥ तनसंबंधी सब परवारा, सो तन हमने जाना न्यारा ॥ हम० ॥ १ ॥ पुन्य उदय सुखका बढ़वारा, पाप उदय दुख होत अपारा । पाप पुन्य दोऊ संसारा, मैं सब देखन हारा ॥ हम० ॥ २ ॥ मैं तिहुं जग तिहुं काल अकेला, पर संजोग भया बहु मेला; थिति पूरी करि खिर खिर जाहीं, मेरे हर्ष शोक कछु नाहीं ॥ हम० ॥३॥ राग भावतैं सज्जन मानैं, दोष भावतैं दुर्जन जानैं । राग दोष दोऊ मम नाहीं, द्यानत मैं चेतनपदमाहीं ॥ हम० ॥ ४ ॥

(६९)

मैं निज आतम कब ध्याऊंगा ॥ टेक ॥ रागादिक परिनाम त्यागकै, समतासौं लौ लाऊंगा ॥ मैं निज० ॥१॥ मन वच काय जोग थिर करकै, ज्ञान समाधि लगाऊंगा ।

कबहौं छिपकश्रेणि चढ़ि ध्याऊं, चारित मोह नशाऊंगा ॥ मैं निज० ॥२॥ चारों करम घातिया खन करि परमातम पद पाऊंगा । ज्ञान दरश सुख बल भंडारा, चार अघाति बहाऊंगा ॥ मैं निज० ॥ ३ ॥ परम निरंजन सिद्ध शुद्ध-पद, परमानंद कहाऊंगा । द्यानत यह सम्पति जब पाऊं, बहुरि न जगमें आऊंगा ॥ मैं० ॥ ४ ॥

(८१)

देखे सुखी सम्यकवान ॥ टेक ॥ सुख दुखको दुखरूप विचारैं, धारैं अनुभव ज्ञान ॥ देखे० ॥ १ ॥ नरक सातमेंके दुख भोगैं, इन्द्र लखैं तिन मान । भीख मांगकै उदर भरैं न करैं चक्रीको ध्यान ॥ देखे० ॥ २ ॥ तीर्थंकर पदको नहिं चावें जपिउदय अप्रमान । कुष्ट आदि बहु व्याधि दहत न, चहत मकरध्वज थान ॥ देखे० ॥ ३ ॥ आधि व्याधि निरबाध अनाकुल, चेतनजोति पुमान । द्यानत मगन सदा तिहिमाहीं, नाहीं खेद निदान ॥ देखे० ॥ ४ ॥

(८८) राग आसावरी ।

अब हम अमर भये न मरैंगे ॥ टेक ॥ तन कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरैंगे ॥ अब० ॥ १ ॥ उपजै मरै कालतैं प्रानी, तातै काल हरैंगे । राग द्वोष जग बंध करत हैं, इनको नाश करैंगे ॥ अब० ॥ २ ॥ देह

विनाशी मैं अविनाशी भेदज्ञान पकरैंगे। नासी जासी हम थिरवासी, चोखे हों निखरैंगे॥ अब०॥ ३॥ मरे अनन्त बार बिन समझैं, अब सब दुख बिसरैंगे। द्यानत निपट निकट दो अच्छर, बिन सुमरैं सुमरैंगे॥ अब०॥ ४॥

(९४) राग गौरी।

देखो भाई! आतमराम विराजै॥ टेक॥ छहो दरब नव तत्त्व ज्ञेय है, आप सुज्ञायक छाजै॥ देखो०॥ १॥ अर्हत सिद्ध सूरि गुरु मुनिवर, पांचौं पद जिहिमाहीं। दरसन ज्ञान चरन तप जिहिमें, पटतर कोऊ नाहीं॥ ॥ देखो०॥२॥ ज्ञान चेतना कहिये जाकी, बाकी पुदगल-केरी। केवलज्ञान विभूति जासुकै, आनविभौ भ्रमकेरी॥ देखो०॥ ३॥ एकेन्द्री पंचेन्द्री पुदगल, जीव अतीन्द्री ज्ञाता। द्यानत ताही शुद्ध दरबको, जानपनो सुखदाता॥ देखो०॥ ४॥

छप्पै

यह असुद्ध मैं सुद्ध, देह परमान अखंडित।
असंख्यात परदेस, नित्य निरभै मैं पंडित॥
एक अमूरति निर उपाधि, मेरो छय नाहीं।
गुन अनंत ज्ञानादि, सर्व ते हैं मुझमाहीं॥

मैं अतुल अचल चेतन विमल, सुख अनंत मोमैं लसैं ।
जब इस प्रकार भावत निपुन, सिद्धखेत सहजैं बसैं ॥ ८४ ॥

लहत भेदविज्ञान, ज्ञानमय जीव सु जानत ।
जानत पुग्गल अन्य, अन्यसौं नातौ भानत ॥
भानत मिथ्या-तिमिर, तिमिर जा सम नहिं कोई ।
कोई विकलप नाहिं, नहिं दुविधा जस होई ॥
होई अनंत सुख प्रगट जब, जब प्रानी निजपद गहत ।
गहत न ममत लखि गेय सब, सब जग तजि सिवपुर लहत॥९०

कुंडलिया ।

जो जानै सो जीव है, जो मानै सो जीव । जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव ॥ जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौरस प्रानी । आनंदकंद सुबंद, चंद पूरन सुखदानी ॥ जो जो दीसै सर्व, सर्व छिनभंगुर सो सो । सुख कहि सकै न कोई, होइ जाकौं जानै जो ॥९॥

छप्पै ।

ग्यानरूप चिद्रूप, भूप सिवरूप अनूपम ।
रिद्ध सिद्ध निज वृद्ध, सहज समृद्ध सिद्ध सम ॥
अमल अचल अविकल्प, अजल्प, अनल्प, सुखाकर ।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सुगन-गन-मनि-रतनाकर ॥

उतपात-नास-ध्रुव साध सत, सत्ता दरव सु एक ही।
द्यानत आनंद अनुभौ दसा, बात कहनकी है नहीं ॥ ९ ॥

भोग रोगसे देखि, जोग उपयोग बढ़ायौ।
आन भाव दुख दान, ग्यानकौ ध्यान लगायौ ॥
संकलप विकलप अलप, बहुत सब ही तजि दीनैं।
आनँदकंद सुभाव, परम समतारस भीनैं ॥
द्यानत अनादि भ्रमवासना, नास कुविद्या मिट गई।
अंतर बाहर निरमल फटक, फटक दसा ऐसी भई ॥१०॥

सवैया - २३।

लोगनिसौं मिलनौं हमकौं दुख, साहनिसौं मिलनौं दुख भारी। भूपतिसौं मिलनौं मरनैं सम, एक दसा मोहि लागत प्यारी ॥ चाहकी दाह जलैं जिय मूरख, बे-परवाह महा सुखकारी। द्यानत याहीतैं ग्यानी अवंछक, कर्मकी चाल सबै जिन टारी ॥ २७ ॥

सवैया- ३१।

चेतनासहित जीव तिहुंकाल राजत है, ग्यान दरसन भाव सदा जास लहिए। रूप रस गंध फास पुदगलकौ विलास, मूरतीक रूपी विनासीक जड़ कहिये ॥ याही अनुसार परदर्वकौ ममत्त डारि, अपनो सुभाव धारि आप-

माहिं रहिए। करिए यही इलाज जातैं होत आप काज, राग दोष मोह भावकौ समाज दहिए ॥ ९२ ॥

कुंडलिया।

द्यानत चक्री जुगलिये, भवनपती पाताल। सुरगइंद्र अहमिंद्र सब अधिक २ सुख भाल ॥ अधिक २ सुख भाल, काल तिहुं नंत गुनाकर। एकसमै सुख सिद्ध, रिद्ध परमातमपद घर ॥ सो निहचै तू आप, पापबिन क्यौं न पिछानत। दरस ग्यान थिर थाप, आपमैं आप सु द्यानत ॥ ११ ॥

सवैया -२३।

कर्म सुभासुभ जो उदयागत, आवत हैं जब जानत ज्ञाता। पूरव भ्रामक भाव किये बहु, सो फल मोहि भयो दुखदाता ॥ सो जड़रूप स्वरूप नहीं मम, मैं निज सुद्ध सुभावहि राता। नास करौं पलमैं सबकौं अब, जाय बसौं सिवखेत विख्याता ॥ ६५ ॥

अशोक छन्द।

सुद्ध आतमा निहारि राग दोष मोह टारि, क्रोध मान वंक गारि लोभ भाव भानु रे। पापपुन्यकौं विडारि सुद्धभावकौं सँभारि, भर्मभावकौं विसारि पर्मभाव आनु रे ॥ चर्मदृष्टि ताहि जारि सुद्धदृष्टिकौं पसारि, देहनेहकौं निवारि

सेतध्यान ठानु रे । जागि जागि सैन छारि भव्य-मोक्षकों विहार, एक वारके कहे हजार बार जानु रे ॥ ॥ ८२ ॥

सवैया ३१ ।

मिथ्याभाव मिथ्या लखौ ग्यानभाव ग्यान लखौ, कामभोग भावनसौं काम जोरजारिकै । परकौ मिलाप तजो आपनपौ आप भजौ, पापपुन्य भेद छेद एकता विचारिकै ॥ आतम अकाज करै आतम सुकाज करै, पावै भवपार मोक्ष एतौ भेद धारिकै । यातै हूँ कहत हेर चेतन चेतौ सवेर, मेरे मीत हो निचीत एतौ काम सारिकै ॥ ९४ ॥

सवैया २३ ।

मौन रहैं बनवास गहैं, वर काम दहैं जु सहैं दुख भारी ।
पाप हरैं सुभरीति करैं, जिनवैन धरैं हिरदे सुखकारी ॥
देह तपैं बहु जाप जपैं, न वि आप जपै ममता विसतारी ।
ते मुनि मूढ़ करैं जगरूढ़, लहैं निजगेह न चेतनधारी ॥९६॥

सवैया ३१ ।

चेतनके भाव दोय ग्यान औ अग्यान जोय, एक निजभाव दूजौ परउतपात है । तातैं एक भाव गहौ दूजौ भाव मूल दहौ, जातैं सिवपद लहौ यही ठीक बात है ॥ भावकौ दुखायौ जीव भावहीसौं सुखी होय, भावहीकौं फेरि

फेरे मोखपुर जात है। यह तौ नीकौ प्रसंग लोक कहैं सर
आगहीकौं दाधौ अंग आग ही सिरात है ॥ १०७ ॥

छप्पै।

तिय मुख देखनि अंध, मूक मिथ्यात मननकौं।
बधिर दोष पर सुनन, लुंज पटकाय हननकौं।
पंगु कुतीरथ चलन, सुन्न हिय लेन धरनकौं।
आलसि विषयनि माँहि, नाहिं बल पाप करनकौं।
यह अंगहीन किह कामकौ, करै कहा जग बैठकैं।
द्यानत तातैं आठौं पहर, रहै आप घर पैठकैं ॥५॥

होनहार सो होय, होय नहिं अन-होना नर।
हरष सोक क्यौं करै, देख सुख दुःख उदैकर ॥
हाथ कछू नहिं परै, भाव-संसार बढ़ावै।
मोह करमकौ लियौ, तहां सुख रंच न पावै ॥
यह चाल महामूरख तनी, रोय-रोय आपद सहै।
ग्यानी विभाव नासन निपुन, ग्यानरूप लखि शिव लहै ॥६॥

सवैया-३१।

वृच्छ फलैं पर-काज नदी और के इलाज,
गाय-दूध संत-धन लोक-सुखकार है।
चंदन घसाइ देखौ, कंचन तपाई देखौ,
अगर जलाई देखौ शोभा विसतार है ॥

सुधा होत चंद्रमाहिं जैसे छांह तरु माहिं,
पालेमें सहज सीत आतप निवार है।
तैसें, साधलोग सब लोगनिकौं सुखकारी,
तिनहीकौ जीवन जगत माहिं सार है॥ ८॥

भागचन्द भजनमाला

(१) राग ठुमरी।

सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसैं, आतमरूप अबाधित ज्ञानी॥ टेक॥ रागादिक तो देहाश्रित हैं, इनतें होत न मेरी हानी। दहन दहत ज्यों दहन न तद्गत, गगन दहन ताकी विधि ठानी॥ सन्त०॥ १॥ वर्णादिक विकार पुद्गलके, इनमें नहिं चैतन्य निशानी। यद्यपि एक क्षेत्र अवगाही, तद्यपि लक्षण भिन्न पिछानी॥ सन्त०॥ २॥ मैं सर्वांगपूर्ण ज्ञायक रस, लवण खिल्लवत लीला ठानी। मिलौ निराकुल स्वाद न यावत, तावत परपरनति हित मानी॥ सन्त०॥ ३॥ भागचन्द्र निरद्वन्द निरामय, मूरति निश्चय सिद्धसमानी। नित अकलंक अवंक शंक बिन, निर्मल पंक बिना जिमि पानी॥ सन्त०॥ ४॥

(२)

यही इक धर्ममूल है मीता! निज समकितसारसहीता॥ यही०॥ टेक॥ समकित सहित नरकपदवासा, खासा

बुधजन गीता। तहँतैं निकसि होय तीर्थंकर, सुरगन जजत सप्रीता ॥ यही० ॥ १ ॥ स्वर्गवास हू नीको नाहीं, विन समकित अविनीता। तहँतें चय एकेंद्री उपजत, भ्रमत सदा भयभीता ॥ यही० ॥ २ ॥ खेत बहुत जोते हु बीज विन, रहत धान्यसों रीता। सिद्धि न लहत कोटि तपहूतें, वृथा कलेश सहीता ॥ यही० ॥ ३ ॥ समकित अतुल अखंड सुधारस, जिन पुरुषननें पीता। भागचन्द ते अजर अमर भयें, तिनहीनें जग जीता ॥ यही० ॥ ४ ॥

(६)

अति संक्लेश विशुद्ध शुद्ध पुनि, त्रिविध जीव परिनाम बखाने ॥ अति०॥ टेक ॥ तीव्र कषाय उदयतैं भावित, दर्वित हिंसादिक अघ ठाने। सो संक्लेश भावफल नरकादिक गति दुख भोगत असहाने ॥ अति० ॥ १ ॥ शुभ उपयोग कारननमें जो, रागकषाय मंद उदयाने। सो विशुद्ध तसु फल इंद्रादिक, विभव समाज सकल परमाने ॥ अति० ॥ २ ॥ परकारम मोहादिकतैं च्युत, दरसन ज्ञान चरन रस पाने। सो है शुद्ध भाव तसु फलतैं, पहुँचत परमानंद ठिकाने ॥ अति० ॥ ३ ॥ इनमें जुगल बंधके कारन, परद्रव्याश्रित हेय प्रमाने। 'भागचंद' स्वसमय निज हित लखि, तामैं रम रहिये भ्रम हाने ॥ अति० ॥ ४ ॥

(१४) राग गौरी ।

आतम अनुभव आवै जब निज, आतम अनुभव आवै, और कछू न सुहावै, जब निज० ॥ टेक ॥ रस नीरस हो जात ततच्छिन, अच्छ विषय नहिं भावै ॥ आतम० ॥ १ ॥ गोष्टी कथा कुतूहल विघटै, पुद्गलप्रीति नसावै ॥ आतम० ॥ २ ॥ राग दोष जुग चपल पक्षजुत मन पक्षी मर जावै ॥ आतम० ॥ ३ ॥ ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अंतर न समावै ॥ आतम० ॥ ४ ॥ भागचंद ऐसे अनुभवके हाथ जोरि सिर नावै ॥ आतम० ॥ ५ ॥

(३६) राग-ठुमरी ।

जीवनिके परिनामनिकी यह, अति विचित्रता देखहु ज्ञानी ॥ टेक ॥ नित्य निगोदमाहितैं कढि कर, नर परजाय पाय सुखदानी । समकित लहि अंतर्मुहूर्तमैं, केवल पाय वरै शिवरानी ॥ जीवनि० ॥ १ ॥ मुनि एकादश गुणथानक चढ़ि, गिरत तहाँतैं चित भ्रम ठानी । भ्रमत अर्धपुद्गल-प्रावर्तन, किंचित् ऊन काल परमानी ॥ जीवनि० ॥ २ ॥ निज परिनामनिकी सँभालमें, तातैं गाफिल मत ह्वै प्रानी । बंध मोक्ष परिनामनि ही सों, कहत सदा श्रीजिनवरवानी ॥ जीवनि० ॥ ३ ॥ सकल उपाधिनिमित भावनिसों, भिन्न

सु निज परनतिको छानी । ताहि जानि रुचि ठानि होहु थिर, भागचन्द यह सीख सयानी ।। जीवनि० ।। ४ ।।

(३९)

आकुलरहित होय इमि निशदिन, कीजे तत्त्व विचारा हो । को मैं कहा रूप है मेरा, पर है कौन प्रकारा हो ।। टेक ।। १ ।। को भव कारण बंध कहा को, आस्रवरोकनहारा हो । खिपत कर्मबंधन काहेसों, थानक कौन हमारा हो ।। आकुल० ।। २ ।। इमि अभ्यास किये पावत है, परमानंद अपारा हो । भागचन्द यह सार जान करि, कीजे वारंवारा हो ।। आकुल० ।। ३ ।।

(४२) राग काफी ।

ऐसे विमल भाव जब पावै, तब हम नरभव सुफल कहावै ।। टेक ।। दरश बोधमय निज आतम लखि, परद्रव्यनिको नहिं अपनावै । मोह राग रुष अहित जान तजि, झटित दूर तिनको छिटकावै ऐसे० ।। १ ।। कर्म शुभाशुभबंध उदयमें, हर्ष विषाद चित्त नहिं ल्यावै । निज हित हेत विराग ज्ञान लखि, तिनसौं अधिक प्रीति उपजावै ।। ऐसे० ।। २ ।। विषय चाह तजि आतमवीर्य सजि, दुखदायक विधिबंध खिरावै । भागचन्द शिवसुख सब सुखमय, आकुलता विन लखि चित चावै ।। ऐसे० ।। ३ ।।

(४५) लावणी ।

सफल है धन्य धन्य वा घरी, जब ऐसी अति निर्मल होसी, परमदशा हमरी ॥ टेक ॥ धारि दिगंबर दीक्षा सुन्दर, त्याग परीग्रह अरी । वनवासी करपात्र परीषह, सहि हौं धीर धरी ॥ सफल० ॥ १ ॥ दुर्धर तप निर्भर नित तप हौं, मोह कुवृक्ष करी । पंचाचार क्रिया आचर हौं, सकल सार सुथरी ॥ सफल० ॥ २ ॥ विभ्रमतापहरन झरसी निज, अनुभव मेघ झरी । परम शान्त भावनकी तातैं, होसी वृद्धि खरी ॥ सफल० ॥ ३ ॥ त्रेसठि प्रकृति भंग जब होसी, जुत त्रिभंग सगरी । तब केवल दर्शन विबोध सुख, वीर्यकला पसरी ॥ सफल० ॥ ४ ॥ लखि हो सकल द्रव्य गुनपर्जय, परनति अति गहरी । भागचंद जब सहजहि मिलि है, अचल मुकति नगरी ॥ सफल० ॥ ५ ॥

(४७) राग-दादरा ।

धनि ते प्रान, जिनके तत्त्वारथ श्रद्धान ॥ टेक ॥ रहित सप्त भय तत्त्वारथमें, चित्त न संशय आन । कर्म कर्म-फलकी नहि इच्छा परमें धरत न ग्लानि ॥ धनि० ॥ १ ॥ सकल भावमें मूढदृष्टितजि, करत साम्यरसपान । आतम धर्म बढ़ावैं वा, परदोष न उचरैं वान ॥ धनि० ॥ २ ॥

निज स्वभाव वा, जैनधर्ममें, निजपरथिरता दान। रत्नत्रय महिमा प्रगटावे, प्रीति स्वरूप महान ॥ धनि० ॥ ३ ॥ ये वसु अंगसहित निर्मल यह, समकित निज गुन जान। भागचन्द शिवमहल चढ़नको, अचल प्रथम सोपान ॥ धनि० ॥ ४ ॥

(४८) राग जोड़ा।

ज्ञानी जीवनके भय होय, न या परकार ॥ टेक ॥ इह भव परभव अन्य न मेरो, ज्ञानलोक मम सार। मैं वेदक इक ज्ञानभावको, नहिं परवेदनहार ॥ ज्ञानी० ॥ १ ॥ निज सुभावको नाश न तातैं, चहिये नहिं रखवार। परम-गुप्त निजरूप सहज ही, परका तहँ न संचार ॥ ज्ञानी० ॥ २ ॥ चितस्वभाव निज प्रान तासको, कोई नहीं हर-तार। मैं चितपिंड अखंड न तातैं, अकस्मात भयभार ॥ ज्ञानी० ॥ ३ ॥ होय निशंक स्वरूप अनुभव, जिनके यह निरधार। मैं सो मैं, पर सो मैं नाहीं, भागचन्द्र भ्रम डार ॥ ज्ञानी० ॥ ४ ॥

(५०) राग दादरा

चेतन निज भ्रमतैं भ्रमत रहै ॥ टेक ॥ आप अभंग तथापि अंगके, संग महा दुख (पुँज) वहै। लोहपिंड संगति पावक ज्यों, दुर्धर घनकी चोट सहै ॥ चेतन० ॥ १ ॥

नामकर्मके उदय प्राप्त नर नरकादिक परजाय धरै ; तामें मान अपनपो विरथा, जन्म जरा मृतु पाय डरै ॥चेतन० ॥२॥ कर्ता होय रागरुप ठानै परको साक्षी रहत न यहै । व्याप्य सुव्यापक भाव बिना किमि, परको करता होत न यहै ॥ चेतन० ॥ ३ ॥ जब भ्रम नींद त्याग निजमें थित, हित हेत सम्हारत है । वीतराग सर्वज्ञ होत, तब, भागचन्द हित सीख कहै ॥ चेतन० ॥ ४ ॥

(६१) राग दीपचन्दी सोरठ ।

प्रानी समकित ही शिवपंथा । या विन निर्मल सब ग्रन्था ॥ टेक ॥ जा विन बाह्यक्रिया तप कोटिक, सकल वृथा है रंथा ॥ प्रानी० ॥ १ ॥ हयजुतरथ भी सारथ विन जिमि, चलत नहीं ऋजु पंथा ॥ प्रानी० ॥ २ ॥ भागचन्द सरधानी नर भये, शिवलक्ष्मीके कंथा ॥ प्रानी० ॥ ३ ॥

(६६)

जे सहज होरीके खिलारी, तिन जीवनकी बलिहारी ॥ टेक ॥ शांतभाव कुंकुम रस चंदन, भर ममता पिचकारी । उड़त गुलाल निर्जरा संवर, अंबर पहरैं भारी ॥ जे० ॥१॥ सम्यकदर्शनादि संग लेकै, परम सखा सुखकारी । भींज रहे निज ध्यान रंगमें, सुमति सखी प्रियनारी ॥ जे० ॥ २ ॥

कर स्नान ज्ञान जलमें पुनि, विमल भये शिवचारी। भागचन्द तिन प्रति नित वंदन, भाव समेत हमारी ॥ जे० ॥ ३ ॥

(६५) राग-दीपचन्दी।

करौ रे भाई, तत्त्वारथ सरधान। नरभव सुकुल सुक्षेत्र पायके ॥ टेक ॥ देखन जाननहार आप लखि, देहादिक परमान ॥ करौ रे भाई० ॥ १ ॥ मोह रागरुष अहित जान तजि, बंधहु विधि दुखदान ॥ करौ रे० ॥ २ ॥ निज स्वरूपमें मगन होयकर, लगन विषय दो भान ॥करौ रे० ॥ ॥ ३ ॥ भागचन्द साधक ह्वै साधो, साध्य स्वपद अमलान ॥ करौ रे० ॥ ४ ॥

(७२) राग-दीपचन्दी जोड़ी।

जिन स्वपर हिताहित चीना, जीव ते ही हैं सांचे जैनी ।।टेक।। जिन बुधछैनी पैनातैं जड़, रूप निराला कीना। परतैं विरच आपसे राचे, सकल विभाव विहीना ॥ जिन० ॥ १ ॥ पुन्य पाप विधि बंध उदयमें, प्रमुदित होत न दीना। सम्यक्दर्शन ज्ञान चरन निज, भाव सुधारस भीना ॥ जिन० ॥ २ ॥ विषयचाह तजि निज वीरज सजि करत पूर्वविधि छीना। भागचन्द साधक ह्वै साधत, साध्य स्वपद स्वाधीना ॥ जिन० ॥ ३ ॥

(७७)

सहज अबाध समाध धाम तहाँ, चेतन सुमति खेलैं होरी ॥ टेक ॥ निजगुनचंदनमिश्रित सुरभित, निर्मल कुंकुम रस घोरी । समता पिचकारी अति प्यारी, भर जु चलावत चहुँ ओरी ॥ सहज० ॥ १ ॥ शुभ संवर सुअबीर आडंबर, लावत भर भर कर जोरी । उड़त गुलाल निर्जरा निर्भर, दुखदायक भव थिति टोरी ॥ सहज० ॥ २ ॥ परमानंद मृदंगादिक धुनि, विमल विरागभाव धोरी । भागचंद दृग-ज्ञान-चरनमय, परिनत अनुभव रंग बोरी ॥ सहज० ॥ ३ ॥

(७८)

सत्ता रंगभूमिमें, नटत ब्रह्म नटराय ॥ टेक ॥ रत्नत्रय आभूषण मंडित, शोभा अगम अथाय । सहज सखा निशंकादिक गुन, अतुल समाज बढ़ाय ॥ सत्ता रंग० ॥१॥ समता बीन मधुररस बोलै, ध्यान मृदंग बजाय । नदत निर्जरा नाद अनूपम, नूपुर संवर ल्याय ॥ सत्ता रंग० ॥ २ ॥ लय निज-रूप-मगनता ल्यावत, नृत्य सुज्ञान कराय । समरस गीतालापन पुनि जो, दुर्लभ जगमह आय ॥ सत्ता रंग०॥३॥ भागचन्द आपहि रीझत तहाँ, परम समाधि लगाय । तहाँ कृतकृत्य सु होत मोक्षनिधि, अतुल इनामहिं पाय ॥ सत्ता रंग० ॥ ४ ॥

(७९) राग दीपचन्दी धनाश्री ।

तू स्वरूप जाने बिन दुखी, तेरी शक्ति न हलकी वे ॥ टेक ॥ रागादिक वर्णादिक रचना सोहै सब पुद्गलकी वे ॥ तू स्व० ॥१॥ अष्ट गुनातम तेरी मूरति, सो केवलमें झलकी वे ॥ तू स्व० ॥ २ ॥ लगी अनादि कालिमा तेरे, दुस्त्यज मोहन मलकी वे ॥ तू स्व० ॥ ३ ॥ मोह नसैं भासत है मूरत, पंक नसैं ज्यों जलकी वे ॥ तू स्व० ॥ ४ ॥ भागचन्द सो मिलत ज्ञानसौं, स्फूर्ति अखंड स्वबलकी वे ॥ तू स्व० ॥ ५ ॥

❀ इति ❀

बुधजन विलास

(२७) राग-काफी कनड़ी ।

मैं देखा आतमरामा ॥मैं देखा०॥ टेक ॥ रूप फरस रस गंधतैं न्यारा, दरस-ज्ञान गुनधामा । नित्य निरंजन जाकै नाहीं, क्रोध लोभ मद कामा ॥ मैं० ॥ १ ॥ भूख प्यास सुख दुख नहिं जाकै, नाहीं बन पुर गामा । नहिं साहिब नहिं चाकर भाई, नहीं तात नहिं मामा ॥ मैं० ॥२॥

भ्रांति कालादि थकी जग भटकत, लै पुद्गलका जामा। बुधजन संगति जिनगुरुकीतैं, मैं पाया मुझ ठामा॥ ॐ० ॥ ३ ॥

(९७) राग-सोरठ।

हमकौं कछू भय ना रे, जान लियौ संसार ॥ हमकौं० ॥ टेक ॥ जो निगोदमैं सो ही मुझमैं, सो ही मोखमंझार। निश्चय भेद कछू भी नाहीं, भेद गिनै संसार ॥ हमकौं० ॥ १ ॥ परवश ह्वै आपा विसारिकै, राग-दोषकौं धार। जीवत मरत अनादि कालतैं, यौं ही है उरझार ॥ हमकौं० ॥ २ ॥ जाकरि जैसैं जाहि समयमैं, जो होतब जा द्वार। सो बनि है टरि है कछु नाहीं, करि लीनौं निरधार ॥ हमकौं० ॥ ३ ॥ अगनि जरावै पानी बोवै, बिछुरत मिलत अपार। सो पुद्गल रूपी मैं बुधजन, सबकौ जाननहार ॥ हमकौं० ॥ ४ ॥

श्रीपद्मप्रभमलधारि देव

सहजज्ञानसाम्राज्यं सर्वस्वं शुद्धचिन्मयम्।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो स्वाभाविक ज्ञानका साम्राज्य है, सर्वांग शुद्ध चैतन्य ज्योतिस्वरूप है ऐसी मेरी आत्माको जानकर मैं विकल्परहित होता हूँ ॥ १ ॥

नित्यशुद्धचिदानंदं संपदामाकरं परम् ।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम् ॥ २ ॥

अर्थ—जो नित्य शुद्ध चिदानन्दमय है, संपदाकी खान है, उत्कृष्ट है तथा विपत्तियोंका स्थान नहीं है मैं ऐसे पदका अच्छी तरह अनुभव करता हूँ ॥ २ ॥

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं,
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपः कल्पनामात्ररम्यम् ।
बुद्ध्वा धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे,
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे ॥ ३ ॥

अर्थ—आत्मध्यानके अतिरिक्त सभी विचार घोर संसारके मूल हैं। ध्यान ध्येयका विकल्परूप जो तप है सो कहने मात्र ही सुंदर है। ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष स्वाभा-

त्मिक परमानंदमई अमृतके समुद्रमें मग्न-सहज एक परमात्माही का अनुभव करते हैं ॥ ३ ॥

अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम् ।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥

अर्थ—मैं आत्मा हूँ, निज सुखका चाहनेवाला हूँ अतः मैं अपने ही अजन्म और अमर आत्माको अपने ही आत्मा के द्वारा अपने आत्मामें ठहरकर बारबार भाता हूँ ॥ ४ ॥

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च,
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकं ।
ज्ञानज्योतिःप्रकटितनिजाभ्यन्तरांगान्तरात्मा,
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥ ५ ॥

अर्थ—संसारके भयको पैदा करनेवाले बाह्य और आभ्यंतर सभी विकल्पोंको त्यागकर तथा नित्य समतारसमई एक चैतन्यचमत्कारमात्र स्वरूपको स्मरण करके ज्ञानज्योतिसे जिसका आत्मा प्रकाशमान हो रहा है ऐसे महात्माने मोह के क्षय होने पर अंतरंगमें किसी परम अद्वितीय तत्त्वका दर्शन किया ॥ ५ ॥

समयसारप्राभृत भाषा

(छन्द-हरिगीता)

ध्रुव अचल अरु अनुपमगति, पाये हुए सब सिद्धको,
मैं वंद श्रुतकेवलिकथित, कहूँ समयप्राभृतको अहो ॥१॥
जीव चरितदर्शनज्ञानस्थित, स्वसमय निश्चय जानना,
स्थित कर्मपुद्गलके प्रदेशों, परसमय जीव जानना ॥२॥
एकत्वनिश्चयगत समय, सर्वत्र सुन्दर लोकमें।
उससे बने बंधनकथा, विरोधिनी एकत्वमें ॥३॥
है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, भोगबंधनकी कथा।
परसे जुदा एकत्वकी, उपलब्धि केवल सुलभ ना ॥४॥
दर्शाउं एकविभक्तको, आत्मातने निज विभवसे।
दर्शाउं तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने ॥५॥
नहिं अप्रमत्त प्रमत्त नहीं, जो एक ज्ञायक भाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो ही है ॥६॥
चारित्र दर्शन ज्ञान भी, व्यवहार कहता ज्ञानी के।
चारित्र नहीं दर्शन नहीं, नहिं ज्ञान ज्ञायक शुद्ध है ॥७॥
भाषा अनार्य विना न, समझाना ज्युं शक्य अनार्यको।
व्यवहार विन परमार्थका, उपदेश होय अशक्य यों ॥८॥

इस आत्मको श्रुतसे नियत, जो शुद्ध केवल जानते ।
ऋषिगण प्रकाशक लोकके, श्रुतकेवली उसको कहें ॥९॥
श्रुतज्ञान सब जानें जु, जिन श्रुतकेवली उसको कहे ।
सब ज्ञान सो आत्मा ही है, श्रुतकेवली उससे बने ॥१०॥
व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है ।
भूतार्थ आश्रित आतमा, सदृष्टि निश्चय होय है ॥११॥
देखै परम जो भाव उसको, शुद्धनय ज्ञातव्य है ।
ठहराजु अपरमभावमें, व्यवहार से उपदिष्ट है ॥१२॥
भूतार्थसे जाने अजीव जीव, पुण्य पापरु निर्जरा ।
आस्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना ॥१३॥
अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्मको ।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जानजो ॥१४॥
अनबद्धस्पृष्ट अनन्य जो, अविशेष देखे आत्मको ।
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो ॥१५॥
दर्शनसहित नित ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेवीये ।
पर ये तीनों आत्मा ही केवल, जान निश्चयदृष्टिमें ॥१६॥
ज्यों पुरुष कोई नृपति को भी, जानकर श्रद्धा करे ।
फिर यत्नसे धन अर्थ वो, अनुचरण राजाका करै ॥१७॥
जीवराजको यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीतिसे ।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्नसे ॥१८॥

नोकर्म कर्म जु "मैं" अवरु, "मैं" में कर्म नोकर्म हैं ।
यह बुद्धि जबतक जीवकी, अज्ञानी तबतक वो रहे ॥१९॥
मैं ये अवरु ये मैं, मैं हूँ इनका अवरु ये हैं मेरे ।
जो अन्य हैं पर द्रव्य मिश्र, सचित्त अगर अचित्त वे ॥२०॥
मेरा ही यह था पूर्व मैं, मैं इसीका गतकाल में ।
ये होयगा मेरा अवरु, मैं इसका हूँगा भावि में ॥२१॥
अयथार्थ आत्म विकल्प ऐसा, मूढ़जीव हि आचरे ।
भूतार्थ जाननहार ज्ञानी, ए विकल्प नहीं करे ॥२२॥
अज्ञान मोहित बुद्धि जो, बहुभाव संयुत जीव है ।
ये बद्ध और अबद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा वो कहे ।२३॥
सर्वज्ञ ज्ञानविषै सदा, उपयोग लक्षण जीव है ।
वो कैसे पुद्गल हो सके जो, तू कहे मेरा अरे ॥ २४ ॥
जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्वको ।
तू तब ही ऐसा कह सके, "है मेरा" पुद्गल द्रव्य को ॥२५॥
जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेशकी ।
मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीव देहकी ।२६॥
जीव देह दोनों एक हैं यह वचन है व्यवहारका ।
निश्चयविषै तो जीव देह, कदापि एक पदार्थ ना ।२७॥
जीवसे जुदा पुद्गलमयी, इस देहकी स्तवना करी ।
माने मुनी जो केवली, वंदन हुआ स्तवना हुई ॥२८॥

निश्चयविषै नाही योग्य ये, नहिं देह गुण केवली हि के ।
जो केवली गुणको स्तवे, परमार्थ केवली वो स्तवे ॥२९॥
रे ग्राम वर्णन करनसे, भूपाल वर्णन हो न ज्यों ।
त्यों देह गुणके स्तवनसे, नहिं केवली गुण स्तवन हो ॥३०॥
कर इन्द्रीजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आतमको ।
निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हींको ॥३१॥
कर मोहजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आतमा ।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उन हि जित मोही कहा ॥३२॥
जित मोह साधु पुरुषका जब, मोह क्षय हो जाय है ।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे ॥३३॥
सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावोंका करे ।
इससे नियमसे जानना की, ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥३४॥
ये और का है जानकर, परद्रव्यको को नर तजे ।
त्यों और के हैं जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे ॥३५॥
कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं ।
इस ज्ञानको ज्ञायक समयके, मोह निर्ममता कहे ॥३६॥
धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूं ।
इस ज्ञानको ज्ञायक समयके, धर्म निर्ममता कहे ॥३७॥
मैं एक शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञान दृग हूँ यथार्थ से ।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे ॥३८॥

(जीवाजीव अधिकारमे पूर्वरंग समाप्त)

जीवाजीव अधिकार

को मूढ़ आत्म अजान जो, पर आत्मवादी जीव है।
है कर्म अध्यवसान ही जीव, यों हि वो कथनी करे ॥३९॥

अरु कोई अध्यवसानमें, अनुभाग तीक्षण मंद जो।
उसको ही माने आत्मा, अरु अन्य को नोकर्मको ॥४०॥

को अन्य माने आत्मा बस, कर्म के ही उदय को।
को तीव्र मंद गुणों सहित, कर्मोंहि के अनुभागको ॥४१॥

को कर्म आत्मा, उभय मिलकर जीवकी आशा धरें।
को कर्मके संयोगसे, अभिलाप आत्माकी करें ॥४२॥

दुर्बुद्धि यों ही और बहुविध, आत्मा परको, कहे।
वे सर्व नहिं परमार्थवादी, येहि निश्चयविद कहे ॥४३॥

पुद्गलद्रव्य परिणामसे, उपजे हुए सब भाव ये।
सब केवली जिन भाषिया, किस रीत जीव कहो उन्हें ॥४४॥

रे कर्म अष्ट प्रकारका, जिन सर्व पुद्गलमय कहे।
परिपाकमें जिस कर्मका फल, दुःख नाम प्रसिद्ध है ॥४५॥

व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेवके उपदेशमें।
ये सर्व अध्यवसान आदिक, भावको जँह जीव कहे ॥४६॥

निर्गमन इस नृपका हुआ, निर्देश सैन्य समूह में।
व्यवहारसे कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है ॥४७॥

त्यों सर्व अध्यवसान आदिक, अन्य भाव जु जीव है ।
शास्त्रन किया व्यवहार, पर वहां जीव निश्चय एक है॥४८॥
जीव चेतना गुण, शब्द रस रूप गंध व्यक्ति विहीन है ।
निर्दिष्ट नहीं संस्थान उसका, ग्रहण नहीं हैलिंग से॥४९॥
नहीं वर्ण जीवके गंध नहिं, नहिं स्पर्श रस जीवके नहीं ।
नहिं रूप अरु संहनन नहिं, संस्थान नहीं तन भी नहीं ॥५०॥
नहीं राग जीवके, द्वेष नहीं, अरु मोह जीवके है नहीं ।
प्रत्यय नहीं नहिं कर्म, अरु नोकर्म भी जीवके नहीं ॥५१॥
नहीं वर्ग जीवके, वर्गणा नहीं, कर्मस्पर्द्धक है नहीं ।
अध्यात्मस्थान न जीवके, अनुभाग स्थान भी हैं नहीं ॥५२॥
जीवके नहीं कुछ योगस्थान रु, बंधस्थान भी है नहीं ।
नहिं उदयस्थान ही जीवके, अरु स्थान मार्गणा के नहीं ॥५३॥
स्थितिबंध स्थान न जीवके संक्लेश स्थान भी हैं नहीं ।
जीवके विशुद्धि स्थान, संयमलब्धि स्थान भी हैं नहीं ॥५४॥
नहीं जीवस्थान भी जीवके, गुणस्थान भी जीवके नहीं ।
ये सब ही पुद्गल द्रव्यके, परिणाम हैं जानो यही ॥५५॥
वर्णादि गुणस्थानांत भाव जु, जीवके व्यवहारसे ।
पर कोई भी ये भाव नहीं हैं, जीवके निश्चयविषें ॥५६॥
इन भावसे संबंध जीवका, क्षीर जलवत् जानना ।
उपयोग गुणसे अधिक, तिससे भाव कोई न जीवका ॥५७॥

देखा लुटाते पंथमें को. पंथ ये लुटात है।
जनगण कहे व्यवहारसे, नहिं पंथ को लुटात है ॥५८।
त्यों वर्ण देखा जीवमे, इन कर्म अरु नोकर्मका।
जिनवर कहे व्यवहारसे, यह वर्ण है इस जीवका ॥५९॥
त्यों गंध रस रूप स्पर्श तन, संस्थान इत्यादिक सर्वे।
भूतार्थद्रष्टा पुरुषने, व्यवहारनयसे वर्णये ॥६०॥
संसारी जीवके वर्ण आदिक, भाव हैं संसार में।
संसारसे परिमुक्तके नहिं, भाव को वर्णादिके ॥६१॥
ऐ भाव सब हैं जीव जो, ऐसा ही तू माने कभी।
तो जीव और अजीवमें कुछ, भेद तुझ रहता नहीं ॥६२॥
वर्णादि हैं संसारी जीवके, योहिं मत तुझ होय जो।
संसारस्थित सब जीवगण पाये तदा रूपित्व को ॥६३॥
इस रीत पुद्गल वो ही जीव, हे मूढ़मति सम चिह्नसे।
अरु मोक्ष प्राप्त हुआ भी पुद्गल, द्रव्य जीव बने अरे ॥६४॥
जीव एक दो ति चार पंचेन्द्रिय बादर सूक्ष्म हैं।
पर्याप्त अनपर्याप्त जीव जु नामकर्म की प्रकृति है ॥६५॥
जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे।
उससे रचित जीवथान जो हैं, जीव क्यों हि कहाय वे ॥६६॥
पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म अरु बादर सभी।
व्यवहारसे वही जीवसंज्ञा, देहको शास्त्रन महीं ॥६७॥

मोहन करमके उदयसे, गुणस्थान जो ये वर्णये।
वे क्यों बने आत्मा, निरंतर जो अचेतन जिन कहे ॥६८॥

पहला जीवाजीवाधिकार पूर्ण हुआ।

अथ कर्तृकर्माधिकार :

रे आत्म आश्रवका जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं।
क्रोधादिमें स्थिति होय है, अज्ञानी ऐसे जीवको ॥६९॥
जीव वर्तता क्रोधादिमें, तब करम संचय होय है।
सर्वज्ञने निश्चय कहा, यों बंध होता जीवके ॥७०॥
ये जीव ज्यों ही आश्रवोंका, त्यों ही अपनी आत्मका।
जाने विशेषांतर तब ही, बंधन नहीं उसको कहा ॥७१॥
अशुचिपना विपरीतता, ये आश्रवोंका जानके।
अरु दुखकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे ॥७२॥
मैं एक शुद्ध ममत्व हीन रु, ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ।
इसमें रहूं स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ ॥७३॥
ये सर्व जीव निबद्ध अध्रुव शरणहीन अनित्य हैं।
ये दुख दुखफल जानके, इनसे निवर्तन जीव करे ॥७४॥
जो कर्मका परिणाम, अरु नोकर्मका परिणाम है।
सो नहीं करे जो मात्र जाने, वो हि आत्मा ज्ञानी है ॥७५॥

बहुभाँति पुद्गल कर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
परद्रव्य पर्यायों न परिणमें, नहीं ग्रहे नहीं उपजे ॥७६॥
बहुभाँति निजपरिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
पर द्रव्य पर्यायों न प्रणमें, नहीं ग्रहे नहीं उपजे ॥७७॥
पुद्गल कर्मका फल अनंता, ज्ञानी जन जाना करे।
परद्रव्य पर्यायों न प्रणमें, नहीं ग्रहे नहीं उपजे ॥७८॥
इस भाँति पुद्गल द्रव्य भी, निज भावसे ही परिणमे।
परद्रव्य पर्यायों न प्रणमें, नहीं ग्रहे नहीं उपजे ॥७९॥
जीव भाव हेतु पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे।
पुद्गल कर्मके निमित्तसे, यह जीव भी त्यों परिणमे ॥८०॥
जीव कर्मगुण कर्त्ता नहीं, नहीं जीवगुण कर्म ही करे।
अन्योन्यके हि निमित्तसे, परिणाम दोनोंके बने ॥८१॥
इस हेतुसे आत्मा हुआ, कर्ता स्वयं निज भाव ही।
पुद्गल कर्मकृत सर्व भावोंका, कभी कर्ता नहीं ॥८२॥
आत्मा करे निजको हि ये, मंतव्य निश्चयनय हि का।
अरु भोगता निजको हि आत्मा, शिष्य यों तू जानना ॥८३॥
आत्मा करे बहुभाँति पुद्गल-कर्म मत व्यवहारका।
अरु वो हि पुद्गलकर्म, आत्मा नेकविधमय भोगता ॥८४॥
पुद्गलकर्म जीव जो करे, उनको हि जो जीव भोगवे।
जिन को असंमत हि क्रिया, से एकरूप आत्मा हुवे ॥८५॥

जीवभाव पुद्गल भाव दोनों भावको आत्मा करे।
इससे हि मिथ्यादृष्टि, ऐसे द्विक्रियावादी हुवे ॥ ८६ ॥
मिथ्यात्व जीव अजीव दोविध, उभयविध अज्ञान है।
अविरमण योग रु मोह अरु क्रोधादि उभय प्रकार है ॥८७॥
मिथ्यात्व अरु अज्ञान आदि अजीव, पुद्गल कर्म हैं।
अज्ञान अरु अविरमण अरु मिथ्यात्व जीव, उपयोग हैं ॥८८॥
है मोहयुत उपयोगका परिणाम तीन अनादिका।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान अविरतभाव ये तीन जानना ॥८९॥
इससे हि है उपयोग त्रयविध, शुद्ध निर्मल भाव जो।
जो भाव कुछ भी वह करे, उस भावका कर्ता बने ॥९०॥
जो भाव जीव करे स्वयं, उस भावका कर्ता बने।
उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्व रूपहि परिणमे ॥९१॥
परको करे निजरूप अरु, निज आत्म को भी पर करे।
अज्ञानमय ये जीव ऐसा, कर्मका कारक बने ॥९२॥
परको नहीं निजरूप अरु, निज आत्मको नहिं पर करे।
यह ज्ञानमय आत्मा, अकारक कर्मका ऐसे बने ॥९३॥
"मैं क्रोध" आत्मविकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप, जीवभावका कर्ता बने ॥९४॥
"मैं धर्म" आदि विकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप, जीवभावका कर्ता बने ॥९५॥

यह मंदबुद्धि जीव यों, परद्रव्यको निजरूप करे।
इस भाँतिसे निज आत्मको, अज्ञानसे पररूप करे ॥९६॥
इस हेतुसे परमार्थविद्, कर्त्ता कहें इस आत्मको।
यह ज्ञान जिसको होय, वो छोड़े सकल कर्तृत्वको ॥९७॥
घटपटरथादिक वस्तुऐं, कर्मादि अरु सब इन्द्रियें।
नोकर्म विधविध जगतमें, आत्मा करे व्यवहारसे ॥९८॥
परद्रव्यको जीव जो करे, तो जरुर वो तन्मय बने।
पर वो नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्त्ता जीव है ॥९९॥
जीव नहिं करे घट पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों जीव करे।
उपयोगयोग निमित्तकर्त्ता, जीव तत्कर्ता बने ॥१००॥
ज्ञानावरण आदिक सभी, पुद्गल दरव परिणाम हैं।
करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानतो वो ज्ञानि है ॥१०१॥
जो भाव जीव करे शुभाशुभ, उस हि का कर्ता बने।
उसका बने वो कर्म, आत्मा उस हि का वेदक बनें ॥१०२॥
जो द्रव्य- जो गुण द्रव्य में, परद्रव्यरूप न संक्रमे।
अनसंक्रमा किसभाँति वह, परद्रव्य प्रणमावे अरे ॥१०३॥
आत्मा करे नहिं द्रव्य गुण, पुद्गलमयी कर्मोंविषै।
इन उभयको उनमें न कर्त्ता, क्यों हि तत्कर्ता बने ॥१०४॥
जिव हेतुभूत हुआ अरे, परिणाम देख जु बंधका।
उपचारमात्र कहाय की, यह कर्म आत्मा ने किया ॥१०५॥

योद्धा करें जहँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहैं।
त्यों जीवने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहार से ॥१०६॥
उपजावता प्रणमावता ग्रहता अवरु बांधे करे।
पुद्गलदरवको आतमा, व्यवहारनय वक्तव्य है ॥१०७॥
गुणदोष उत्पादक कहा, ज्यों भूपको व्यवहार से।
त्यों द्रव्यगुण उत्पन्न कर्त्ता, जिव कहा व्यवहारसे ॥१०८॥
सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बंधके कर्ता कहे।
मिथ्यात्व अरु अविरमण, योग कषाय ये ही जानने ॥१०९॥
फिर उनहिंका दर्शा दिया, यह भेद तेर प्रकारका।
मिथ्यात्व गुणस्थानादि ले, जो चरमभेद सयोगिका ॥११०॥
पुद्गल: करमके उदयसे, उत्पन्न इससे अजीव वे।
वे जो करें कर्मों भले, भोक्ता भि नहिं जिवद्रव्य है ॥१११॥
परमार्थसे 'गुण' नामके, प्रत्यय करें इन कर्मको।
तिससे अकर्त्ता जीव है, गुणथान करते कर्मको ॥११२॥
उपयोग ज्योंहि अनन्य जिवका, क्रोध त्योंही जीवका।
तो दोष आवे जीव त्योंहि अजीवके एकत्वका ॥११३॥
यों जगतमें जो जीव वेहि अजीव भी निश्चय हुवे।
नोकर्म, प्रत्यय, कर्म के एकत्वमें भी दोष ये ॥११४॥
जो क्रोध यों है अन्य, जिव उपयोग आतमक अन्य है।
तो क्रोधवत् नोकर्म प्रत्यय कर्म भी सब अन्य हैं ॥११५॥

जिवमें स्वयं नहिं बद्ध, अरु नहिं कर्मभावों परिणमे।
तो वोहि पुद्गल द्रव्य भी, परिणमनहीन बने अरे ॥११६॥
जो वर्गणा कार्माणकी, नहिं कर्मभावों परिणमे।
संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ॥११७॥
जो कर्म भावों परिणमावे जीव पुद्गल द्रव्यको।
क्यों जीव उसको परिणमावे, स्वयं नहिं परिणमत जो ॥११८॥
स्वयमेव पुद्गलद्रव्य अरु, जो कर्म भावों परिणमे।
जिव परिणमावे कर्मको, कर्मत्वमें मिथ्या बने ॥११९॥
पुद्गल दरव जो कर्म परिणत, नियमसे कर्महि बने।
ज्ञानावरण इत्यादि परिणत वोहि तुम जानो उसे ॥१२०॥
नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे।
तो जीव यह तुझ मतविषैं, परिणमनहीन बने अरे ॥१२१॥
क्रोधादि भावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे।
संसारका हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ॥१२२॥
जो क्रोध पुद्गलकर्म जिवको, परिणमावे क्रोधमें।
क्यों क्रोध उसको परिणमावे जो स्वयं नहिं परिणमे ॥१२३॥
अथवा स्वयं जिव क्रोधभावों परिणमे तुझ बुद्धिसे।
तो क्रोध जिवको परिणमावे क्रोधमें मिथ्या बने ॥१२४॥
क्रोधोपयोगी क्रोध जिव, मानोपयोगी मान है।
मायोपयुत माया अवरु लोभोपयुत लोभहि बने ॥१२५॥

जिस भावको आत्मा करे, कर्त्ता बने उस कर्मका।
वो ज्ञानमय है ज्ञानिका, अज्ञानमय अज्ञानिका ॥१२६॥
अज्ञानमय अज्ञानिका, जिससे करे वो कर्म को।
पर ज्ञानमय है ज्ञानिका, जिससे करे नहिं कर्म वो ॥१२७॥
ज्यों ज्ञानमय को भावमेंसे ज्ञान भावहि उपजते।
यों नियत ज्ञानी जीवके सब भाव ज्ञानमयी बनें ॥१२८॥
अज्ञानमय को भावसे, अज्ञान भावहि ऊपजे।
इस हेतुसे अज्ञानिके, अज्ञानमय भावहि बने ॥१२९॥
ज्यों कनकमय को भावमेंसे, कुण्डलादिक ऊपजे।
पर लोहमय को भावसे, कटकादि भावो नीपजे ॥१३०॥
त्यों भाव बहुविध ऊपजे, अज्ञानमय अज्ञानिके।
पर ज्ञानिके तो सर्व भावहि, ज्ञानमय निश्चयबने ॥१३१॥
जो तत्त्वका अज्ञान जिवके, उदय वो अज्ञानका।
अप्रतीत तत्त्वकी जीवके जो, उदय वो मिथ्यात्वका ॥१३२॥
जिवका जु अविरत भाव है, वो उदय अनसंयम हि का।
जिवका कलुष उपयोग जो, वो उदय जान कपायका ॥१३३॥
शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का।
उत्साह करते जीवके वो उदय जानो योगका ॥१३४॥
जब होय हेतूभूत ये तब स्कंध जो कार्माणके।
वे अष्टविध ज्ञानावरण इत्यादि भावों परिणमें ॥१३५॥

कार्मणवरगणारूप वे जब, बंध पावें जीवमें ।
आत्मा हि जिव परिणाम भावोंका तभी हेतू बने ॥१३६॥
जो कर्मरूप परिणाम, जिवके साथ पुद्गलका बने ।
तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे ॥१३७॥
पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्यके ।
जिव भाव हेतूसे अलग, तब कर्मके परिणाम हैं ॥१३८॥
जिवके करमके साथ ही, जो भाव रागादिक बने ।
तो कर्म अरु जिव उभय ही, रागादिपन पावें अरे ॥१३९॥
पर परिणमन रागादिरूप तो, होत है जिव एकके ।
इससे हि कर्मोदय निमितसे, अलग जिव परिणाम है ॥१४०॥
है कर्म जिवमें बद्धस्पृष्ट, जु कथन यह व्यवहारका ।
पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जिवमें, कथन है नय शुद्धका ॥१४१॥
हैं कर्म जिवमें बद्ध वा अनबद्ध ये नयपक्ष है ।
परपक्षसे अतिक्रान्त भाषित, वो समयकासार है ॥१४२॥
नयद्वय कथन जाने हि, केवल समयमें प्रतिबद्ध जो ।
नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्षसे परिहीन वो ॥१४३॥
सम्यक्त्व और सुज्ञानकी, जिस एकको संज्ञा मिले ।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वो समयकासार है ॥१४४॥

कर्ता कर्म अधिकार पूर्ण हुआ ।

३ अथ पुण्यपापाधिकार :

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशिल शुभकर्मको ।
विपरीत होय सुशील, जो संसारमें दाखिल करे ॥१४५॥

ज्यों लोहकी त्यों कनककी, जंजीर जकड़े पुरुषको ।
इस रीतसे शुभ या अशुभकृत, कर्म बांधे जीवको ॥१४६॥

इनसे करो नहिं राग वा संसर्ग उभय कुशीलका ।
इस कुशिलके संसर्ग से है, नाश तुझ स्वातंत्र्यका ॥१४७॥

जिस भांति कोई पुरुष, कुत्सितशील जनको जानके ।
संसर्ग उसके साथ त्योंही, राग करना परितजे ॥१४८॥

यों कर्मप्रकृती शील और स्वभाव कुत्सित जानके ।
निजभावमें रत राग, अरु संसर्ग उसका परिहरे ॥१४९॥

जिव रागी बांधे कर्मको, वैराग्यगत मुक्ती लहे ।
ये जिन प्रभू उपदेश है नहिं रक्त हो तू कर्मसे ॥१५०॥

परमार्थ है निश्चय, समय, शुध, केवली, मुनि, ज्ञानि है ।
तिष्ठे जु उसहि स्वभाव मुनिवर, मोक्षकी प्राप्ती करे ॥१५१॥

परमार्थमें नहिं तिष्ठकर, जो तप करें व्रतको धरें ।
तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवरने कहे ॥१५२॥

व्रतनियमको धारें भले, तपशीलको भी आचरें ।
परमार्थसे जो बाह्य वो, निर्वाणप्राप्ती नहिं करें ॥१५३॥

परमार्थबाहिर जीवगण, जानें न हेतू मोक्षका।
अज्ञानसे वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसारका ॥१५४॥
जीवादिका श्रद्धान सम्यक्त्व, ज्ञान उसका ज्ञान है।
रागादिवर्जन चारित है, अरु येहि मुक्ती पंथ है ॥१५५॥
विद्वान् जन भूतार्थ तज, व्यवहारमें वर्तन करे।
पर कर्मनाश विधानतो, परमार्थ आश्रित संतके ॥१५६॥
मल मिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका।
मिथ्यात्वमलके लेपसे, सम्यक्त्व त्यों ही जानना ॥१५७॥
मल मिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका।
अज्ञानमलके लेपसे, सद्ज्ञान त्यों ही जानना ॥१५८॥
मल मिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका।
चारित्र पावे नाश, लिप्त कषायमलसे जानना ॥१५९॥
यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निज कर्म रज आच्छादसे।
संसारप्राप्त, न जानता वो सर्वको सब रीतसे ॥१६०॥
सम्यक्त्वप्रतिबंधक करम, मिथ्यात्व जिनवरने कहा।
उसके उदयसे जीव मिथ्यात्वी बने यह जानना ॥१६१॥
त्यों ज्ञानप्रतिबंधक करम, अज्ञान जिनवरने कहा।
उसके उदयसे जीव अज्ञानी बने यह जानना ॥१६२॥
चारित्रप्रतिबंधक करम, जिन ने कषायोंको कहा।
उसके उदयसे जीव चारितहीन हो यह जानना ॥१३६॥

❀ पुण्य पाप अधिकार पूर्ण हुआ ❀

४ अथ आस्रवाधिकारः

मिथ्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ असंज्ञ हैं।
ये विविध भेद जु जीवमें, जिवके अनन्य हि भाव हैं ॥१६४॥
अरु वे हि ज्ञानावरन आदिक, कर्मके कारण बनें।
उनका भि कारण जिव बने, जो रागद्वेषादिक करे १६५॥
सद्दृष्टिको आश्रव नहीं, नहिं बंध, आश्रवरोध है।
नहिं बांधता जाने हि पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषैं ॥१६६॥
रागादियुत जो भाव जिवकृत उसहि को बंधक कहा।
रागादिसे प्रविमुक्त ज्ञायक मात्र, बंधक नहिं रहा ॥१६७॥
फल पक्क खिरता, वृन्तसह संबंध फिर पाता नहीं।
त्यों कर्मभाव खिरा, पुनः जिवमें उदय पाता नहीं॥ १६८॥
जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानिके।
वे पृथ्विपिंड समान हैं, कार्मणशरीर निबद्ध हैं ॥१६९॥
चउविधाश्रव समय समय जु, ज्ञानदर्शन गुणादिसे।
बहु भेद बांधे कर्म, इससे ज्ञानि बंधक नाहिं है ॥१७०॥
जो ज्ञानगुणकी जघनतामें, वर्तता गुण ज्ञानका।
फिर फिर प्रणमता अन्यरूप जु, उसहिसे बंधक कहा ॥१७१॥
चारित्र दर्शन ज्ञान तीन, जघन्य भाव जु परिणमे।
उससे हि ज्ञानी विविध पुद्गलकर्मसे बंधात है ॥१७२॥

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सद्दृष्टिके।
उपयोगके प्रायोग्य बंधन, कर्मभावोंसे करे ॥१७३॥
सत्ताविषैं वे निरुपभोग्य हि, बालिका ज्यों पुरुषको।
उपभोग्य बनते वे हि बांधे, यौवना ज्यों पुरुषको ॥१७४॥
अनभोग्य रह उपभोग्य जिस विध होय उस विध बांधते।
ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु सप्त अष्ट प्रकार के ॥१७५॥
इस हेतुसे सम्यक्त्वसंयुत, जीव अनबंधक कहे।
आस्रव भाव अभावमें, प्रत्यय नहीं बंधक कहे ॥१७६॥
नहिं रागद्वेष न मोह वे, आश्रव नहीं सद्दृष्टिके।
इससे हि आश्रवभाव बिन, प्रत्यय नहीं हेतू बनें ॥१७७॥
हेतू चतुर्विध कर्म अष्ट प्रकारका कारण कहा।
उनका हि रागादिक कहा, रागादि नहिं वहां बंध ना ॥१७८॥
जनसे ग्रहित आहार ज्यों, उदराग्निके संयोगसे।
बहुभेद मांस, वसा अरू, रुधिरादि भावों परिणमे ॥१७९॥
त्यों ज्ञानिके भी पूर्वकालनिबद्ध जो प्रत्यय रहे।
बहुभेद बांधे कर्म, जो जिव शुद्धनयपरिच्युत बने ॥१८०॥

❀ आस्रव अधिकार पूर्ण हुआ ❀

५ अथ संवराधिकारः

उपयोगमें उपयोग, को उपयोग नहिं क्रोधादि में।
है क्रोध क्रोधविषैं हि निश्चय, क्रोध नहिं उपयोगमें ॥१८१॥

उपयोग है नहिं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्ममें।
ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोगमें ॥१८२॥
ऐसा अविपरित ज्ञान जब ही प्रगटता है जीवके।
तब अन्य नहिं कुछ भाव वह उपयोग शुद्धात्मा करे ॥१८३॥
ज्यों अग्नितप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्म उदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानिपना तजे ॥१८४॥
जिव ज्ञानि जाने येहि, अरु अज्ञानि राग हि जिव गिनें।
आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतमआच्छादसे ॥१८५॥
जो शुद्ध जाने आत्मको, वो शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।
अनशुद्ध जाने आत्मको, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो॥१८६॥
शुभ अशुभसे जो रोककर निज आत्मको आत्मा हि से।
दर्शन अवरु ज्ञान हि ठहर, परद्रव्यइच्छा परिहरे ॥१८७॥
जो सर्वसंगविमुक्त ध्यावे, आत्मसे आत्मा हि को।
नहि कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्व को ॥१८८॥
वह आत्मध्याता, ज्ञानदर्शनमय अनन्यमयी हुआ।
बस अल्पकाल जु कर्मसे परिमोक्ष पावे आत्मका ॥१८९॥
रागादिके हेतू कहे, सर्वज्ञ अध्यवसानको।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव त्यों ही योगको॥१९०॥
कारण अभाव जरूर आश्रवरोध ज्ञानीको बने।
आस्रवभाव अभावमें, नहिं कर्मका आना बने ॥१९१॥

है कर्मसे जु समाज है, नोकर्मका रोधन बने।
नोकर्मका रोधन हुवे, संसार संरोधन बने ।।१९२।।

❀ संवर अधिकार पूर्ण हुआ ❀

६ अथ निर्जराधिकार :

चेतन अचेतन द्रव्यका, उपभोग इन्द्रिसमूहसे।
जो जो करे सद्दृष्टि वह सब, निर्जरा कारण बनें ।।१९३।।
परद्रव्यके उपभोग निश्चय, दुःख वा सुख होय है।
इन उदित सुख दुख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है ।।१९४।।
ज्यों जहरके उपभोगसे भी, वैद्यजन मरता नहीं।
त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानिजन बँधता नहीं ।।१९५।।
ज्यों अरतिभाव जु मद्य पीकर, मत्तजन बनता नहीं।
द्रव्योपभोगविषैं अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं ।।१९६।।
सेता हुआ नहिं सेवता, नहिं सेवता सेवक बने।
प्रकरणतनी चेष्टा करे, अरु प्राकरण ज्यों नहिं हुवे ।।१९७।।
कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवरने कहे।
वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ।।१९८।।
पुद्गलकरमरूप रागका हि, विपाकरुप है उदय ये।
ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायक भाव हूँ ।।१९९।।
सद्दृष्टि इसरित आत्मको, ज्ञायकस्वभाव हि जानता।
अरु उदय कर्मविपाकको वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता ।।२००।।

अणुमात्र भी रागादिका, सद्भाव है जिस जीवको ।
वो सर्व आगमधर भले ही, जानता नहिं आत्मको ॥२०१॥
नहिं जानता जहँ आत्मको, अनआत्म भी नहिं जानता ।
वो क्योंहि होय सुदृष्टि जो, जिव अजिवको नहिं जानता ॥२०२॥
जिवमें अपद्भुत द्रव्यभावकु, छोड़ ग्रह तु यथार्थसे ।
थिर, नियत, एक हि भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वाभावसे॥२०३
मति, श्रुती, अवधी, मनः, केवल सबहि एक हि पद जु है।
वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जिव मुक्ती लहे ॥२०४॥
रे ज्ञानगुणसे रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके ।
तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्ममोक्षेच्छा तुझे ॥२०५॥
इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे ।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे ॥२०६॥
परद्रव्य यह मुझ द्रव्य, यों तो कौन ज्ञानीजन कहे ।
निज आत्मको निजका परिग्रह, जानता जो नियमसे ॥२०७॥
परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बनूं अरे ।
मैं नियमसे ज्ञाता हि, इससे नहिं परिग्रह मुझ बने ॥२०८॥
छेदाय या भेदाय, को ले जाय, नष्ट, बनो भले ।
या अन्य को रित जाय, परपरिग्रह न मेरा है अरे ॥२०९॥
अनिछक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानिके ।
इससे न परिग्रहि पुण्यका, वो पुण्यका ज्ञायक रहे ॥२१०॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पाप इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रहि पापका, वो पापका ज्ञायक रहे ॥२११॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं अशन इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रहि अशनका, वो अशनका ज्ञायक रहे ॥२१२॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पान इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रहि पानका, वो पानका ज्ञायक रहे ॥२१३॥

ये आदि विधविध भाव बहु, ज्ञानी न इच्छे सर्वको।
सर्वत्र आलंबनरहित बस, नियत ज्ञायकभाव वो ॥२१४॥

सांप्रत उदयके भोगमें जु वियोगबुद्धी ज्ञानिके।
अरु भावि कर्मविपाककी, कांक्षा नहीं ज्ञानी करे ॥२१५॥

रे वेद्यवेदक भाव दोनों, समय समय विनष्ट है।
ज्ञानी रहे ज्ञायक, कदापि न उभयकी कांक्षा करे ॥२१६॥

संसारतनसंबंधि, अरु बंधोपभोग निमित्त जो।
उन सर्व अध्यवसान उदय जु, राग होय न ज्ञानिको ॥२१७॥

हो द्रव्य सबमें रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्यमें।
पर कर्मरजसे लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दम मध्यमें ॥२१८॥

पर द्रव्य सबमें रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्यमें।
वह कर्मरजसे लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दम मध्यमें ॥२१९॥

ज्यों शंखविविध सचित्त, मिश्र, अचित्त वस्तू भोगते।
पर शंखके शुक्लत्वको नहिं, कृष्ण कोई कर सके ॥२२०॥

त्यों ज्ञानि भी मिश्रित, सचित्त, अचित्त वस्तू भोगते ।
पर ज्ञान ज्ञानीका नहीं, अज्ञान कोई कर सके ॥२२१।
जबही स्वयं वो शंख, तजकर स्वीय श्वेत स्वभावको ।
पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्वको ॥२२२॥
त्यों ज्ञानि भी जब ही स्वयं निज, छोड़ ज्ञानस्वभावको ।
अज्ञानभावों परिणमे, अज्ञानताको प्राप्त हो ॥२२३॥
ज्यों जगतमें को पुरुष, वृत्तिनिमित्त सेवे भूपको ।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोग देवे पुरुषको ॥२२४॥
त्यों जिवपुरुष भी कर्मरजका सुख अरथ सेवन करे ।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोग देवे जीवके ॥२२५॥
अरु वो हि नर जब वृत्तिहेतू भूपको सेवे नहीं ।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोगको देवे नहीं ॥२२६॥
सद्दृष्टिको त्यों विषयहेतू कर्मरज सेवन नहीं ।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोगको देता नहीं ॥२२७॥
सम्यक्ति जिव होते निःशंकित इसहिसे निर्भय रहें ।
है सप्तभयप्रविमुक्त वे, इसही से वे निःशंक हैं ॥२२८॥
जो कर्मबंधनमोहकर्त्ता, पाद चारों छेदना ।
चिन्मूर्ति वो शंकारहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥२२९॥
जो कर्मफल अरु सर्व धर्मोंकी न कांक्षा धारना ।
चिन्मूर्ति वो कांक्षारहित सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥२३०॥

सब वस्तुधर्मविषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना ॥२३१॥
संमूढ़ नहिं सब भावमें जो सत्यदृष्टी धारता।
वो मूढदृष्टिविहीन सम्यक्दृष्टि निश्चय जानना ॥२३२॥
जो सिद्ध भक्तीसहित है, गोपनकरें सब धर्मका।
चिन्मूर्ति वो उपगुहनकर सम्यक्तदृष्टी जानना ॥२३३॥
उन्मार्ग जाते स्वात्मको भी, मार्गमें जो स्थापता।
चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्तदृष्टी जानना ॥२३४॥
जो मोक्षपथमें साधु त्रयका वत्सलत्व करे अहा।
चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्तदृष्टी जानना ॥२३५॥
चिन्मूर्ति मन-रथपंथमें, विद्यारथारूढ़ घूमता।
जिनराज ज्ञान प्रभावकर सम्यक्तदृष्टी जानना ॥२३६॥

❀ निर्जराधिकार समाप्त हुआ ❀

७ अथ बंधाधिकारः

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेलका।
व्यायाम करता शस्त्रसे, बहु रजभरे स्थानक खड़ा ॥२३७॥
अरु ताड़ कदली बांस आदी छिन्नभिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्योंका करे ॥२३८॥
बहुभांतिके करणादिसे उपघात करते उसहि को।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध है किन कारणों ॥२३९॥

यों जानना निश्चयपनें, चिकनाइ जो उस नरविषैं।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है ॥२४०॥
चेष्टा विविधमें वर्तता, इसभांति मिथ्यादृष्टि जो।
उपयोगमें रागादि करता, रजहिसे लेपाय वो ॥२४१॥
जिस रीत फिर वो ही पुरुष, उस तेल सबको दूरकर।
व्यायाम करता शस्त्रसे, बहु रजभरे स्थानक ठहर ॥२४२॥
अरु ताड़, कदली, बांस आदी, छिन्न भिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु, अचित्त द्रव्योंका करे ॥२४३॥
बहुभांतिके करणादिसे, उपघात करते उसहि को।
निश्चयपने चिंतनकरो, रजबंध नहिं किन कारणों ॥२४४॥
यों जानना निश्चयपने, चिकनाइ जो उस नरविषैं।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है ॥२४५॥
योगों विविधमें वर्तता, इसभांति सम्यक्दृष्टि जो।
उपयोगमें रागादि न करे, रजहि नहिं लेपाय वो ॥२४६॥
जो मानता मैं मारुं पर अरु घात पर मेरा करे।
वो मूढ़ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥२४७॥
है आयुक्षयसे मरण जिवका ये हि जिनवरने कहा।
तू आयु तो हरता नहीं, तैंने मरण कैसे किया ॥२४८॥
है आयुक्षयसे मरण जिवका ये हि जिनवरने कहा।
वे आयु तुझ हरते नहीं, तो मरण तुझ कैसे किया ॥२४९॥

जो मानता मैं पर जिलावूं, मुझ जिवन परसे नहि ।
वो मूढ़ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥२५०॥
जीतव्य जिवका आयुदयसे, ये हि जिनवरने कहा ।
तू आयु तो देता नहीं, तैंने जिवन कैसे किया ॥२५१॥
जीतव्य जिवका आयुदयसे, ये हि जिनवरने कहा ।
वो आयु तुझ देते नहीं, तो जिवन तुझ कैसे किया ॥२५२॥
जो आपसे माने दुखी सुखि, मैं करूं परजीवको ।
वो मूढ़ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥२५३॥
जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें ।
तू कर्म तो देता नहीं, कैसे तु दुखित सुखी करे ॥२५४॥
जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो दुखित तुझ कैसे करें ॥२५५॥
जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो सुखित तुझ कैसे करें ॥२५६॥
मरता दुखी होता जु जिव सब कर्म उदयोंसे बनें ।
मुझसे मरा अरु दुखि हुवा क्या मत न तुझ मिथ्या अरे॥२५७॥
अरु नहिं मरे, नहिं दुखि बने, वे कर्म उदयोंसे बने ।
"मैंने न मारा दुखि करा" क्या मत न तुझ मिथ्या अरे॥२५८॥
ये बुद्धि तेरी "दुखित अवरु सुखी करूं हूं जीवको" ।
वो मूढ़मति तेरी अरे, शुभ अशुभ बांधे कर्मको ॥२५९॥

करता तु अध्यवसान "दुखित सुखी करूं हूँ जीवको" ।
वो बांधता है पापको वा बांधता है पुण्यको ॥२६०॥
करता तु अध्यवसान "मैं मारूँ जिवाऊं जीवको" ।
वो बांधता है पापको वा बांधता है पुण्य को ॥२६१॥
मारो न मारो जीवको, है बंध अध्यवसानसे ।
यह आतमाके बंधका, संक्षेप निश्चयनयविषै ॥२६२॥
यों झूठ मांहि, अदत्तमें, अब्रह्म अरु परिग्रहविषैं ।
जो होय अध्यवसान उससे पापबंधन होय है ॥२६३॥
इस रीत सत्य रु दत्तमें, त्यों ब्रह्म अनपरिग्रहविषैं ।
जो होय अध्यवसान उससे पुण्यबंधन होय है ॥२६४॥
जो होय अध्यवसान जिवके, वस्तुआश्रित वो बने ।
पर वस्तुसे नहिं बंध अध्यवसान से ही बंध है ॥२६५॥
करता दुखी सुखि जीवको, अरु बद्ध मुक्त करूँ अरे ।
ये मूढ़मति तुझ है निरर्थक, इस हि से मिथ्या हि है ॥२६६॥
सब जीव अध्यवसान कारण, कर्मसे बँधते जहाँ ।
अरु मोक्षमग थित जीव छूटें, तू हि क्या करता भला ॥२६७॥
तिर्यंच, नारक, देव, मानव, पुण्यपाप अनेक जे ।
उन सर्वरूप करै जु निजको, जीव अध्यवसानसे ॥२६८॥
अरु त्यों हि धर्म अधर्म, जीव अजीव, लोक अलोक जे ।
उन सर्वरूप करै जु निजको, जीव अध्यवसानसे ॥२६९॥

इन आदि अध्यवसान विध विध वर्तते नहिं जिनहि को ।
शुभ-अशुभ कर्म अनेकसे, मुनिराज वे नहिं लिप्त हों ॥२७०॥
जो बुद्धि, मति, व्यवसाय, अध्यवसान अरु विज्ञान है ।
परिणाम चित्तरु भाव शब्दहि सर्व ये एकार्थ हैं ॥२७१॥
व्यवहारनय इस रीत जान, निषिद्ध निश्चयनयहिसे ।
मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्षकी प्राप्ती करे ॥२७२॥
जिनवरप्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ती अवरु तप शीलको ।
करता हुआ भि अभव्य जिव, अज्ञानि मिथ्यादृष्टि है ॥२७३॥
मोक्षकी श्रद्धाविहीन, अभव्य जिव शास्त्रों पढ़े ।
पर ज्ञानकी श्रद्धारहितको, पठन ये नहिं गुण करै ॥२७४॥
वो धर्मको श्रद्धे, प्रतीत, रुची अरू स्पर्शन करे ।
वो भोगहेतू धर्मको, नहिं कर्मक्षयके हेतुको ॥२७५॥
"आचार" आदिक ज्ञान है, जीवादि दर्शन जानना ।
षट् जीवकाय चरित्र है, ये कथन नय व्यवहारका ॥२७६॥
मुझ आत्मनिश्चय ज्ञान है, मुझ आत्मदर्शन चरित है ।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु, मुझ आत्म संवर योग है ॥२७७॥
ज्यों फटिकमणि है शुद्ध, आप न रक्तरूप जु परिणमे ।
पर अन्य रक्त पदार्थसे, रक्तादिरूप जु परिणमे ॥२७८॥
त्यों ज्ञानि भी है शुद्ध, आप न रागरूप जु परिणमे ।
पर अन्य जो रागादि दूषण, उनसे वो रागी बने ॥२७९॥

कभि रागद्वेषविमोह अगर कषायभाव जु निजविषैं।
ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कारक बने ॥२८०॥
पर रागद्वेषकषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उनरूप जो जिव परिणमें फिर बांधता रागादि को ॥२८१॥
यों रागद्वेषकषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उनरूप आत्मा परिणमें वो बांधता रागादिको ॥२८२॥
अनप्रतिक्रमण दो भाँति अनपचखाण भी दो भाँति है।
जिवको अकारक है कहा इस रीतके उपदेशसे ॥२८३॥
अनप्रतिक्रमण दो द्रव्यभाव जु योंहि अनपचखाण है।
जिवको अकारक है कहा इस रीतके उपदेशसे ॥२८४॥
अनप्रतिक्रमण अरु त्योंहि अनपचखाण द्रव्य रु भावका।
जबतक करै है आतमा, कर्ता बनै है जानना ॥२८५॥
हैं अधःकर्मादिक जु पुद्गलद्रव्यके ही दोष ये।
कैसे करे ज्ञानी, सदा परद्रव्यके जो गुणहि हैं ॥२८६॥
उद्देशि त्योंही अधःकर्मी पौद्गलिक यह द्रव्य जो।
कैसे हि मुझकृत होय नित्य अजीव वर्णा जिसहिको ॥२८७॥

❀ बंधाधिकार समाप्त हुआ ❀

९ अथ मोक्षाधिकार :

ज्यों पुरुष कोई बंधनों, प्रतिबद्ध है चिरकालका।
वो तीव्र-मंद स्वभाव त्यों ही काल जाने बंधका ॥२८८॥
पर जो करे नहिं छेद तो छूटे न, बंधनवश रहे।
अरु काल बहुतहि जाय तो भी मुक्त वो नर नहिं बने ॥२८९॥
त्यों कर्मबंधनके प्रकृति, परदेश, स्थिति, अनुभागको।
जाने भले छूटे न जिव, जो शुद्ध तो ही मुक्त हो ॥२९०॥
जो बंधनोंसे बद्ध वो नहिं बंधचिंतासे छुटे।
त्यों जीव भी इन बंधकी चिंता करेसे नहिं छुटे ॥२९१॥
जो बंधनोंसे बद्ध वो नर बंधछेदनसे छुटे।
त्यों जीव भी इन बंधनोंका छेद कर मुक्ती वरे ॥२९२॥
रे जानकर बंधन स्वभाव स्वभाव जान जु आत्मका।
जो बंधमें हि विरक्त होवें, कर्म मोक्ष करें अहा ॥२९३॥
छेदन करो जिव बंधका तुम नियतनिज निज चिह्न से।
प्रज्ञा-छैनीसे छेदते दोनों पृथक् हो जाय हैं ॥२९४॥
छेदन होवे जिव बंधका जँह नियत निज २ चिह्नसे।
वह छोड़ना इस बंधको, जिव ग्रहण करना शुद्धको ॥२९५॥
यह जीव कैसे ग्रहण हो ? जिवका ग्रहण प्रज्ञाहि से।
ज्यों अलग प्रज्ञासे किया, त्यों ग्रहण भी प्रज्ञाहि से॥२९६॥

कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, चेतक है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना ॥२९७॥
कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, दृष्टा है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना ॥२९८॥
कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, ज्ञाता है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना ॥२९९॥
सब भाव जो परकीय जाने, शुद्ध जाने आत्मको।
वह कौन ज्ञानी "मेरा है यह" यों वचन बोले अहो ॥३००॥
अपराध चौर्यादिक करै जो पुरुष वो शंकित फिरै।
को लोकमें फिरते हुएको, चोर जान जु बांध ले ॥३०१॥
अपराध जो करता नहीं, निःशंक लोकविषैं फिरै।
"बँध जाउंगा" ऐसी कभी, चिंता न उसको होय है ॥३०२॥
त्यों आतमा अपराधी "मैं बँधता हुँ" यों हि सशंक है।
अरु निरपराधी आतमा, "नांही बधूं" निःशंक है ॥३०३॥
संसिद्धि, सिद्धि जु राध, अरु साधित अराधित एक है।
ये राधसे जो रहित है, वो आतमा अपराध है ॥३०४॥
अरु आतमा जो निरपराधी, होय है निःशङ्क वो।
वर्ते सदा आराधनासे, जानना "मैं" आत्मको ॥३०५॥
प्रतिक्रमण अरु प्रतिसरण त्यों परिहरण, निवृत्ति धारणा।
अरु शुद्धि, निंदा, गर्हणा, ये अष्टविध विषकुंभ है ॥३०६॥

अनप्रतिक्रमण अनप्रतिसरण, अनपरिहरण अनधारणा।
अनिवृत्ति, अनगर्हा, अनिंद, अशुद्धि अमृतकुंभ है ॥३०७॥

❀ मोक्षाधिकारः समाप्तः ❀

१० अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार :

जो द्रव्य उपजे जिन गुणोंसे, उनसे जान अनन्य वो।
है जगतमें कटकादि, पर्यायोंसे कनक अनन्य ज्यों ॥३०८॥
जिव-अजिवके परिणाम जो, शास्त्रोंविषैं जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणामसे ॥३०९॥
उपजै न आतमा कोइसे, इससे न आतमा कार्य है।
उपजावता नहिं कोइको, इससे न कारण भी बने ॥३१०॥
रे! कर्मआश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतारके।
आश्रित हुवे उपजे नियमसे, अन्य नहिं सिद्धी दिखै ॥३११॥
पर जीव प्रकृतीके निमित्त जु, उपजता नशता अरे।
अरु प्रकृतिका जिवके निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है ॥३१२॥
अन्योन्यके जु निमित्त से यों, बंध दोनोंका बने।
इस जीव प्रकृती उभयका, संसार इससे होय है ॥३१३॥
उत्पादव्यय प्रकृती निमित्त जु, जब हि तक नहिं परितजे।
अज्ञानि, मिथ्यात्वी, असंयत, तब हि तक वो जिव रहे ॥३१४॥
ये आतमा जब ही करमका, फल अनंता परितजे।
ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि वोहि कर्मविमुक्त है ॥३१५॥

अज्ञानि स्थित प्रकृती स्वभाव सु, कर्मफलको वेदता।
अरु ज्ञानि तो जाने उदयगत कर्मफल, नहिं भोगता ॥३१६॥
सद्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृती अभव्य नहीं तजे।
ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ भी सर्प नहिं निर्विष बने ॥३१७॥
वैराग्यप्राप्त जु ज्ञानिजन है, कर्मफल को जानता।
कड़वे-मधुर बहुभाँतिको, इससे अवेदक है अहा ॥३१८॥
करता नहीं, नहिं वेदता, ज्ञानी करम बहुभाँतिको।
बस जानता ये बंध त्यों ही कर्मफल शुभ अशुभको ॥३१९॥
ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्षको ॥३२०॥
ज्यों लोक माने "देव नारक आदि जिव विष्णू करे"।
त्यों श्रमण भी माने कभी, "षट्कायको आत्मा करे"॥३२१॥
तो लोक-मुनि सिद्धांत एक हि, भेद इसमें नहिं दिखे।
विष्णू करे ज्यों लोकमतमें, श्रमणमत आत्मा करे ॥३२२॥
इसभाँति लोक मुनी उभयका मोक्ष कोई नहिं दिखे।
जो देव, मानव असुरके, त्रयलोक को नित्यहि करे ॥३२३॥
व्यवहारमूढ़ अतत्त्वविद् परद्रव्यको मेरा कहे।
"अणुमात्र भी मेरा न" ज्ञानी जानता निश्चयहि से ॥३२४
ज्यों पुरुष कोइ कहे "हमारा ग्राम, पुर अरु देश है"।
पर वो नहीं उसका अरे! जिव मोहसे "मेरा" कहे ॥३२५॥

इस रीत ही जो ज्ञानि भी 'मुझ' जानता परद्रव्यको।
वो जरूर मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्यको ॥३२६॥
इससे "न मेरा" जान जिव, परद्रव्यमें इन उभयकी।
कर्तृत्वबुद्धी जानता, जाने सुदृष्टीरहितकी ॥३२७॥
मिथ्यात्व प्रकृती ही अगर, मिथ्यात्वि जो जिवको करे।
तो तो अचेतन प्रकृति ही कारक बने तुझ मतविषै ॥३२८॥
अथवा करे जो जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको।
तो तो बने मिथ्यात्वि पुद्गल द्रव्य आत्मा नहिं बने। ३२९॥
जो जीव अरु प्रकृती करे मिथ्यात्व पुद्गल द्रव्यको।
तो उभयकृत जो होय तत्फल भोग भी हो उभयको ॥३३०॥
जो प्रकृति नहिं नहिं जिव करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्यको।
पुद्गलदरव मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो ॥३३१॥
कर्महि करें अज्ञानि त्योंही ज्ञानि भी कर्महिं करें।
कर्महि सुलाते जीवको, त्यों कर्म ही जाग्रत करें ॥३३२॥
अरु कर्मही करते सुखी, कर्महि दुखी जिवको करे।
कर्महि करे मिथ्यात्वि त्योंहि, असंयमी कर्महि करें ॥३३३॥
कर्महि भ्रमावे ऊर्ध्व लोक रु, अधः अरु तिर्यक् विषैं।
अरु कुछ भी जो शुभ या अशुभ, उन सर्वको कर्महि करे ॥३३४॥
करता करम [ ] करम, हरता करम—सब कुछ करे।
इस हेतुसे यह है सुनिश्चित जिव अकारक सर्व है ॥३३५॥

पुंकर्म इच्छे नारिको स्त्रीकर्म इच्छे पुरुषको ।
ऐसी श्रुती आचार्य्यदेव परंपरा अवतीर्ण है ॥३३६॥
इस रीत "कर्महि कर्मको इच्छै" कहा है शास्त्रमें ।
अब्रह्मचारी यों नहीं को जीव हम उपदेशमें ॥३३७॥
अरु जो हने परको, हनन हो परसे, वोह प्रकृत्ति है ।
इस अर्थमें परघात नामक कर्म का निर्देश है ॥३३८॥
इस रीत "कर्महि कर्मको हनता" कहा है शास्त्रमें ।
इससे न को भी जीव है हिंसक जु हम उपदेशमें ॥३३९॥
यों सांख्यका उपदेश ऐसा जो श्रमण वर्णन करे ।
उस मंतसे सब प्रकृती करे जिव तो अकारक सर्व है ॥३४०॥
अथवा तु माने "आतमा मेरा स्व-आत्मा को करे ।
तो ये जो तुझ मंतव्य भी मिथ्या स्वभाव हि तुझ अरे ॥३४१॥
जिव नित्य है त्यों, है असंख्यप्रदेशि दर्शित समयमें ।
उससे न उसको हीन, त्योंहि न अधिक कोई कर सके॥३४२॥
विस्तारसे जिवरूप जिवका, लोकमात्र प्रमाण है ।
क्या उससे हीन रु अधिक बनता द्रव्यको कैसे करे॥३४३॥
माने तुँ, 'ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव स्थित रहे' ।
तो यों भि यह आत्मा स्वयं निज आतमाको नहिं करे॥३४४॥
पर्याय कुछसे नष्ट जिव, कुछसे न जीव विनष्ट है ।
इससे करै है वो हि या को अन्य नहि एकान्त है ॥३४५॥

पर्याय कुछसे नष्ट जिव, कुछसे न जीव विनष्ट है।
यों जीव वेदे वो हि या को अन्य नहिं एकान्त है ॥३४६।
जिव जो करे वह भोगता नहिं—जिसका यह सिद्धान्त है'
अर्हंतके मतका नहीं, वो जिव मिथ्यादृष्टि है। ३४७।
जिव अन्य करता अन्य वेदे जिसका यह सिद्धांत है।
अर्हंतके मतका नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है ॥३४८
ज्यों शिल्पि कर्म करे परंतू वो नहीं तन्मय बने।
त्यों कर्मको आतमा करे पर वो नहीं तन्मय बने ॥३४९
ज्यों शिल्पि करणोंसे करे पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणोंसे करे पर वो नहीं तन्मय बने ॥३५०
ज्यों शिल्पि करण ग्रहे परंतू वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणोंको ग्रहे पर वो नहीं तन्मय बने ॥३५१.

शिल्पी करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जिव करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने॥ ३५२।
इस भाँति मत व्यवहारका संक्षेपसे वक्तव्य है।
सुनलो वचन परमार्थका, परिणामविषयक जो हि है ॥३५३।
शिल्पी करे चेष्टा अवरु, उस ही से शिल्पि अनन्य है।
त्यों जीव कर्म करे अवरु, उस ही से जीव अनन्य है॥३५४।
चेष्टित हुआ शिल्पी निरंतर दुखित जैसे होय है।
अरु दुखसे शिल्पि अनन्य, त्यों जिव चेष्टमान दुखी बने ॥३५५

ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्यका, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा ॥३५६॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शक नहीं त्यों अन्यका दर्शक अहो दर्शक तथा ॥३५७॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका।
संयत नहीं त्यों अन्यका, संयत अहो संयत तथा ॥३५८॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शन नहीं त्यों अन्यका, दर्शन अहो दर्शन तथा ॥३५९॥
यों ज्ञानदर्शनचरितविषयक कथन नय परमार्थका।
सुनलो वचन संक्षेपसे, इस विषयमें व्यवहारका ॥३६०॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभावसे।
ज्ञाता भि त्यों ही जानता, परद्रव्यको निज भावसे। ३६१॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका परद्रव्य आप स्वभावसे।
आत्मा भि त्यों ही देखता परद्रव्यको निजभावसे ॥३६२॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका परद्रव्य आप स्वभावसे।
ज्ञाता भि त्यों ही त्यागता, परद्रव्यको निज भावसे ॥३६३॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभावसे।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्यको निज भावसे ॥३६४॥
यों ज्ञानदर्शनचरितमें निर्णय कहा व्यवहारका।
अरु अन्य पर्यय विषयमें भी इस प्रकार हि जानना ॥३६५॥

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन विषयमें ।
इस हेतुसे यह आतमा क्या हन सके उन विषयमें ॥३६६॥
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन कर्ममें ।
इस हेतुसे यह आतमा क्या हन सके उन कर्ममें ॥३६७॥
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किञ्चित् नहिं अचेतन कायमें ।
इस हेतुसे यह आतमा क्या हन सके उन कायमें ॥३६८॥
है ज्ञानका, सम्यक्त्वका, उपघात चारितका कहा ।
वहाँ और कुछ भी नहिं कहा उपघात पुद्गल द्रव्यका ॥३६९॥
जो जीवके गुण है नियत वे कोइ नहिं परद्रव्यमें ।
इस हेतुसे सद्‌दृष्टि जिवको राग नहिं है विषयमें ॥३७०॥
अरु राग, द्वेष, विमोह तो जिवके अनन्य परिणाम हैं ।
इस हेतुसे शब्दादि विषयोंमें नहीं रागादि हैं ॥३७१॥
को द्रव्य दुसरे द्रव्यमें उत्पाद नहिं गुणका करे ।
इस हेतुसे सब ही दरब उत्पन्न आप स्वभावसे ॥३७२॥
पुद्गल दरब बहु भाँति निंदा-स्तुतिवचनरुप परिणमे ।
सुनकर उन्हें 'मुझको कहा' गिन रोप तोप जु जिव करे ॥३७३॥
पुद्गलदरब शब्दत्वपरिणत, उसका गुण जो अन्य है ।
तो नहिं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध! रोप तुं क्यों करे॥३७४॥
शुभ या अशुभ जो शब्द वो 'तू सुन मुझे' न तुझे कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कर्णगोचर शब्दको ॥३७५॥
शुभ या अशुभ जो रूप वो 'तू देख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे चक्षुगोचर रूपको ॥३७६॥

शुभ या अशुभ जो गंध वो 'तू सूंघ मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे घ्राणगोचर गंधको ॥३७७॥
शुभ या अशुभ रस कोइ भी 'तू चाख मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे रसनगोचर स्वादको ॥३७८॥
शुभ या अशुभ जो स्पर्श वो 'तू स्पर्श मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कायगोचर स्पर्शको ॥३७९॥
शुभ या अशुभ गुण कोइ भी 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर गुण अरे ॥३८०॥
शुभ या अशुभ जो द्रव्य वो 'तू जान मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर द्रव्य रे ॥३८१॥
यह जानकर भी मूढ जिव पावे नहीं उपशम अरे !
शिवबुद्धिको पाया नहीं वो परग्रहण करना चहे ॥३८२॥
शुभ और अशुभ अनेकविध, के कर्म पूरव जो किये ।
उनसे निवर्ते आत्मको, वो आतमा प्रतिक्रमण है ॥३८३॥
शुभ अरु अशुभ भावी करमका बंध हो जिन भावमें ।
उनसे निवर्तन जो करे वो आतमा पचखाण है ॥३८४॥
शुभ और अशुभ अनेकविध हैं उदित जो इस कालमें ।
उन दोषको जो चेतता, आलोचना वह जीव है ॥३८५॥
पचखाण नित्य करे अरू प्रतिक्रमण जो नित्यहि करे ।
नित्यहि करे आलोचना वो आतमा चारित्र है ॥३८६॥

जो कर्मफलको वेदता जिव कर्मफल निजरुप करे।
वो पुनः बाँधे अष्टविधके कर्मको–दुखबीज को ॥३८७॥
जो कर्मफलको वेदता जाने करमफल मैं किया।
वो पुनः बांधे अष्टविधके कर्मको–दुखबीजको ॥३८८॥
जो कर्मफलको वेदता जिव सुखी दुःखी होय है।
वो पुनः बांधे अष्टविधके कर्मको–दुखबीजको ॥३८९॥
रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान क्योंकी शास्त्र कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु शास्त्र अन्य प्रभू कहे ॥३९०॥
रे! शब्द है नहिं ज्ञान क्योंकी शब्द कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य प्रभू कहे ॥३९१॥
रे! रूप है नहिं ज्ञान क्योंकी रूप कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु रूप अन्य प्रभू कहे ॥३९२॥
रे! वर्ण है नहिं ज्ञान क्योंकी वर्ण कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु वर्ण अन्य प्रभू कहे ॥३९३॥
रे! गंध है नहिं ज्ञान क्योंकी गंध कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु गंध अन्य प्रभू कहे ॥३९४॥
रे! रस नहीं है ज्ञान क्योंकी रस जु कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु अन्य रस जिनवर कहे ३९५॥
रे! स्पर्श है नहिं ज्ञान क्योंकी स्पर्श कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु स्पर्श अन्य प्रभू कहे ॥३९६॥

रे ! कर्म है नहिं ज्ञान क्योंकी कर्म कुछ जाने नहीं।
हेतु सइसे है ज्ञान अन्य रु कर्म अन्य जिनवर कहे ॥३९७॥
रे ! धर्म नहिं है ज्ञान क्योंकी धर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु धर्म अन्य जिनवर कहे ॥३९८॥
नहिं है अधर्म जु ज्ञान क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य अधर्म अन्य जिनवर कहे ॥३९९॥
रे! काल है नहिं ज्ञान क्योंकी काल कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु काल अन्य प्रभू कहे ॥४००॥
आकाश है नहिं ज्ञान क्योंकि अकाश कुछ जाने नहीं।
इस हेतुसे आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य प्रभू कहे ॥४०१॥
रे ! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकी अचेतन रूप है।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु अन्य अध्यवसान है ॥४०२॥
रे! सर्वदा जाने हि इससे जीव ज्ञायक ज्ञानि है।
अरु ज्ञान है ज्ञायकसे अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है ॥४०३॥
सम्यक्त्व अरु संयम तथा पूर्वांगगत सब सूत्र जो।
धर्माधरम दीक्षा सबहि, बुध पुरुष माने ज्ञानको ॥४०४॥
यों आतमा जिसका अमूर्तिक वो न आहारक बने।
पुद्गलमयी आहार यों आहार तो मूर्तिक अरे ॥४०५॥
जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं-नहिं त्याग उसका हो सके।
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगि अरु वैस्रसिक है ॥४०६॥

इस हेतुसे जो शुद्ध आत्मा वो नहीं कुछ भी ग्रहे।
छोड़े नहीं कुछ भी अहो! परद्रव्य जीव अजीव में ॥४०७॥

मुनिलिंगको अथवा गृहस्थीलिंगको बहुभाँतिके।
ग्रहकर कहत है मूढजन, 'यह लिंग मुक्तीमार्ग है' ॥४०८॥

वह लिंग मुक्तीमार्ग नहिं, अर्हंत निर्मम देहमें।
बस लिंग तजकर ज्ञान अरु चारित्र दर्शन सेवते ॥४०९॥

मुनिलिंग अरु गृहिलिंग—ये नहिं लिंग मुक्तीमार्ग है।
चारित्र-दर्शन-ज्ञानको बस मोक्षमार्ग प्रभू कहे ॥४१०॥

यों छोड़कर सागार या अनगार धारित लिंगको।
चारित्र-दर्शन-ज्ञानमें तू जोड रे! निज आत्मको ॥४११॥

तू स्थाप निजको मोक्षपथमें ध्या अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर न विहार कर परद्रव्यमें ॥४१२॥

बहुभाँतिके मुनिलिंग जो अथवा गृहस्थीलिंग जो।
ममता करे उनमें नहीं जाना 'समयके सार' को ॥४१३॥

व्यवहारनय, इन लिंग द्वयको मोक्षके पथमें कहे।
निश्चय नहीं माने कभी को लिंग मुक्तीपंथमें ॥४१४॥

यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ रु तत्त्वसे।
ठहरे अरथमें जीव जो वो, सौख्य उत्तम परिणमे ॥४१५॥

❀ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार समाप्त ❀

ज्ञानदर्पण

(कविवर शाह दीपचंदजी कृत)

आत्मरुचिका माहात्म्य

सवैया ३१ (मनहर)

परम अखंड बृहमंड विधि लखै न्यारी, करम विहंड करै महा भवबाधिनी । अमल अरूपी अज चेतन चमतकार, समैसार साधै अति अलख अराधिनी ।। गुणकौ निधान अमलान भगवान जाकौ, प्रतछ दिखावै जाकी महिमा अबाधिनी । एक चिदरूपकौं अरूप अनुसरै ऐसी, आतमीक रुचि है अनंतसुखसाधिनी ।।६।।

आत्मभाव भानेकी प्रेरणा ।

चेतनको अंक एक सदा निकलंक महा, करम कलंक जामैं कोऊ नहीं पाइए । निराकार रूप जो अनूप उपयोग जाके, ज्ञेय लखैं ज्ञेयाकार न्यारौ हू बताइए ।। वीरज अनंत सदा सुखकौ समुद्र आप, परम अनंत तामैं और गुण गाइए । ऐसो भगवान ज्ञानवान लखै घटहीमैं, ऐसो भाव भाय 'दीप' अमर कहाइए ।।७।।

चिद्रूपकी ज्ञानसाधना।

मेरो है अनूप चिद्रूप रूप मोहि माहिं, जाके लखें मिटै चिर महा भवबाधना। जाके दरसावमें विभाव सो विलाय जाय, जाकी रुचि कीए मधे अलख अराधना॥ जाकी परतीति रीति प्रीतिकरि पाई तातें, त्यागी जगजाल जेती भवजल उपाधना। अगम अपार सुखदाई सब संतनकौं, ऐसी 'दीप' साधै ज्ञानी सांची ज्ञानसाधना॥१३॥

आत्मसिद्धिका उपाय ज्ञानभावना है।

आप अवलोके बिना कछु नाहीं सिद्धि होत, कोटिक कलेशनिकी करौ बहुकरणी। क्रिया पर कीएं परभावनकी प्रापति है, मोक्षपंथ सधै नाहीं बंधहीकी धरणी॥ ज्ञान उपयोगमैं अखंड चिदानंद जाकी, सांची ज्ञानभावना है मोक्षअनुसरणी। अगम अपार गुणधारीको सुभाव साधै, 'दीप' संत जीवनकी दशा भवतरणी॥१४॥

स्वसंवेदन भाव ही सुखका निधान है।

वेदत सरूप पद परम अनूप लहै, गहै चिदभाव महा आप निज थान है। द्रव्यकौ प्रभाव अरु गुणकौ लखाव जामैं, परजायको उपावै ऐसो गुणवान है॥ व्यय उतपाद

ध्रुव सधै सब जाहीकरि, ताहीतैं उदोत लच्छ लच्छनको ज्ञान है। महिमा महत जाकी कहांलौं कहत कवि, स्वसंवेदभाव 'दीप' सुखकौ निधान है ॥१५॥

सिद्धके समान अपनी आत्मभावना करो।

चिदानंदराइ सुखसिंधु है अनादिहीकौ, निहचै निहारि ज्ञानदिष्टि धरि लीजियै। नय विवहारहीतैं करम कलंक पंक, जाके लागि आए तौऊ सुद्धता गहीजियै ॥ जैसी दिष्टि देखै सब ताकौ तैसौ फल होइ, सुध अवलोकै सुध उपयोगी हूजियै। 'दीप' कहैं देखियतु आतमसुभाव ऐसौ, सिद्धके समान ज्ञानभावना करीजियै ॥१६॥

आत्माकी शुद्ध भावना।

अचल अखंड ज्ञानजोति है सरूप जाकौ, चेतनानिधान जो अनंतगुणधारी है। उपयोग आतमीक अतुल अबाधित है, देखिए अनादि सिद्ध निहचै निहारी है। आनंदमहित कृतकृत्यता उद्योत होइ, जाही समैं ब्रह्मदिष्टि देत जो संभारी है। महिमा अपार सुखसिंधु ऐसो घट हीमें, देव भगवान लखि 'दीप' सुखकारी है ॥२०॥

ज्ञानीजीव संसारसमुद्रके तिरैया हैं।

पापरिपाक त्यागि तत्त्वकी संभार करै, हरै भ्रमभाव ज्ञानगुणके धरैया हैं। लखै आपा आपमाहिं रागदोष भाव नाहिं, शुद्ध उपयोग एक भावके धरैया हैं॥ थिरता सुरूपहीकी स्वसंवेदभावनमें, परम अतेंद्री सुख नीरके ढरैया हैं॥ देव भगवान सो सरूप लखैं घटहीमें, ऐसे ज्ञानवान भवसिंधुके तरैया हैं॥२१॥

आत्मानुभवी जीव ही सच्चे आत्मसुखके विलासी हैं।

लोकालोक लखिकैं सरूपमें सुथिर रहैं, विमल अखंड ज्ञानजोति परकासी हैं। निराकाररूप शुद्धभावके धरैया महा, सिद्ध भगवान एक सदा सुखरासी हैं॥ ऐसो निजरूप अवलोकत हैं निहचैमै, आप परतीति पाय जगसौं उदासी हैं। अनाकुल आतम अनूप रस वेदतु हैं, अनुभवी जीव आप सुखके विलासी हैं॥२२॥

अनादिहीका मेरा चिदानंदरूप है।

महा दुखदानी भवथितिके निदानी जातैं, होय ज्ञानहानी ऐसैं भावक चमैया हैं। अति ही विकारी पापपुंज

अधिकारी सदा, ऐसे रागदोष भाव तिनके दमैया हैं ॥ दया दान पूजा सील संजमादि सुभभाव, ए हू पर जानैं नाहिं इनमैं उम्हैया हैं । सुभासुभ रीति त्यागि जागे हैं सरूपमाहि, तेई ज्ञानवान चिदानंदके रमैया हैं ॥२५॥ देहपरिमाण गति गतिमाहिं भयौ, जीव, गुपत ह्वै रह्यौ तौऊ धारैं गुणवृंद है। करम कलंक तौऊ जामैं न करम कोऊ, रागदोष धारे हू विशुद्ध निरफंद है ॥ धारत सरीर तौऊ आतमा अमूरतीक, सुध पक्ष गहे एक सदा सुखकंद है । निहचै विचार देख्यौ सिद्ध सो सरूप 'दीप', मेरै तौ अनादिकौ सरूप चिदानंद है ॥२६॥ व्यवहारपक्ष परजाय धरि आयौ तौऊ, सुद्धनै विचारे निज परमैं न फसा है । ज्ञान उपयोग जाकी सकति मिटाई नाहिं, कहा भयौ जो तू भववासी होय वसा है ॥ द्वैतको विचार कीएं भासत संयोग पर, देखै पद एक पर ओर नहिं धसा है । निहचै विचारकैं सरुपमैं संभारि देखी, मेरी तौ अनादिहीकी चिदानंद दसा है ॥ २७ ॥ ज्ञानकी सकति महा गुपति भई है तौऊ, ज्ञेयको [illegible] जाकी महिमा अपार है । प्रतच्छ प्रतीतिमैं परोक्ष कहो कैसैं होइ, चिदानंद चेतनको चिह्न अधिकार

है ॥ परम अखंड पद पूरन विराजमान, तिहूँ लोकनाथ कोई निहचै विचार है । अखैपद यौं ही एक सासतो निधान मेरै, ज्ञान उपयोगमैं सरूप ताकी संभार है । २८॥ बहु विसतार करु कहाँलौं बखानियतु, यह भववास जहाँ भावकी असुद्धता। त्यागि गृहवास ह्वै उदास महाव्रत धारै, यह विपरीति जिन लिंगमाहिं सुद्धता॥ करमकी चेतनामें शुभ उपयोग सधै, ताहीमें ममत तकै तातैं नाहीं सुद्धता। वीतराग देव जाकौ यौंही उपदेश महा, यह मोखपद जहाँ भावकी विशुद्धता ॥ २९ ॥ ज्ञान उपयोग जोग जाकौ न वियोग हुवो, निहचैं निहारैं एक तिहुंलोकभूप है । चेतन अनंत चिह्न सासतौ विराजमान, गतिगति भम्यौ तौऊ अमल अनूपहै ॥ जैसैं मणिमाहिं कोऊ काचखंड मानै तौऊ, महिमा न जाय वामैं वाहीको सरूप है । ऐसे ही संभारिकै सरूपकौं विचारचो मैंने, अनादिकौ अखंड मेरौ चिदानंदरूप है ॥ ३० ॥

दोहा

चिदानंद आनंदमय सकति अनंत अपार ।
अपनौ पद ज्ञाता लखै, जामैं नहिं अवतार ॥३१॥

स्वसंवेदनज्ञानका माहात्म्य । सवैया ३१ सा (मनहर)

जामैं परवेदना उछेदना भई है महा, वेदै निज आतमपद परम प्रकासतौ । अनाकुल आतमीक अतुल अतेंद्री सुख, अमल

अनूप करै सुखकौ विलासतौ ॥ महिमा अपार जाकी कहांलौं वखानै कोय, जाहीके प्रभाव देव चिदानंद भासतौ। निहचै निहारिकै सरूपमैं सँभारि देख्यौ, स्वसंवेदज्ञान है हमारौ रूप सासतौ ॥३५॥ परम अनंत गुण चेतनाकौ पुंज महा, वेदतु है जाके बल ऐसौ गुणवान है। सासतौ अखंड एकद्रव्य उपादान सो तौ, ताहीकरि सधै यामैं और न विनान है ॥ जाहीके सुभावतैं अंनतसुख पाइयतु, जाहीकरि जान्यो जाय देव भगवान है। महिमा अनंत जाकी ज्ञानहीमैं भासतु है, स्वसंवेदज्ञान सो ही पदनिरवान है ॥३६॥

दोहा।

निज महिमामैं रत भए, भेदज्ञान उर धारि।
ते अनुभौ लहि आपकौ करमकलंक निवारि ॥ ४१ ॥

आत्माका स्वरूप।

मत्तगयन्द सवैया।

मेरो सरूप अनूप विराजत, मोहीमैं और न भासत आना। ज्ञान कलानिधि चेतन मूरति, एक अखंड महासुखथाना ॥ पूरण आप प्रताप लिए, जहँ जोग नहीं परके सब नाना। आप लखै अनुभाव भयौ अति, देव निरंजनकौ उर ज्ञाना ॥४२॥

आतमधनको निहारो ।

सवैया ३१ सा ।

अलख अरूपी अज आतम अमित तेज, एक अविकार सार पद त्रिभुवनमैं । चिर ले सुभाव जाकी समै हू समारयौ नाहिं, परपद आपौ मानि भम्यौ भववनमैं ॥ करम कलोलनिमै डोल्यौ है निशंक महा, पद पद प्रति रागी भयौ तन तनमैं । ऐसी चिरकालकी हू विपति विलाय जाय, नैक हू निहारि देखौ आप निज धनमैं ॥४६॥

ज्ञानशक्तिकी महिमा ।

सकति अनंत जामैं चेतना प्रधानरूप, ताहूमें प्रधान महा ज्ञायक सकति है । परम अखंड वृहमंडकी लखैया सो है, सूक्षम सुभाव यौं सहजहीकी गति है ॥ सुपरप्रकासनी सुभासनी सरूपकी है, सुखकी विलासिनी अपाररूप अति है । उपयोग साकार वन्यौ है सरूप जाकौ, ज्ञानकी सकति 'दीप' जानै सांची मति है ॥६२॥

द्रव्यका स्वरूप ।

गुण परजाय गहि बण्यौ है सरूप जाकौ, गुण परजाय विनु द्रव्य नाहिं पाईए । द्रव्यकौ सरूप गहि गुण परजाय भए,

गुण छतीस भंडार जे, गुण छतीस हैं जास ।
निज शरीर परजाय है, आचारज परकास ॥९८॥
पूरवांग ज्ञाता महा, अँगपूरव गुण जानि ।
जिह शरीर परजाय है, उपाध्याय सो मानि ॥९९॥
आठवीस गुणकौं धरै, आठवीस गुणलीन ।
निज सरीर परजाय है, महासाधु परवीन ॥१००॥

सामायिक कथन ।

सवैया ३१ सा ।

सुभ वा असुभ नाम जागैं समभाव करैं, भली बुरी थापनामैं समता करीजिऍ । चेतन अचेतन वा भलो बुरो द्रव्य देखि, धारिकैं विवेक तहाँ समता धरीजिऍ ॥ शोभन अशोभन जो ग्राम वनमाहिं सम, भले बुरे समै हूँ मैं समभाव कीजिएँ । भले बुरे भावनिमैं कीजे समभाव जहाँ, सामायिकभेद घट यह लखि लीजिएँ ॥१०३॥

सप्तभङ्गीका स्वरूप ।

है नाहीं है नाहिं वैनगोचर हू नाहीं यह, है नाहीं है नाहींमाहिं तिहुँ भेद कीजिए । स्वपरचतुष्कभेदसेती जहाँ साधियतु, सो ही नयभंगी जिनवाणीमैं कहीजिए ॥ स्यात-

पदसेती सात भंगकौ सरूप साधै, परमाण भंगीसौं अभंग साधि लीजिए। दोउसौं रहत सौ तौ दुरनय भंगी कही, यहै तीनभेद सातभंगीके लखीजिए ॥११६॥

अ।प ही आपरूप होता है।

स्वसंवेद ज्ञान अमलान परिणाम आप, आपनकौं दए आप आपहीसौं लए हैं। आप ही स्वरूप लाभ लह्यौ परणामनिमैं, आपहीमैं आपरूप ह्वैकैं थिर थए हैं॥ सासतो खिणक आप उपादान आप करै, करता करम क्रिया आप परणए हैं। महिमा अनंत महा आप धरै आपहीकी, आप अविनासी सिद्धरूप आप भए हैं ॥११७॥

चिदानंदका माहात्म्य।

चेतनाविलास जामैं आनंदनिवास नित, ज्ञान परकास धरें देव अविनासी है। चिदानंद एक तू ही सासतो निरंजन है, महा भयभंजन है सदा सुखरासी है॥ अचल अखंड शिवथानकौ रमैया तू है, कहा भयौ जो तो होय रह्यौ भववासी है। सिद्ध भगवान जैसौ गुणकौ निधान तू है, निहचै निहारि निधि आप परकासी है ॥१२२॥

दोहा ।

चिदलच्छन पहचानतैं, उपजै आनँद आप ।
अनुभौ सहज स्वरूपकौ, जामैं पुण्य न पाप ॥१२५॥

अनुभवकी महिमा ।

कवित्त इकतीसा ।

जगमैं अनादि यति जेते पद धारि आए, तेऊ सब तिरे लहि अनुभौ निधानकौं । याके विन पाए, मुनिहूसो पद निंदित है, यह सुखसिंधु दरसावै भगवानकौं ॥ नारकी हू निकसि जे तीर्थंकर पद पावैं, अनुभौ प्रभाव पहुंचावै निरवानकौं । अनुभौ अनंत गुणके धरै याहीकौं, तिहुंलोक पूजै हित जानि गुणवानकौं ॥ १२६ ॥ अनुभौ अखंड रस धाराधर जग्यौ जहाँ, तहाँ दुख दावानल रंच न रहतु है । करमनिवास भववास घटा भानवेकौं, परम प्रचंड पौन मुनिजन कहतु है ॥ याकौ रस पीएँ फिरि काहूकी न इच्छा होय, यह सुखदानी सब जगमैं महतु है । आनंदकौ धाम अभिराम यह संतनकौ, याहीके धरैया पद सासतौ लहतु है ॥१२७॥ आतम-गवेषी संत याहीके धरैया जे हैं, आपमें मगन करैं आन ना उपासना । निकलप जहाँ कोऊ नहीं भासतु है, याके रस भीने त्यागी सबै आन वासना ॥

चिदानंद देवके अनंतगुण जेते कहे, जिनकी सकति सब ताहिमाहिं भासना। व्यय उतपाद ध्रुव द्रव्य गुण परजाय, महिमा अनंत एक अनुभौविलासना ॥१२८॥

दोहा।

गुण अनंतके रस सबै, अनुभौ रसके माहिं।
यातैं अनुभौ सारिखौ, और दूसरो नाहिं ॥१२९॥

जगतकी जेती विद्या भासी कररेखावत, कोटिक जुगांतर जो महा तप कीने हैं। अनुभौ अखंड रस उरमैं न आयौ जो तौ, सिवपद पावै नाहिं पररस भीने हैं॥ आप अवलोकनिमैं आप सुख पाईयतु, पर उरझार होय परपद चीने हैं। तातैं तिहुँलोकपूज्य अनुभौ है आतमाकौ, अनुभवी अनुभौ अनूप रस लीने हैं ॥१३०॥

उद्यममें ही सिद्धि है।

उद्यमके डारे कहूँ साध्यसिद्धि कहीं नाहिं, होनहार सार जाको उद्यम ही द्वार है। उद्यम उदार दुखदोषको हरनहार, उद्यममैं सिद्धि वह उद्यम ही सार है॥ उद्यम विना न कहूँ भावी भली होनहार, उद्यमकौं साधि भव्य गए भवपार है। उद्यमके उद्यमी कहाए भवि जीव तातैं, उद्यम ही कीजे कीयौ चाहै जो उद्धार है ॥१४१॥

चिदानंदस्वरूपमें ही मगन रहो।

तिहुँकालमाहिं जे जे शिवपंथ साधतु हैं, रहत उपाधि आप ज्ञान जोतिधारी हैं। देखैं चिनमूरतिकौं आनंद अपार होत, अविनासी सुधारस पीवैं अविकारी हैं॥ चेतना विलासकौ प्रकाश सो ही सार जान्यौं, अनुभौ रसिक ह्वै सरूपके सँभारी हैं। कहै 'दीपचंद' चिदानंदकौं लखत सदा, ऐसैं उपयोगी आपपद अनुसारी हैं॥१४५॥ अलख अखंड जोति ज्ञानकौ उद्योत लीएं, प्रगट प्रकास जाकौ कैसे ह्वै छिपाईए। दरसन-ज्ञानधारी अविकारी आतमा है, ताहि अवलोकिकैं अनंत सुख पाईए॥ सिवपुरी कारण निवारण सकल दोष, ऐसैं भाव भएँ भवसिंधु तिरि जाईए। चिदानंद देव देखि वाहीमैं मगन हूजे, यातैं और भाव कोउ ठौर न अनाईए॥१४६॥

दोहा।

गुण अनंत के रस सबै, अनुभौ रसके माहिं।
यातैं अनुभौ सारिखौ, और दूसरो नाहिं॥१५३॥
पंच परमगुरु जे भए, जे ह्वैंगे जगमाहिं।
ते अनुभौ परसादतैं, यामैं धौखौ नाहिं॥१५४॥

आत्माकी महिमा।

सवैया ३१ सा।

चेतन अनादि नव तत्त्वमैं गुपत भयौ, सुद्ध पच्छ देखैं

स्वसुभावरूप आप है। कनक अनेक वान भेदकौं धरत तोऊ अपनैं सुभावमैं न दूसरो मिलाप है॥ भेदभाव धरैंहू अभेदरूप आतमा है, अनुभौ किएतैं मिटै भवदुखताप है। जानत विशेष यौ असेर भाव भासतु है, चिदानंद देवमैं न कोऊ पुण्य पाप है॥१८९॥ फटिकके हेठि जब जैसौ रंग दीजियत, तैसौ प्रतिभासै वामैं वाहीकौसो रंग है। अपनौ सुभाव सुद्ध उज्जल विराजमान, ताकौं नहीं तजैं और गहै नहिं संग है॥ तैसै यह आतमाहू परमाहिं परही सौ,- भासैं पै सदैव याकौ चिदानंद अंग है। याहीतैं अखंड पद पावै जगमाहिं जेई, स्यादवादनय गहै सदा सरवंग है॥१९०॥

❀ इतिसंपूर्ण ❀

❀ ब्रह्मविलास ❀

(भैया भगवतीदासजी कृत)

पुण्यपचीसिका

कवित्त।

ज्ञानमें है ध्यानमें है वचन प्रमाणमें है, अपने सुथा-नमें है ताहि पहचानि रे। उपजै न उपजत मूए न मरत जोई, उपजन मरन व्यौहार ताहि मानि रे॥ रावसो न रंकसो है पानीसो न पंकसो है, अति ही अटंकसो है ताहि

नीके जानिरे। आपनो प्रकाश करै अटकर्म नाश करै, ऐसी जाकी रीति "भैया" ताहि उर आनिरे ॥ १२ ॥

मात्रिक कवित्त।

आतम-सुवा भरममहिं भूल्यो कर्म-नलिनपै बैठो आय। विषयस्वादविरम्यो इह थानक, लटक्यौं तरैं ऊर्ध्व भये पाँय ॥ पकरै मोहमगन चुङ्गलसों, कहै कर्मसों नाहिं वसाय। देखहु कि नहिं सुविचार भविक जन, जगत जीव यह धरै स्वभाय ॥ २० ॥

कवित्त।

जो पै चारों वेद पढ़े रचि पचि रीझ रीझ, पंडितकी कलामें प्रवीन तू कहायो है। धरम व्योहार ग्रन्थ ताहूके अनेक भेद, ताके पढ़े निपुण प्रसिद्ध तोहि गायो है॥ आतमके तत्त्वको निमित्त कहूँ रंच पायो, तौलों तोहि ग्रन्थनिमें ऐसे के बतायो है। जैसें रस व्यञ्जनमें करछी फिरै सदीव, मूढतास्वभावसों न स्वाद कछु पायो है॥२१॥

शत अष्टोत्तरी।

कर्मको करैया सो तौ जानै नाहिं कैसे कर्म, भरममें अनादिहीको करमैं करतु है। कर्मको जनैया भैया सो तौ कर्म करै नाहिं, धर्ममाहिं तिहूँ काल धरमें धरतु है॥

दुहूंनकी जाति पांति लच्छन स्वभाव भिन्न, कबहूं न एकमेक होइ विचरतु है। जा दिनातें ऐसी दृष्टि अन्तर दिखाई दई, ता दिनातें आपु लखि आपु ही तरतु है ॥२२॥

सवैया।

जीव अकर्ता कह्यो परको, परको करता पर ही परवान्यो। ज्ञाननिधान सदा यह चेतन, ज्ञान करै न करै कछु आन्यो ॥ ज्यों जग दूध दही घृत तक्रकी, शक्ति धरै तिहुं काल बखान्यो। कोऊ प्रवीन लखै दृगसेति सु, भिन्न रहै वपुसौं लपटान्यो ॥२३॥

मात्रिक कवित्त।

जाके घट समकित उपजत है, सो तौ करत हंसकी रीत। क्षीर गहत छाँड़त जलको सँग, वाके कुलकी यहै प्रतीत ॥ कोटि उपाय करो कोउ भेदसों, क्षीर गहै जल नेकु न पीत। तैसें सम्यक्त्वंत गहै गुण, घट घट मध्य एक नवनीत ॥९२॥ सिद्धसमान चिदानंद जानिके, थापत है घटके उर बीच। वाके गुण सब वाहि लगावत, और गुणहि सब जानत कीच ॥ ज्ञान अनंत विचारत अंतर, राखत है जियके उर सींच। ऐसें समकित शुद्ध करतु है, तिनतें होवत मोक्ष नगीच ॥९३॥

चेतनकर्मचरित्र।

चौपाई।

अविचल धाम वसे शिव भूप। अष्ट गुणातम सिद्ध स्वरूप ॥ चरमदेह परमित परदेश। किंचित ऊनो थित

विन भेश ॥२८४॥ पुरुषाकार निरंजन नाम । कालअनंतहि ध्रुव विश्राम ॥ भव कदाच न कबहु होय । सुख अनंत विलसै नित सोय ॥२८५॥ लोकालोक प्रगट सब वेद । षट द्रव्यगुण पर्याय सु भेद ॥ ज्ञेयाकार सकल प्रतिभास । सहजहिं स्वच्छ ज्ञान जिहँ पास ॥२८६॥ षट्गुणी हानि वृद्धि परनमै । चेतन शुद्ध स्वभावहि रमैं ॥ उत्पत व्यय ध्रुव लक्षण जास । इहविधि थिते सबै शिवरास ॥२८७॥ जगत जीत जिहि विरुद प्रमान । पायो शिवगढ रतननिधान ॥ गुण अनंत कहिये कत नाम । इहविध तिष्ठहि आतमराम ॥२८८॥ जिनप्रतिमा जगमें जहँ होय । सिद्ध निसानी देखहु सोय ॥ सिद्ध समान निहारहु आप । जातै मिटहि सकल संताप ॥२८९॥ निश्चयदृष्टि देख घट मांहि । सिद्ध रु तोमहिं अन्तर नाहिं ॥ ये सब कर्म होंय जड़ अंग । तू 'भैया' चेतन सर्वंग ॥२९०॥ ज्ञान दरश चारित भंडार । तू शिवनायक तू शिवसार ॥ तू सब कर्म-जीत शिव होय । तेरी महिमा वरनें कोय ॥२९१॥

दोहा ।

गुण अनंत या हंसके, किंहविधि कहै बखान ।
थोरेमें कछु बरनये, 'भविक' लेहु पहिचान ॥२९२॥

फुटकर कविता ।

॥ कवित्त ॥

आतमा अनूपम है दीसै रागद्वेष विना, देखो भवि-जीवों ! तुम आपमें निहारकें । कर्मको न अंश कोऊ भर्मको न वंश कोऊ, जाकी शुद्धताईमें न और आप टारकें ॥ जैसो शिवखेत बसै तैसो ब्रह्म यहाँ लसै, यहाँ वहाँ फेर नाहीं देखिये विचारकें । जोई गुण सिद्धमाहिं सोई गुण ब्रह्ममांहि, सिद्धब्रह्म फेर नाहिं निश्चै निर-धारकें ॥ १६ ॥

त्र्यक्षरी दोहा ।

चेतन चेतो चेतना, तो चेते चित चैन ।
तातैं चेतन चेत तू, चेतनता जित नैन ॥ २० ॥

चतुरक्षरी दोहा ।

अध्यातममें आतमा, मम अध्यातम धाम ।
आतम अध्यातम मतै धू मम आतम ताम ॥ २१ ॥

परमार्थपदपंक्ति ।

२ राग देव गंधार ।

अब मैं छाड्यो पर जंजाल ॥ अब मैं० ॥ टेक ॥ लग्यो अनादि मोह भ्रम भारी, तज्यो ताहि तत्काल ॥ अब मैं० ॥ १ ॥ आतम रस चाख्यो मैं अद्भुत, पायो परम दयाल

॥ अब मैं० ॥ २ ॥ सिद्ध समान शुद्ध गुण राजत, सोम-रूप सुविशाल ॥ अब मैं० ॥ ३ ॥

३ । राग विलावल ।

या घटमें परमात्मा चिन्मूरति भइया । ताहि विलोकि सुदृष्टिसों पंडित परखैया ॥ या घटमें० ॥ १ ॥ ज्ञानस्वरूप सुधामयी, भवसिंधु तरैया । तिहूँ लोकमें प्रगट है, जाकी ठकुरैया ॥ या घटमें० ॥ २ ॥ आप तरै तारैं परहिं, जैसें जल नइया । केवल शुद्ध स्वभाव है, समुझै समुझैया ॥ या घटमें० ॥३॥ देव वहै गुरु है वहै, शिव वहै वसइया । त्रिभुवन मुकुट वहै सदा, चेतौ चितवइया ॥या घटमें०॥४॥

७ । राग काफी ।

जाको मन लागौ निजरूपहिं, ताहि और क्यों भावै । ज्यों अटूट धन लहै रंक कहुँ, और न काहु दिखावै ॥ जाको० ॥ १ ॥ गुण अनंत प्रगटै जिह थानक, तापटतर को भावै । इहिविधि हंस सकल सुखसागर, आपुहि आप लखावै ॥ जाको० ॥ २ ॥

८ । राग सारंग ।

जगतगुरु कब निज आतम ध्याऊँ ॥ जगत० ॥ टेक ॥ नग्न दिगंबरमुद्रा धरिकैं कब निज आतम ध्याऊँ । ऐसी लब्धि होइ कब मोको, हौ वा छिनको पाऊँ ॥जगत०॥१॥

कब घर त्याग होऊँ वनवासी, परमपुरुष लौ लाऊँ। रहों अडोल जोड़ पद्मासन, करम कलंक खपाऊँ॥ जगत० ॥ २ ॥ केवलज्ञान प्रगट कर अपनों, लोकालोक लखाऊँ। जन्म जरा दुख देय जलांजलि, हों कब सिद्ध कहाऊँ ॥ जगत० ॥ ३ ॥ सुख अनंत विलसों तिहँ थानक, काल अनंत गमाऊँ। "मानसिंह[1]" महिमा निज प्रगटै, बहुर न भवमें आऊँ ॥ जगत० ॥ ४ ॥

२२। राग मारू।

जो जो देख्यो वीतरागने सो सो होसी वीरा रे। बिन देख्यो होसी नहिं क्योंही, काहे होत अधीरा रे ॥ जो० ॥ १ ॥ समयो एक बढ़ै नहिं घटसी, जो सुख दुखकी पीरा रे। तू क्यों सोच करै मन कूड़ो, होय वज्र ज्यों हीरा रे ॥ जो० ॥ २ ॥ लगै न तीर कमान वान कहुं, मार सकै नहिं मीरा रे। तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनंत तो तीरा रे ॥ जो० ॥ ३ ॥ निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभुको, जो टारै भवभीरा रे। 'भैया' चेत धरम निज अपनो, जो तारै भव नीरा रे ॥ जो० ॥ ४ ॥

१. मानसिह भैया भगवतीदासजीका परम मित्र था।

गुरु शिष्य प्रश्नोत्तर ।

दोहा ।

कहुँ दिव्यध्वनि शिष्य सुनि, आयो गुरुके पास ।
पूज्य सुनहु इक वीनती, अचरजकी अरदास ॥ १ ॥
आज अचंभौ मैं सुन्यो, एक नगरके बीच ।
राजा रिपुमें छिप रह्यो, राज करैं सब नीच ॥ २ ॥
नीचसु राज्य करै जहाँ, तहाँ भूप बलहीन ।
अपनो जोर चलै नहीं, उनहीके आधीन ॥ ३ ॥
वे याको मानें नहीं, यह वासों रसलीन ।
सत्तर कोड़ाकोड़िलौं, बंदीखानें दीन ॥ ४ ॥
बंदीवान समान नृप, कर राख्यो उहि ठौर ।
वाको जोर चलै नहीं, उनहींके सिरमौर ॥ ५ ॥
वे जो आज्ञा देत हैं, सोइ करैं यह काम ।
आप न जानें भूप मैं, ऐसो है चित भ्राम ॥ ६ ॥
उनकी चेरीसों रचे, तजि निज नारि निधान ।
कहो स्वामि सो कौन वह, जिनको ऐसो ज्ञान ॥ ७ ॥
कौन देश, राजा कवन, को रिपु, को कुल नारि ।
को दासी कहु कृपाकरि, याको भेद विचारि ॥ ८ ॥

गुरुरुवाच[1] ।

गुरु बोले समकित विना, कोऊ पावै नाहिं । सबै रिद्धि इक ठौर है, काया नगरीमाहिं ॥९॥ काया नगरी जीव नृप, अष्ट कर्म अति जोर । भाव अज्ञानदासी रचे, पगे विषयकी ओर ॥१०॥ विषयबुद्धि जहाँ है नहीं, तहाँ सुमतिकी चाह । जो सुमती सो कुल त्रिया, इहि याको निरवाह ॥११॥ आप पराये वश परे, आपा डारयो खोय । आपा आपु न जानहीं, कहो आपु क्यों होय ॥१२॥ आप न जानें आपको, कौन बतावनहार । तबहिं शिष्य समकित लह्यो, जान्यों सबहि विचार ॥१३॥ इहि गुरु शिष्य चतुर्दशी, सुनहु सबै मन लाय । कहै दास भगवंतको, समताके घर आय ॥१४॥

इति गुरुशिष्यचतुर्दशी ।

मिथ्यात्वविध्वंसनचतुर्दशी ।

कवित्त मनहर ।

नेकु राग द्वेष जीत भये वीतराग तुम, तीनलोक पूज्यपद येहि त्याग पायो है । यह तौ अनूठी बात तुम ही बताय देहु, जानी हम अबहीं सुचित्त ललचायो है ॥ तनिकहू कष्ट नाहिं पाइये अनंत सुख, अपने सहजमाहिं आप ठहरायो है ।

---

1 गुरू जी ने उत्तर दिया ।

यामें कहा लागत है, परसंग त्यागत ही, जारि दीजे भ्रम शुद्ध आपुही कहायो है ॥२॥ वीतराग देव सो तो बसत त्रिदेहक्षेत्र, सिद्ध जो कहावै शिव लोकमध्य लहिये । आचारज उवझाय दुहीमें न कोऊ यहाँ, साधु जो बताये सो तो दक्षिणमें कहिये ॥ श्रावक पुनीत सोऊ विद्यमान यहाँ नाहिं, सम्यकके संत कोऊ जीव सरदहिये । शास्त्रकी सरधा तामें बुद्धि अति तुच्छ रही, पंचम समैमें कहो कैसे पंथ गहिये ॥३॥ तू ही वीतराग देव राग द्वेष टारि देख, तूही तो कहावै सिद्ध अष्ट कर्म नाशतैं । तू ही तो आचारज है आचरै जु पंचाचार, तूही उवझाय जिनवाणीके प्रकाशतैं ॥ परको ममत्व त्याग तु ही है सो ऋषिराय, श्रावक पुनीत व्रत एकादश भासतें । सम्यक स्वभाव तेरो शास्त्र पुनि तेरी वाणी, तू ही भैया ज्ञानी निज रूपके निवासतें ॥४॥

कवित्त-मनहरन ।

मोहके निवारें राग द्वेषहू निवारे जाहिं, राग द्वेष टारें मोह नेकहू न पाइये । कर्मकी उपाधिके निवारिवेको पेंच यहै, जड़के उखारें वृक्ष कैसे ठहराइये ॥ डार पात फल फूल सबै कुम्हलाय जाय, कर्मनके वृक्षनको ऐसे के नसाइये । तबै होय चिदानंद प्रगट प्रकाशरूप, विलसै अनंत सुख सिद्धमें कहाइये ॥८॥ जबै चिदानंद निज रूपको संभार देखे, कौन

हम कौन कर्म कहाँको मिलाप है। रागद्वेष भ्रमने अनादिके भ्रमाये हमें, तातैं हम भूल परे लाग्यो पुण्य पाप है॥ रागद्वेष भ्रम ये सुभाव तो हमारे नाहिं, हम तो अनंत ज्ञान, भानसो प्रताप है। जैसो शिव खेत बसै तैसो ब्रह्म यहाँ लसै, तिहूँ काल शुद्ध रूप "भैया" निज आप है ॥९॥ जीव तो अकेलो है त्रिकाल तीनों लोकमध्य, ज्ञान पुंज प्राण जाके चेतना सुभाव है। असंख्यात परदेश पूरित प्रमान बन्यो, अपने सहजमाहिं आप ठहराव है॥ राग द्वेष मोह तो सुभावमें न याके कहूँ, यह तो विभाव पर संगति मिलाव है। आतम सुभावसों विभावसों अतीत सदा, चिदानंद चेतवेको ऐसे में उपाव है॥१०॥ मिथ्या भाव जौलों तौलों भ्रमसों न नातो टूटै, मिथ्याभाव जौलों तौलों कर्मसों न छूटिये। मिथ्याभाव जौलों तौलों सम्यक न ज्ञान होय, मिथ्या भाव जौलों तौलों अरि नाहिं कूटिये॥ मिथ्याभाव जौलों तौलों मोक्षको अभाव रहै, मिथ्याभाव जौलों तौलों परसंग जूटिये। मिथ्याको विनाश होत प्रगटै प्रकाश जोत, सूधौ मोक्ष पंथ सूधे नेकु न अहूटिये॥ १२॥

जिनगुणमाला । दोहा ।

ज्ञान अनँतमय आतमा, दर्शन जासु अनंत।
सुख अरु वीर्य अनंत बल, सौ वंदौं भगवंत ॥१६॥

सिज्झाय । कास्वा

जहँ कर्मके वंश, सो अंश नहिं लसै, सिद्ध सम आतमा ब्रह्म ज्ञानी । मोह मिथ्यात्वमद, पान दूरहिं नशै, राग अरु द्वेषहू जास थानी ॥१॥ नहिं क्रोध नहिं मान थान भासैं कहूँ, माय नहिं लोभ जहँ दूर दीखे । चहूँ प्रकृति परद्रव्यकी सर्वमानी भली, सिद्ध सम आतमा ब्रह्म ज्ञानी ॥२॥ जामें ज्ञान अरु दर्श चारित गुण राजही, शकति अनंत सबै ध्रुव छाजही । परम पद पेख निज राजधानी, सिद्ध सम आतमा ब्रह्म ज्ञानी ॥ ३ ॥ अतीत अनागत वर्त्तमानहिं जिते, दरब गुण परजय सर्व भासहिं तिते । शुद्ध नय सिद्ध जिम जानि आनी, सिद्ध सम आतमा ब्रह्म ज्ञानी ॥ ४ ॥

गुणमजरी । चौपाई ।

प्रथम कहूँ निज दया बखान । जिइमें सब आतमरस जान ॥ शुद्धस्वरूप विचारहिं चित्त । सिद्धसमान निहारहिं नित्त ॥८॥ थिरता धर आतम पदमाहिं । विषय-सुखनकी वांछा नाहिं । रहै सदा निजरसमें लीन । सो चेतन निज दया प्रवीन ॥९॥ समताभाव धरहि उरमाहिं । वैर भाव काहूसों नाहिं ॥ निज समान जाने सबहंस । क्रोधादिक तब करै विध्वंस ॥२९॥ उत्तम क्षमा धरहि उर आन । सुखदुख दुहुमें एकहि बान[1] ॥ जो कोउ क्रोध करै इह आय । तबहू याके समता

१. आदत ।

भाय ॥३०॥ उपजै क्रोध कषाय कदाच। तब तहँ रहै आपसों राच ॥ सो समतादिक लच्छन जान। थोरेमें कछु कह्यो बखान। ३१॥ अब कहुँ हेय उपादेय भेद। जाके लखे मिटै सब खेद ॥ प्रथमहिं हेय कहतहूँ सोय। जामें त्याग कर्मको होय ॥४९॥ पुद्गल त्याग योग्य सब तोहि। इनकी संगति मगन न होहि ॥ ऐसें जो वरतै परिणाम। हेय कहत है ताको नाम ॥५०॥ अब कहुं उपादेयकी बात। जामें ग्रहण अर्थ विख्यात ॥ निज स्वरूप जो आतमराम। चिदानंद है ताको नाम ॥५१॥ ज्ञान दरस चारित भंडार। परमधरम धन धारन हार ॥ निराकार निरभय निररूप। सो अविनाशी ब्रह्म स्वरूप ॥५२॥ ताकी महिमा जानहिं संत। जाकी सकति अपार अनंत ॥ ताहि उपादेय जानहिं जोय। सम्यकदृष्टी कहिये सोय ॥५३॥ निज स्वरूप जो ग्रहण करेय। परसत्ता सब त्यागे देय ॥ ऐसे भाव धरहि जो कोय। हेय उपादेय कहिये सोय ॥५४॥ अब धीरज गुण कहूँ बखान। जिनके तें समदृष्टी जान ॥ धर्मविषै जो धीरज धरै। कष्ट देख सरधा नहिं टरै ॥५५॥ सहै उपसर्ग अनेक प्रकार। सबहू धीरज ह्वै निरधार ॥ मिथ्यामत जो देखै कोय। चमत्कार तामें बहु होय ॥५६॥ तबहू ताहि लखहि अज्ञान। सो धीरजधर सम्यकवान। अब कहुँ हरष गुणहिं समुझाय। समदृष्टी यह सहज सुभाय ॥५७॥ निज

स्वरूप निरखहिं जो कोय । ताके हर्ष महा उर होय ।। सुख अनंतको पायो ईस । तिहँ निरखै हरषै निसदीस ।।५८।। छहों द्रव्यके गुण परजाय । जाने जिन आगम सुपसाय[1] ।। निज निरखै सु विनाशी नाहिं । यातैं हर्ष महा उर माहिं ।।५९।। तीर्थंकर देवनके देव । ताकी प्रभुताके सब भेव ।। अनँतचतुष्टय आदि विचार । हर्षै ते निज माहिं निहार ।।६०।। जन्म जरादिक दुख बहु जान । तिहतैं भिन्न अपनपो मान ।। सिद्धसमान विचारहि चित्त । तातैं हर्ष महा उर नित्त ।।६१।। जाके हृदय भयो परकाश । ताकी कुमति गई सब नाश । जाके घट समकित परकाश । ताके ये गुन होंहि निवास ।।६८।। सम्यग्दर्श लहै जो जीव । सो शिवरूपी कह्यो सदीव । तातैं सम्यकज्ञान प्रमान । जातें शिवफल होय निदान ।।६९।।

सिद्ध चतुर्दशी । दोहा ।

परमदेव परणाम -कर, परम सुगुरु आराध ।
परम ब्रह्म महिमा कहूँ, परम धरम गुण साध ।। १ ।।

कवित्त ।

आतम अनोपम है दीसै राग द्वेष विना, देखो भव्य-जीव ! तुम आपमें निहारकैं । कर्मको न अंश कोऊ भर्मको न वंश कोऊ, जाकी शुद्धताई मैं न और आप टारकैं ।।

---

१. सुप्रसाद ।

जैसो शिव खेत बसै तेसो ब्रह्म इहाँ लसै, इहाँ उहाँ फेर नाहि देखिये विचारकैं। जेई गुण सिद्धमाहि तेई गुण ब्रह्मपांहि सिद्ध ब्रह्म फेर नाहिं निश्चय निरधारकै ॥ २ ॥
सिद्धकी समान है विराजमान चिदानंद ताहीको निहार निजरूप मान लीजिये। कर्मको कलंक अंग पंक ज्यों पखार हरयो, धार निजरूप परभाव त्याग दीजिये ॥ थिरताके सुखको अभ्यास कीजे रैन दिना, अनुभोके रसको सुधार भले पीजिये। ज्ञानको प्रकाश भास मित्रकी समान दीसै, चित्र ज्यों निहार चित ध्यान ऐसो कीजिये ॥ ३ ॥
भावकर्म नाम रागद्वेषको बखान्यो जिन, जाको करतार जीव भर्म संग मानिये। द्रव्यकर्म नाम अष्टकर्मको शरीर कह्यो, ज्ञानावर्णी आदि सब भेद भले जानिये ॥ नोकरम संज्ञातैं शरीर तीन पावत है, औदारिक वैक्रीय आहारक प्रमानिये। अंतरालसमै जो अहार विना रहै जीव, नो करम तहाँ नाहिं याहीतैं बखानिये ॥ ४ ॥

सवैया।

लोपहि कर्म हरै दुख भर्म सुधर्म सदा निजरूप निहारो। ज्ञानप्रकाश भयो अघनाश, मिथ्यात्व महातम मोह न हारो ॥ चेतनरूप लखो निजमूरत, सूरत सिद्धसमान विचारो। ज्ञान अनंत वहै भगवंत, वसै आंरे पंकतिसों नित न्यारो ॥ ५ ॥

छप्पय छन्द ।

त्रिविधि कर्मतें भिन्न, भिन्न पररूप परसतैं ।
त्रिविधि जगतके चिह्न, लखै निज ज्ञान दरसतैं ॥
वसै आप थलमाहिं, सिद्ध समसिद्ध विराजहि ।
प्रगटहि परम स्वरूप, ताहि उपमा सब छाजहि ॥
इह विधि अनेक गुण ब्रह्ममहिं, चेतनता निर्मल लसैं ।
तस पद त्रिकाल वंदत 'भविक'; शुद्ध स्वभावहि नित वसैं ॥६॥

अष्टकर्मतैं रहित, सहित निज ज्ञान प्राण धर ।
चिदानंद भगवान, वसत तिहुँ लोक शीशपर ॥
विलसत सुखजु अनंत, संत ताको नित ध्यावहि ।
वेदहि ताहि समान, आपु घटमाहिं लखावहि ॥
इम ध्यान करहि निर्मल निरखि, गुण अनंत प्रगटहिं सरव ।
तस पद त्रिकाल वंदत 'भविक', शुद्ध सिद्ध आतम दरव ॥७॥

ज्ञान उदित गुण उदित, मुदित भई कर्म कषायें ।
प्रगटत पर्म स्वरूप, ताहि निज लेत लखायें ॥
देत परिग्रह त्याग, हेत निहचै निज मानत ।
जानत सिद्ध समान, ताहि उर अंतर ठानत ॥
सो अविनाशी अविचल दरब, सर्व ज्ञेय ज्ञायक परम ।
निर्मल विशुद्ध शास्वत सुथिर, चिदानंद चेतन धरम ॥८॥

कवित्त ।

अरे मतवारे जीव जिन मतवारे होहु, जिनमत आन गहो जिनमत छोरकैं । धरम न ध्यान गहो धरमन ध्यान गहो, धरम स्वभाव लहो, शकति सुफोरकैं । परसों सनेह करो, परम सनेह करो, प्रगट गुण गेह करो मोहदल मोरकैं । अष्टादश दोष हरो, अष्ट कर्म नाश करो, अष्टगुण भास करो, कहूँ कर जोरकैं ॥ ९ ॥ वर्णमें न ज्ञान नहि ज्ञान रस पंचनमें, फर्समें न ज्ञान नहीं ज्ञान कहूँ गंधमें । रूपमें न ज्ञान नहीं ज्ञान कहूँ ग्रंथनमें, शब्दमें न ज्ञान नहीं ज्ञान कर्म बंधमें ॥ इनतैं अतीत कोऊ आतम स्वभाव लसै, तहाँ बसै ज्ञान शुद्ध चेतनाके खंधमें । ऐसो वीतरागदेव कह्यो है प्रकाशभेव, ज्ञानवंत पावै ताहि मूढ़ धावै धंधमें ॥ १० ॥ वीतराग वैन सो तो ऐनसे विराजत है, जाके परकाश निजभास पर लहिये । सूझैं षट दर्व सर्व गुण परजाय भेद, देव गुरु ग्रंथ पंथ मत्य उर गहिये ॥ करमको नाश जामें आतम अभ्यास कह्यो, ध्यानकी हुतास[1] अरिपंकतिको दहिये । खोल दृग देखि रूप अहो अविनाशी भूप, सिद्धकी समान सब तोपैं रिद्ध कहिये ॥ ११ ॥ रागकी जु रीतसु तो बडी विपरीत कही, दोषकी जु बात सु तो महादुख दात है इनही की संगतिसों ।

१. अग्नि ।

कर्मबंध करै जीव, इनही की संगतिसों नरक निपात है ॥ इनहीकी संगतिसों वसिये निगोद बीच, जाके दुखदाहको न थाह कह्यौ जात है। ये ही जगजालके फिरावनको बड़े भूप, इनहीके त्यागे भवभ्रम न विलात है ॥१२॥

मात्रिक कवित्त।

असी चार आसन मुनिवरके, तामें मुक्ति होनके दोय।
पद्मासन खड्गासन कहिये, इन विन मुक्ति होय नहिं कोय ॥
परम दिगम्बर निजरस लीनो, ज्ञान दरश थिरतामय होय।
अष्ट कर्मको थान भ्रष्टकर, शिवसंपति विलसत हैं सोय ॥१३

दोहा।

जैसो शिव खेतहि वसै, तैसो या तनमाहिं।
निश्चयदृष्टि निहारतैं, फेर रंच कहुँ नाहिं ॥१४॥

❀ इति सिद्धचतुर्दशी ❀

सुबुद्धिचौवीसी।

छप्पय।

जो जानहिं सो जीव, जीव विन और न जानैं।
जो मानहिं सो जीव, जीव विन और न मानैं ॥
जो देखहि सो जीव, जीव विन और न देखै।
जो जीवहि सो जीव जीव गुण यहै विसेखै ॥

महिमा निधान अनुभूत युत, गुण अनंत निर्मल लसै।
सो जीव द्रव्य पेखंत भवि, सिद्ध खेत सहजहिं बसै ॥१४॥

कवित्त।

सुबुधि प्रकाशमें सु आतम विलासमें सु, थिरता अभ्यासमें सुज्ञानको निवास है। ऊरधकी रीतिमें जिनेशकी प्रतीतिमें सु, कर्मनकी जीतमें अनेक सुख भास है॥ चिदानंद ध्यावत ही निजपद पावत ही, द्रव्यके लखावत ही देख्यो सब पास है। वीतराग वानी कहै सदा ब्रह्म ऐसे भास, सुखमें सदा निवास पूरन प्रकाश है॥२४॥

श्रीशिवपंथ पचीसिका। चौपाई।

जब लों जिय इह थानक माहिं। तब लों जिय जग वासि कहांहिं॥ इनहि उलंघि मुकतिमें जांहिं। काल अनंतहि तहाँ रहाहिं॥२३॥ सुख अनंत विलसहिं तिहँ थान। इहि भाख्यो है श्री भगवान॥ भैया सिद्ध समान निहार। निजघट माहिं वहै पद धार॥२४॥

अनित्य पचीसिका। कवित्त।

पंच वर्ण वसनसों पंच वर्ण धूलि शाल, मान थंभ सत्य चैन देखे मान नाश है। दयाको निवास सो ही वेदीको प्रकाश लशै, रूपको जु कोट सु तौ नो करम भास है॥

द्रव्य कर्म नाम हेम कोट मध्य राजत है, रतनको कोट भाव कर्मको विलास है। ताके मध्य चेतन सु आप जगदीस लसै, समोसर्न ज्ञानवान देखै निज पास है ॥ ५ ॥

सुपंथकुपंथपचीसिका । कवित्त ।

तेरो[1] नाम कल्पवृच्छ इच्छाको न राखै उर, तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है। तेरो नाम चिन्तामन चिन्ताको न राखै पास, तेरो नाम पारस सो दारिद डरत है ॥ तेरो नाम अमृत पियेतैं जरा रोग जाय, तेरो नाम सुखमूल दुःखको दरत है। तेरो नाम वीतराग धरै उर वीतरागा, भव्य तोहि पाय भवसागर तरत है ॥२॥ नदीके निहारतहि आतमा निहारयो जाय, जो पै कोउ ज्ञानवंत देखै दृष्टि धरकें। एक नीर नयो आय एक आगें चल्यो जाय, इहां थिर ठहराय रहयो पूर भरकें ॥ ताहूमें कलोल कई भाँतिकी तरंग उठै, विनसै पुनि ताहूमें अनेकधा उछरिकें। तैसें इह आतममें कई परिणाम होय, ऐसे परवान है अनंत शक्ति करकें ॥१२॥

सवैया इकतुकिया ।

निशद्यौस[2] यहै मन लाग्यो रहै, सु मुनिन्द्रके पांय कवै परसों। जिनदेवके देखनकी रटनाऊ, कहो किम जाहुं

---

१. आत्माका। २. रातदिन।

विना परसों ॥ कवधौं शिवलोकमें जाय वसों, सुख संधि लहों सजिकें परसों । कव जोग मिलै इम इच्छित है भवि, आजकै काल्हि किधों परसों ॥१६॥

सवैया (मत्तगयन्द)

जो जगको सब देखत है तुम, ताहि विलोकिकें काहे न देखो । जो जगको सब जानतु है, तुम ताहि जु जानो तो सूधो है लेखो ॥ जो जगमें थिर ह्वै सुख मानत, सो सुख देवत कौन विशेखो । है घटमें प्रगटे तवही, जवही तुम आप निहारके पेखो ॥२०॥

कवित्त ।

केवलीके ज्ञानमें प्रमान आन सब भासै, लोक औ अलोकनकी जेती कछु बात है ॥ अतीत काल भई है अनागतमें होयगी, वर्तमान समंकी विदित यों विख्यात है ॥ चेतन अचेतनके भाव विद्यमान सबै, एक ही समैमें जो अनंत होत जात है । ऐसी कछु ज्ञानकी विशुद्धता विशेष बनी, ताको धनी यहै हंस कैसें विललात है ॥२५॥

आश्चर्य चतुर्दशी । दोहा ।

नमों पदारथ सारको, निज अनुभूति प्रकाश ।
सर्व द्रव्य व्यापी प्रभू, केवल ज्ञान प्रकाश ॥१॥

कवित्त ।

देखत जिनंदजू को देखत स्वरूप निज, देखत है लोकालोक ज्ञान उपजायके । बोलत है बोल ऐसे बोलत न कोउ ऐसें, तीन लोक कथनको देत है बतायके ॥ छहों काय राखिवेकी सत्य बैन भाखिवेकी, पर द्रव्य नाखिवेकी कहै समुझायके। करम नसायवेकी आप निधि पायवेकी, सुखसों अघायवेकी रिद्धि दे लखायके ॥२॥

प्रश्न । दोहा ।

पूछत है जन जैनको, चिदानंदसों बात ।
आये हो किस देशतैं, कहो कहाँ को जात ॥७॥

कवित्त ।

देश तो प्रसिद्ध है निगोद नाम सिंधुमहा, तीनसे तेताल राजु जाको परमान है । तहाँके बसैया हम चेतनके बसवारे, बसत अनादि काल बीत्यो विन ज्ञान है ॥ तहाँतैं निकस कोऊ कर्म शुभ जोग पाय, आये हम इहाँ सुने पुरुष प्रधान है । ताके पाँय परवेको महाव्रत धरवेको, शिष्य संग करवेको चलिवो निदान है ॥८॥ एक दिन एक ठौर मिले ज्ञान चारितसों, पूछी निज बात कहाँ रावरो निवास है । बोले ज्ञान सत्यरूप चिदानंद नाम भूप, असंख्यात परदेश ताके पुरवास है ॥ एक एक देशमें अनंत गुण ग्राम बसैं, तहाँ के

वसैया हम चरणोंके दास हैं। तू हू चल मेरे संग दोऊ मिलि लूटैं सुख, मेरे आँख तेरे पांय मिलो योग खास है ॥९॥ लाल वस्त्र पहिरेसों देह तो न लाल होय, लाल देह भये हंस लाल तौ न मानिये। वस्त्रके पुराने भये देह न पुरानी होय, देहके पुराने जीव जीरन न जानिये॥ वसनके नाश भये देहको न नाश होय, देहके न नाश हंस नाश न बखानिये। देह दर्व पुद्गलकी चिदानंद ज्ञानमयी, दोऊ भिन्न भिन्न रूप 'भैया' उर आनिये ॥१०॥

प्रश्न। कवित्त (अर्द्धाली)

दर्शन भ्रष्ट भ्रष्ट सोई चेतन, दर्शन भ्रष्ट मुक्त नहिं होय।
चारित भ्रष्ट तरे भवसागर, यह अचरज पूछत शिशु[1] कोय॥१२॥

उत्तर चौपाई।

तेरह विधि चारित जो धरै। तिंह विन तजे न भवदधि तरै॥
जब ये भाव करहिं उर नाश। तब जिय लहै मोक्षपद वास॥१३॥

रागादिनिर्णयाष्टक। दोहा।

सर्व ज्ञेय ज्ञायक परम, केवल ज्ञान जिनंद।
तासु चरन वंदन करौं, मन धर परमानंद ॥१॥

१. बालक (अज्ञानी जीव)।

मात्रिक कवित्त ।

रागद्वेष मोहकी परणति,है अनादि नहिं मूल स्वभाव ।
चेतन शुभ्र फटिक मणि जैसें, रागादिक ज्यों रंग लगाव ।
वाही रंग सकल जग मोहत, सो मिथ्यामति नाम कहाव ।
समदृष्टी सो लखै दुहूँ दल, यथायोग्य वरतै कर न्याव ॥२॥

दोहा ।

जो रागादिक जीवके, ह्वै कहूँ मूल स्वभाव । तो होते शिव लोकमें, देख चतुर कर न्याव ॥३॥ सबहि कर्मतैं भिन्न हैं, जीव जगतके माहिं । निश्चय नयसों देखिये, फरक रंच कहुं नाहिं ॥४॥ रागादिकसों भिन्न जब, जीव भयौ जिहं काल । तब तिहं पायो मुकति पद, तोरि कर्मके जाल ॥ ५ ॥ ये हि कर्मके मूल हैं, राग द्वेष परिणाम । इनहीसें सब होत हैं, कर्म बंधके नाम ॥६॥

चान्द्रायण छन्द । (२५ मात्रा)

रागी बांधे करम भरमकी भरनसों । वैरागी निर्बंध स्वरूपाचरनसों ॥ यहै बंध अरु मोक्ष कही समुझायके । देखो चतुर सुजान ज्ञान उपजायके ॥ ७ ॥

कवित्त ।

राग रु द्वेष मोहकी परणति, लगी अनादि जीव कहँ दोय । तिनको निमित पाय परमाणू, बंध होय वसु

भेदहिं सोय । तिनतैं होय देह अरु इन्द्रिय, तहाँ विषै रस भुंजन लोय । तिनमें राग द्वेष जो उपजत, तिहँ संसारचक्र फिर होय ॥ ८ ॥

दोहा ।

रागादिक निर्णय कह्यो, थोरे में समुझाय ।
'भैया' सम्यक नैनतैं, लीज्यो सबहि लखाय ॥ ९ ॥

❀ इति रागादिनिर्णयाष्टक ❀

पुण्यपापजगमूलपचीसी ।

चांद्रायण छन्द ।

पुण्यपापको खेल, जगतमें बनि रह्यो । इनहीके परसाद सुखी दुखिया कह्यो ॥ दोउ जगतके मूल, विनाशी जानिये इनहीतें जो भिन्न, सुखी सो मानिये ॥ १४ ॥ मोह मगन संसार, विषय सुखमें रहै । करै न आप सम्हार परिग्रह संग्रहै ॥ जाने यह थिर वास, नाश नहीं होयगो । पाके मानुष जन्म, अकारथ खोयगो ॥ १५ ॥ देवधर्म परतीति, परीक्षा सांचकी । सीखै नाहिं सुदृष्टि, रतन अरु कांचकी ॥ जन्म अकारथ जाय, सुनो मन बावरे । पीछैं फिर पछताय, बहुर नहिं दावरे ॥ १६ ॥ पुण्य पाप परतक्ष, दोउ जगमूल है । इनहींसें संसार, भरमकी भूलहै ।

केवल शुद्ध स्वभाव, लखै नहिं हंसको । ताही तैं तुम होय करम के वंश को ।। १७ ।। शुद्ध निरंजन देव, सदा निज पास है । ताको अनुभव करो, यही अरदास है ।। कबहू भूल न जाहु, पुण्य अरु पापमें । केवल ज्ञान प्रकाश, लहोगे आपमें ।। १८ ।। पुण्य पाप बिनजीव, न कोई पाइये । औरनकी कहा चलौ, जिनेश्वर गाइये ।। ये ही जगके मूल, कहे समुझायके । जो इनसेती भिन्न, बसै शिव जायके ।। १९ ।।

दोहा ।

कहा चर्मकी देहमें, परम परे हो आन ।
देखो धर्म संभारिके, छांड़ भरमकी बान ।। २२ ।।
करम करतहै भरमतैं, धरम तुम्हारो नाहिं ।
परम परीक्षा कीजिये, शर्म कहा इहि मांहिं ।। २३ ।।
करन भरनतें होयगो, परन नरकके माहिं ।
ज्ञान चरनके धरन बिन,तरन तुम्हारो नाहिं ।। २४ ।।
सरन सदा ढूंढत रहै, मरन बचावहि कोय ।
डरन प्रान निकसैं पुरैं, तरन कहांसों होय ।। २५ ।।
जीव कौन पुद्गल कहा, को गुण को परजाय ।
जो इतनो समुझै नहीं सो मूरख शिरराय ।। २६ ।।

पुण्य पाप वश जीव सब, वसत जगतमें जान ।
'भैया' इनतैं भिन्न जो, ते सब सिद्ध समान ॥ २७ ॥

जिनधर्मपचीसिका । दोहा ।

प्रगट देव परमातमा, चिदानंद भगवान ।
वंदत हों तिनके चरन, नाय शीश धर ध्यान ॥ १ ॥
ज्यों दीपक संयोगतैं, वत्ती करै उदोत ।
त्यों ध्यावत परमातमा, जिय परमातम होत ॥ २६ ॥

अनादिबत्तीसिका ।

दोहा ।

छहों सु द्रव्य अनादिके, जगत माहिं जयवंत ।
को किस ही कर्त्ता नहीं, यों भाखै भगवंत ॥ २ ॥
अपने गुण परजायमें, वरतैं सब निरधार ।
को काहू भेटै नहीं, यह अनादि विस्तार ॥ ३ ॥
अपने अपने सहज सब, उपजत विनशत वस्त ।
है अनादि को जगत यह, इहि परकार समस्त ॥ २६ ॥
चेतन अरु पुद्गल मिले, उपजे कई विकार ।
तासों विन समुझे कहैं, रच्यो किनहिं संसार ॥ २७ ॥
यह संसार अनादि को, यही भाँति चल आय ।
उपजे विनशै थिर रहै, सो सब वस्तु स्वभाय ॥ २८ ॥

को काहू कर्त्ता नहीं, करता भुगता आप ।
यहै जीव अज्ञानमें, करै पुण्य अरु पाप ॥ २९ ॥
पुण्य पाप जग बीज है, याहीतैं विसतार ।
जन्म मरन सुख दुख सहै, 'भैया' सब संसार ॥ ३० ॥
पुण्य पापको त्याग जे, भये शुद्ध भगवान ।
अजरामर पदवी लई, सुख अनंत जिहँ थान ॥ ३१ ॥

उपादाननिमित्तका संवाद ।

दोहा ।

पाद प्रणमि जिनदेवके, एक उक्ति उपजाय ।
उपादान अरु निमित्त को कहुँ सवाद बनाय ॥ १ ॥
पूछत है कोऊ तहाँ, उपादान किह नाम ।
कहो निमित्त कहिये कहा, कबके हैं इह ठाम ॥ २ ॥
उपादान निजशक्ति है, जियको मूल स्वभाव ।
है निमित्त परयोगतें, बन्यो अनादि बनाव ॥ ३ ॥
निमित्त कहै मोको सबै, जानत हैं जग लोय ।
तेरो नाव न जानहीं, उपादान को होय ॥ ४ ॥
उपादान कहै रे निमित, तू कहा करै गुमान ।
मोको जाने जीव वे, जो हैं सम्यकवान ॥ ५ ॥
कहै जीव सब जगतके, जो निमित्त सोइ होय ।
उपादानकी बातको, पूछै नाहीं कोय ॥ ६ ॥

उपादान बिन निमित्त तू, करन सकै इक काज।
कहा भयो जग ना लखै जानत हैं जिनराज ॥ ७ ॥
देव जिनेश्वर गुरु यती, अरु जिन आगम सार।
इहि निमित्ततें जीव सब, पावत हैं भवपार ॥ ८ ॥
यह निमित्त इह जीवको, मिल्यो अनंती बार।
उपादान पलटयो नहीं, तौ भटक्यो संसार ॥ ९ ॥
कै केवली कै साधु कै, निकट भव्य जो होय।
सो क्षायक सम्यक लहै, यह निमित्तबल जोय ॥ १० ॥
केवलि अरु मुनिराजके पास रहैं बहु लोय।
पै जाको सुलटयो धनी, क्षायक ताको होय ॥ ११ ॥
हिंसादिक पापन किये, जीव नर्कमें जाहिं।
जो निमित्त नहिं कामको, तो इम काहे कहाहिं ॥ १२ ॥
हिंसामें उपयोग जहँ, रहै ब्रह्मके राच।
तेई नर्कमें जात हैं, मुनि नहिं जाहिं कदाच ॥ १३ ॥
दया दान पूजा किये, जीव सुखी जग होय।
जो निमित्त झूंठो कहो, यह क्यों मानै लोय ॥ १४ ॥
दया दान पूजा भली, जगतमाहिं सुखकार।
जहँ अनुभवको आचरन, तहँ यह बंध विचार ॥ १५ ॥
यह तो बात प्रसिद्ध है, सोच देख उरमाहिं।
नरदेहीके निमित्त बिन, जिय क्यों मुक्ति न जाहिं ॥ १६ ॥

देह पींजरा जीवको, रोकै शिवपुर जात।
उपादानकी शक्तिसों, मुक्ति होत रे भ्रात ॥ १७ ॥
उपादान सब जीवपै, रोकन हारो कौन।
जाते क्यों नहिं मुक्तिमें, विन निमित्तके होन ॥ १८ ॥
उपादान सु अनादि को, उलट रह्यो जगमाहिं।
सुलटत ही सूधे चले, सिद्ध लोक को जाहिं ॥ १९ ॥
कहुँ अनादि विन निमितही, उलट रह्यो उपयोग।
ऐसी बात न संभवै, उपादान तुम जोग ॥ २० ॥
उपादान कहै रे निमित्त, हमपै कही न जाय।
ऐसे ही जिनकेवली, देखै त्रिभुवनराय ॥ २१ ॥
जो देख्यो भगवानने, सोही सांचो आहि।
हम तुम संग अनादिके, वली कहोगे काहि ॥ २२ ॥
उपादान कहै वह वली, जाको नाश न होय।
जो उपजत विनशत रहै, वली कहाँतें सोय ॥ २३ ॥
उपादान तुम जोर हो, तो क्यों लेत अहार।
परनिमित्तके योगसों, जीवत सब संसार ॥ २४ ॥
जो अहारके जोगसों, जीवत है जगमाहिं।
तो वासी संसारके, मरते कोऊ नाहिं ॥ २५ ॥
सूर सोम मणि अगिनके, निमित्त लखैं ये नैन।
अंधकारमें कित गयो, उपादानदृग दैन ॥ २६ ॥
सूर सोम मणि अग्नि जो, करै अनेक प्रकाश।
नैन शक्ति विन ना लखैं, अन्धकार मम भास ॥ २७ ॥

कहै निमित्त वे जीवको, मो विन जगके माहिं ।
सबै हमारे वश परे हम विन मुक्ति न जाहिं ॥ २८ ॥
उपादान कहै रे निमित्त, ऐसे बोल न बोल ।
ताको तज निज भजत हैं, तेही करैं किलोल ॥ २९ ॥
कहैं निमित्त हमको तजे, ते कैसें शिव जात ।
पंच महाव्रत प्रगट हैं, और हु क्रिया विख्यात ॥ ३० ॥
पंच महाव्रत जोग त्रय, और सकल व्यवहार ।
परको निमित्त खपायके, तव पहुँचे भवपार ॥ ३१ ॥
कहै निमित्त जग मैं बड़ो, मोतैं बड़ो न कोय ।
तीन लोकके नाथ सब, मो प्रसादत होय ॥ ३२ ॥
उपादान कहै तू कहा, चहुँ गतिमें ले जाय ।
तो प्रसादतैं जीव सब, दुखी होहिं रे भाय ॥ ३३ ॥
कहै निमित्त जो दुख सहै, सो तुम हमहि लगाय ।
सुखी कौन तैं होत है, ताको देहु बताय ॥ ३४ ॥
जा सुखको तू सुख कहै, सो सुख तो सुख नाहिं ।
ये सुख, दुखके मूल है, सुख अविनाशी माहिं ॥ ३५ ॥
अविनाशी घट घट बसै, सुख क्यों विलसत नाहिं ?
शुभ निमित्तके योग विन, परे परे विललाहिं ॥ ३६ ॥
शुभनिमित्त इह जीवको, मिल्यो कई भवसार ।
पै इक सम्यक दर्श विन, भटकत फिरचो गँवार ॥ ३७ ॥

सम्यक दर्श भये कहा, त्वरित मुकतिमें जाहिं ।
आगें ध्यान निमित्त हैं, ते शिवको पहुँचाहिं ॥ ३८ ॥
छोर ध्यानकी धारना, मोर योगकी रीति ।
तोर कर्मके जालको, जोर लई शिवप्रीति ॥ ३९ ॥
तब निमित्त हारयो तहाँ, अब नहिं जोर बसाय ।
उपादान शिव लोकमें, पहुँच्यो कर्म खपाय ॥ ४० ॥
उपादान जीत्यो तहाँ, निजबल कर परकाश ।
सुख अनंत ध्रुव भोगवै अंत न बरन्यो तास ॥ ४१ ॥
उपादान अरु निमित्त ये, सब जीवनपै वीर ।
जो निजशक्ति संभारहीं, सो पहुँचे भवतीर ॥ ४२ ॥
भैया महिमा ब्रह्मकी, कैसे बरनी जाय ।
वचन अगोचर वस्तु है, कहिबो वचन बनाय ॥ ४३ ॥
उपादान अरु निमित्तको, सरस बन्यो संवाद ।
समदृष्टीको सुगम है, मूरखको बकवाद ॥ ४४ ॥
जो जानै गुण ब्रह्मके, सो जानै यह भेद ।
साख जिनागमसों मिलै, तो मत कीज्यो खेद ॥ ४५ ॥
नगर आगरो अग्र है, जैनी जनको वास ।
तिहँ थानक रचना करी, 'भैया' स्वमति प्रकाश ॥ ४६ ॥
संवत विक्रम भूपको, सत्रहसै पंचास ।
फाल्गुण पहिले पक्षमें, दशों दिशा परकाश ॥ ४७ ॥

❀ इति उपादाननिमित्तसंवाद ❀

दोहा

रागभाव छूट्यो नहीं, मिट्यो न अंतर दोख।
संतति वाढ़ै वंधकी, होय कहांसों मोख ॥ १७ ॥

पंचेन्द्रियसंवाद । दोहा ।

पर द्रव्यनसों भिन्न जो, स्वकिय भाव रसलीन।
सो चेतन परमातमा, देख्यो ज्ञान प्रवीन ॥ १४३ ॥
जो देखै गुण द्रव्यके, जानै सबको भेद।
सो या घट में प्रगट है, कहा करत है खेद ॥ १४४ ॥
सुख अनंतको नाथ वह, चिदानंद भगवान।
दर्शन ज्ञान विराजतो, देखो धर निज ध्यान ॥ १४५ ॥
देखनहारो ब्रह्म वह, घट घटमें परतच्छ।
मिथ्यातमके नाशतैं, सूझै सबको स्वच्छ ॥ १४६ ॥
जैसो शिव तैसो इहाँ, भैया फेर न कोय।
देखो सम्यक नयनसों, प्रगट विराजै सोय ॥ १४७ ॥
निकट ज्ञानदृग देखतैं, विकट चर्मदृग होय।
चिकट कटै जब रागकी, प्रगट चिदानंद जोय ॥ १४८ ॥

ईश्वरनिर्णयपच्चीसी । कवित्त ।

जैसें कोउ स्वान परचो काचके महल वीच, ठौर ठौर स्वान देख भूंस भूंस मरचो है। वानर ज्यों मूठी बांध

परयो है पराये वश, कूयेमें निहार सिंह आप कूद परयो है॥ फटिककी शिलामें विलोक गज जाय अरयो, नलिनीके सुवटाको कौनैधों पकरयो है। तैसे ही अनादिको अज्ञानभाव मान हंस, अपनो स्वभाव भूलि जगतमें फिरयो है॥ १२ ॥

कर्त्ताअकर्त्तापचीसी

दोहा।

कर्मनको कर्त्ता नहीं, धरता सुद्ध सुभाय। ता ईश्वरके चरनको, बंदौं शीश नवाय ॥ १ ॥ जो ईश्वर करता कहैं, भुक्ता कहियें कौन? जो करता सो भोगता, यहै न्यायको भौन ॥ २ ॥ दुहूँ दोषतैं रहित है, ईश्वर ताको नाम। मनवचशीस नवाइकैं, करूं ताहि परणाम ॥ ३ ॥ कर्मनको करता वहै, जापैं ज्ञान न होय। ईश्वर ज्ञानसमूह है, किम कर्त्ता है सोय ॥४॥ ज्ञानवंत ज्ञानहिं करै, अज्ञानी अज्ञान। जो ज्ञाता कर्त्ता कहै, लगै दोष असमान ॥ ५ ॥ ज्ञानीपै जड़ता कहा, कर्त्ता ताको होय। पंडित हिये विचारकैं, उत्तर दीजे सोय ॥ ६ ॥ अज्ञानी जड़तामयी, करै अज्ञान निशंक। कर्त्ता भुगता जीव यह, यों भाखै भगवंत ॥७॥ ईश्वरकी जिय जात है, ज्ञानी तथा अज्ञान। जो इह नैं कर्त्ता कहो, तौ है बात प्रमान ॥ ८ ॥ अज्ञानी कर्त्ता कहै,

तौ सब बनै बनाव। ज्ञानी ह्वै जड़ता करै, यह तौ बनै न न्याव ॥ ९ ॥ ज्ञानी करता ज्ञानको, करै न कहुँ अज्ञान। अज्ञानी जड़ता करैं, यह तो बात प्रमान ॥ १० ॥ जो कर्त्ता जगदीश है, पुण्य पाप किहँ होय। सुख दुख काको दीजिये, न्याय करहु बुध लोय ॥ ११ ॥ नरकनमें जिय डारिये, पकर पकरकें बाँह। जो ईश्वर करता कहो, तिनको कहा गुनाह ॥ १२ ॥ ईश्वरकी आज्ञा विना, करत न कोऊ काम। हिंसादिक उपदेशको, कर्त्ता कहिये राम ॥ १३ ॥ कर्त्ता अपने कर्मको, अज्ञानी निर्धार। दोष देत जगदीशको, यह मिथ्या आचार ॥ १४ ॥ ईश्वर तौ निर्दोष है, करता भुक्ता नाहिं। ईश्वरको कर्त्ता कहै, ते मूरख जग-माहिं ॥ १५ ॥ ईश्वर निर्मल मुकुरवत, तोनलोक आभास। सुख सत्ता चैतन्यमय, निश्चय ज्ञान विलास ॥ १६ ॥ जाके गुन तामें वसै, नहीं और में होय। सुधी दृष्टि निहारतैं, दोप न लागै कोय ॥ १७ ॥ वीतरागवानी विमल, दोप-रहित तिहुंकाल। ताहि लखै नहिं मूढ़ जन, झूठे गुरुके चाल ॥ १८ ॥ गुरु अंधे शिष्य अंधकी, लखै न बाट कुवाट। विना चक्षु भटकत फिरै, खुलै न हिये कपाट ॥१९॥ जोलों मिथ्यादृष्टि है, तोलों कर्त्ता होय। सो हू भावित कर्मको, दर्वित करै न कोय ॥ २० ॥ दर्व कर्म पुद्गलमयी, कर्त्ता पुद्गल तास। ज्ञानदृष्टिके होत ही, सूझै सब परकाश

॥ २१ ॥ जौलों जीव न जान ही, छहों कायके वीर। तौलों रक्षा कौनकी, कर है साहस धीर ॥ २२ ॥ जानत है सब जीवको, मानत आप समान। रक्षा यातैं करत है, सबमें दरशन ज्ञान ॥ २३ ॥ अपने अपने सहजके, कर्त्ता हैं सब दर्व। यहै धर्मको मूल है, समझ लेहु जिय सर्व ॥ २४ ॥ 'भैया' बात अपार है, कहै कहांलों कोय। थोरेहीमें समझियो, ज्ञानवंत जो होय ॥ २५ ॥

❀ इति कर्त्ताअकर्त्तापचीसी ❀

अथ मनबत्तीसी लिख्यते।

जब मन मूंद्यो ध्यानमें, इंद्रिय भई निराश।
तब इह आतम ब्रह्मने, कीने निज परकाश ॥ १५ ॥
देख बड़े आरंभसों, चक्रवर्ति जगमाहिं।
फेरत ही मन एकको, चले मुक्तिमें जांहिं ॥ २४ ॥
बाहिज परिगह रंच नहिं, मनमें धरै विकार।
तांदुल मच्छ निहारिये, पड़ै नरक निरधार ॥ २५ ॥
भावनहीतैं बंध है, भावनहीतैं मुक्ति।
जो जानै गति भावकी, सो जानै यह युक्ति ॥ २६ ॥

फुटकर विषय।

कवित्त।

तेरो ही स्वभाव चिनमूरति विराजतु है, तेरो ही स्वभाव सुख सागरमें लहिये। तेरो ही स्वभाव ज्ञान दर-

सनहू राजतु है, तेरो ही स्वभाव ध्रुव चारितमें कहिये ॥
तेरो ही स्वभाव अविनाशी सदा दीसतु है, तेरो ही
स्वभाव परभावमें न गहिये। तेरो ही स्वभाव सब आन
लसै ब्रह्ममाहिं, यातैं तोहि जगतको ईश सरदहिये ॥ १ ॥

दोहा।

त्याग विना तिरबो नहीं, देखहु हिये विचार।
तूंबी लेपहिं त्यागती, तब तरि पहुँचे पार ॥ २४ ॥
त्याग बड़ो संसारमें, पहुँचावे शिवलोक।
त्यागहितें सब पाइये, सुख अनंतके थोक ॥ २५ ॥

अथ परमात्मशतक।

दोहा।

सकल देवमें देव यह, सकल सिद्धमें सिद्ध।
सकल साधुमें साधु यह, पेख[1] निजातमरिद्ध ॥ २ ॥

सोरठा।

पीरे[2] होहु सुजान, पीरे[3] कारे ह्वै रहे।
पीरे तुम बिन ज्ञान, पीरें[4] सुधा सुबुद्धि कहँ ॥ ४ ॥

दोहा।

फिरे बहुत संसारमें, फिरि फिरि थाके नाहिं।
फिरे जबहिं निजरूपको, फिरे न चहुँगति माहिं ॥ १३ ॥

१. देख। २. (पियरे) अर्थात् प्यारे हो। ३. दुःखित।
४. पान कर।

परमारथ परमें नहीं, परमारथ निज पास ।
परमारथ परिचय विना, प्राणी रहै उदास[1] ॥१६॥
परमारथ जानें परम, पर[2] नहिं जाने भेद ।
परमारथ निज परखिबो, दर्शन ज्ञान अभेद ॥१७॥
परमारथ निज जानिबो, यहै परमको[3] राज ।
परमारथ जाने नहीं, कहौ परम किहिं काज ॥१८॥
आप पराये वश परे, आपा डारचो खोय ।
आप[4] आप जाने नहीं, आप प्रगट क्यों होय ॥१९॥
जिनकी महिमा जे लखें, ते जिन होंहिं निदान ।
जिनवानी यों कहत है, जिन जानहु कछु आन ॥२१॥
ध्यान धरो निजरूपको, ज्ञानमाहिं उर आन ।
तुम तो राजा जगतके, चेतहु विनती मान ॥२२॥
चेतनरूप अनूप है, जो पहिचानें कोय ।
तीनलोकके नाथकी, महिमा पावे सोय ॥२३॥
जिन पूजहि जिनवर नमहिं, धरहिं सुथिरता ध्यान ।
केवलपदमहिमा लखहिं, ते जिय सम्यकवान ॥२४॥
तुम तौ पद्म समान हो, सदा अलिप्त स्वभाव ।
लिप्त भये गोरस[5] विषैं, ताको कौन उपाव ॥२७॥

१. दुःखित । २. परन्तु । ३. आतमा । ४. आप अपनेको नहीं जानता । ५. 'गो' इन्द्रियोंके 'रस' विषयमें ।

वेदभाव[1] सब त्यागि करि, वेद[2] ब्रह्मको रूप।
वेद[3] माहिं सब खोज है, जो वेदे चिद्रूप[4]॥२८॥
अपने रूप स्वरूपसों, जो जिय राखै प्रेम।
सो निहचै शिवपद लहै, मनसावाचा[5] नेम॥३०॥
जो जन परसों हित करै, निज सुधि सबै बिसार।
सो चिन्तामणि रत्नसम, गयो जन्म नर हारि॥३८॥
जैसे प्रगट पतङ्गके[6], दीप माहिं परकाश।
तैसे ज्ञान उदोतसों, होय तिमिरको नाश॥३९॥
आप अकेलो ब्रह्ममय, परचो भरमके फंद।
ज्ञानशक्ति जानें नहीं, कैसे होय स्वछंद॥४४॥
शिवस्वरूपके लखतहीं, शिवसुख होय अनंत।
शिवसमाधिमें रम रहे, शिवमूरति भगवंत॥४५॥
या मायासों राचिके, तुम जिन भूलहु हंस।
संगति याकी त्यागिके, चीन्हों अपनो अंस॥४८।
जोगी[7] न्यारो जोगतें[8], करै जोग[9] सब काज।
जोग[10] जुगत जानें सबै, सो जोगी शिवराज[11]॥४९॥

---

१. स्त्रीपुंनपुंसकभाव। २. ज्ञान। ३. शास्त्रोंमें। ४. जो यदि चिद्रूपको जानता हो तो, नहीं तो कुछ नहीं। ५ मन और वचनसे। ६ सूर्य। ७. आत्मा। ८. मन वचन कायके योगसे। ९. योग्य (उचित)। १०. योग, ध्यान। ११. मोक्ष।

जाकी महिमा जगतमें, लोकालोक प्रकाश ।
सो अविनाशी घट विषें, कीन्हों आय निवास ।।५०।।
केवलरूप स्वरूपमें, कर्मकलङ्क न होय ।
सो अविनाशी आतमा, निजघट परगट होय ।।५१।।
ज्ञान भान[1] परगट भयो, तम अरि नासे दूर ।
धर्म कर्म मारग लख्यो, यह महिमा रहि पूर ।।५५।।
जे तनकी संगति किये, चेतन होत अजान ।
ते तनसों ममता धरैं, अपुनो कौन सयान[2] ।।५६।।
जे तनसों दुख होत है, यहै अचंभो मोहि ।
ते तनसों ममता धरै, चेतन ! चेत न तोहि ।।५७।।
जा तनसों तू निज कहै, सो तन तौ तुझ नाहिं ।
ज्ञान प्राण संयुक्त जो, सो तन तौ तुझ माहिं ।।५८।।
जाके लखत यहै लख्यो, यह मैं यह पर होय ।
महिमा सम्यक्ज्ञानकी, विरला बूझै कोय ।।५९।।
छहों द्रव्य अपने सहज[3], राजत हैं जगमाहिं ।
निहचै दृष्टि विलोकिये, परमें कबहूँ नाहिं ।।६०।।
जड़ चेतनकी भिन्नता, परम देवको राज ।
सम्यक होत यहै लख्यो, एक पंथ द्वै काज ।।६१।।
समुझै पूरण ब्रह्मको, रहै लोभ लौ[4] लाय ।
जान बूझ कूए परै, तासों कहा वसाय ।।६२।।

१. सूर्य । २. चातुर्य । ३. स्वभाव । ४. ममता ।

अपनी नवनिधि छांडि कै, मांगत घर घर भीख ।
जान बूझ कूए परे, ताहि कहौ कहा सीख ॥६५॥
मूढ़ मगन मिथ्यातमें, समुझै नाहि निठोल[1] ।
कानी[2] कौडी कारणें, खोवै रतन अमोल ॥६६॥
कानी कौडी विषय सुख, नरभव रतन अमोल ।
पूरव पुन्यहिं कर चढ्यो, भेद न लहैं निठोल ॥६७॥
चौरासी लखमें फिरे, रागद्वेष परसङ्ग ।
तिनसों प्रीति न कीजिये, यहै ज्ञानको अङ्ग ॥६८॥
चल चेतन तहाँ जाइये, जहाँ न राग विरोध ।
निज स्वभाव परकाशिये, कीजे आतम बोध ॥६९॥
तेरे बाग[3] सुज्ञान है, निज गुण फूल विशाल ।
ताहि विलोकहु परम[4] तुम, छांडि आल जंजाल ॥७०॥
छहों द्रव्य अपने सहज, फूले फूल सुरंग ।
तिनसों नेह न कीजिये, यहै ज्ञानको अंग ॥७१॥
सांच विसारचो भूलके, करी झूठसों प्रीति ।
ताहीते दुख होत हैं, जा यह गहो अनीति ॥७२॥
हित शिक्षा इतनी यहै, हंम सुनहु आदेश ।
गहिये शुद्ध स्वभावको, तजिये कर्म कलेश ॥७३॥

१. निठल्ला बेकाम मूर्ख । २. फूटी । ३. बगीचा । ४. शुद्धात्मा ।

सोरठा।

कहहु कौन यह रीति, मोहि बतावहु परम तुम।
तिन ही सों पुनि प्रीति, जो नरकहिं ले जात हैं ॥७५॥
अहो! जगतके राय, मानहु एती वीनती।
त्यागहु पर परजाय, काहे भूले भरममें ॥७६॥
एहो! चेतनराय! परसों प्रीति कहा करी।
जो नरकहिं ले जाय, तिनहीसों राचे सदा ॥७७॥
तुम तौ परम सयान, परसों प्रीति कहा करी।
किहि गुण[1] भये अयान, मोहि बतावहु सांच तुम ॥७८॥
कर्म्म शुभाशुभ दोय, तिनसों आपौ मानिये।
कहहु मुक्ति क्यों होय, जो इन मारग अनुसरे ॥७९॥
मायाहीके फन्द, उरझे चेतनराय तुम।
कैसे होहु स्वछन्द, देखहु ज्ञान विचारिके ॥८०॥
एहो! परम सयान, कौन सयानप[2] तुम करी।
काहे भये अयान, अपनी जो रिधि छांडिके ॥८१॥
तीनलोकके नाथ, जगवासी तुम क्यों भये।
गहहु ज्ञानको साथ, आवहु अपने थलविषैं[3] ॥८२॥
तुम पूनों सम चन्द, पूरण ज्योति सदा भरे।
परे पराये फन्द, चेतहु चेतनराय जू ॥८३॥

---

१. किस कारण। २. चतुरता। ३. मोक्षस्थल।

जानहिं गुण पर्याय, ऐसे चेतनराय हैं।
नैंननि लेहु लखाय, एहो ! सन्त सुजान नर ॥८४॥
सब कोउ करत किलोल, अपने अपने सहजमें।
भेद न लहत निठोल[1], भूलत मिथ्या भरममें ॥८५॥

दोहा।

पुद्गलको कहा देखिये, धरै विनाशी रूप।
देखहु आतमसम्पदा, चिद्विलासचिद्रूप ॥८८॥
जित देखहु तित देखिये, पुद्गलहीसों प्रीत।
पुद्गल हारे हार अरु, पुद्गल जीते जीत ॥८९॥
जगत फिरत कै जुग भये, सो कछु कियो विचार।
चेतन अब किन[2] चेतहू, नरभव लह अतिसार[3] ॥९१॥
ऐसी मति विभ्रम भई, विषयन लागत धाय[4]।
कै दिन कै छिन कै घरी, यह सुख थिर ठहराय ॥९३॥
देखहु तो निज दृष्टिसों, जगमें थिर कछु आह।
सबै विनाशी देखिये, को तज गहिये काह ॥९४॥
केवल शुद्ध स्वभावमें, परम अतीन्द्रिय रूप।
सो अविनाशी आतमा, चिद्विलास चिद्रूप[5] ॥९५॥
जैसो शिवखेतहिं[6] बसै, तैसो या तनमाहिं।
निश्चय दृष्टि निहारिये, फेर रंच कहुँ नाहिं ॥९६॥

१ मूर्ख। २. क्यों न। ३. श्रेष्ठ। ४. दौड़के। ५. सिद्धपरमात्मा।
६. मोक्षक्षेत्रमें।

चेतन कर्म उपाधि तज, रागद्वेषको संग।
जो प्रगटै निज सम्पदा, शिवसुख होय असंग ॥९७॥
तू अनन्त सुखको धनी, सुखमय तोहि स्वभाव।
करते छिनमें प्रगट निज, होय बैठ शिवराव ॥९८॥
ज्ञान दिवाकर प्रगटते, दश दिशि होय प्रकाश।
ऐसी महिमा ब्रह्मकी, कहत 'भगवतीदास' ॥९९॥

❀ इति परमात्मशतकम् ❀

करमनसों कर युद्ध तू, करले ज्ञान कमान।
तान स्वबलसों परम तू, मारो मनमथ[1] जान ॥६॥
परम धरम अवधारि तू, परसंगति कर दूर।
ज्यों प्रगटै परमातमा, सुख संपति रहै पूर ॥७॥

❀ इति संपूर्ण ❀

❀ समयसार नाटक ❀

अनुभवका वर्णन । दोहा ।

वस्तु विचारत ध्यानतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभौ ताको नाम ॥१७॥
अनुभौ चिंतामणि रतन, अनुभव है रस कूप।
अनुभौ मारग मोक्षको, अनुभौ मोक्ष स्वरूप ॥१८॥

---

१. कामदेव ।

सवैया ३१ सा।

अनुभौके रसको रसायन कहत जग, अनुभौ अभ्यास यहू तीरथकी ठौर है। अनुभौकी जो रसा कहावै सोई पोरसासु, अनुभौ अधो रसासु ऊरधकी दौर है॥ अनुभौकी केलि इह कामधेनु चित्रावेलि, अनुभौको स्वाद पंच अमृतको कौर है। अनुभौ करम तोरे परमसो प्रीति जोरे, अनुभौ समान न धरम कोऊ और है॥१९॥

जीव द्रव्यका लक्षण। दोहा।

चेतनवंत अनंतगुण, पर्यय शक्ति अनंत।
अलख अखंडित सर्वगत, जीवद्रव्य विरतंत॥२०॥

पुद्गलद्रव्यका लक्षण।

फरस वर्ण रस गंधमय, नरद्पास संठान।
अनुरूपी पुद्गलदरव, नभ प्रदेश परवान॥ २१॥

धर्म द्रव्यका लक्षण।

जैसे सलिल समूहमें, करै मीनगति कर्म।
तैसें पुदगल जीवको, चलन सहाई धर्म॥२२॥

अधर्म द्रव्यका लक्षण।

ज्यौं पंथी ग्रीषम समै, बैठे छाया मांहि।
त्यौं अधर्मकी भूमिमें, जड़ चेतन ठहरांहि॥२३॥

आकाश द्रव्यका लक्षण।

संतत जाके उदरमें, सकल पदारथ वास।
जो भाजन सब जगतको, सोई द्रव्य आकाश॥२४॥

काल द्रव्यका लक्षण ।

जो नवकरि जीरन करै, सकल वस्तु थिति ठांनि ।
परावर्त वर्तन धरै, काल द्रव्य सो जांनि ॥ २५ ॥

जीवविलास वर्णन ।

समता रमता उरधता, ज्ञायकता सुखभास ।
वेदकता चैतन्यता, ये सब जीवविलास ॥ २६ ॥

अजीवतत्व विलास वर्णन ।

तनता मनता वचनता, जड़ता जडसंमेल ।
लघुता गुरुता गमनता, ये अजीवके खेल ॥२७॥

पुण्यतत्त्वका वर्णन ।

जो विशुद्ध भावनि बंधै, अरु ऊरधमुख होइ ।
जो सुखदायक जगतमें, पुन्य पदारथ सोइ ॥२८॥

पापतत्त्वका वर्णन ।

संक्लेश भावनि बंधै, सहज अधोमुख होइ ।
दुखदायक संसारमें, पाप पदारथ सोइ ॥२९॥

आश्रवतत्त्वका वर्णन ।

जोई कर्म उदोत धरि, होइ क्रियारस रत्त ।
करषी नूतन कर्मकौ, सोई आश्रव तत्त्व ॥३०॥

संवरतत्त्वका वर्णन ।

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतैं जोग विरत्त ।
रोके आवत करमकों, सो है संवर तत्त्व ॥३१॥

निर्जरातत्त्वका वर्णन ।

पूरव सत्ताकर्म करि, थिति पूरण जो आउ ।
खिरवैकौं उद्दित भयो, सो निर्जरा लखाउ ॥३२॥

बंधतत्त्वका वर्णन ।

जो नवकर्म पुरानसौं, मिलैं गंठि दिढ़ होइ ।
शक्ति बढ़ावै वंशकी, बंध पदारथ सोइ ॥३३॥

मोक्षतत्त्वका वर्णन ।

थितिपूरन करि कर्म जो, खिरै बंध पद भान ।
हंस अंस उज्जल करै, मोक्षतत्त्व सो जान ॥३४॥

चिदानंद भगवान्की स्तुति ।

शोभित निज अनुभूति युत, चिदानंद भगवान ।
सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान ॥१॥

सिद्ध भगवानको नमस्कार ।

सवैया २३ सा ।

जो अपनी द्युति आप विराजित, है परधान पदारथ नामी । चेतन अंक सदा निकलंक, महा सुख सागरको

विसरामी ॥ जीव अजीव जिते जगमें, तिनको गुण ज्ञायक अंतरजामी। सो सिवरूप वसे शिवनायक, ताहि विलोकि नमै सिवगामी ॥२॥

शास्त्र माहात्म्य कथन। सवैया ३१ सा।

निहचेमें एकरूप व्यवहारमें अनेक, याही नय विरोधने जगत भरमायो है। जगके विवाद नाशिवेको जिन आगम है, ज्यामें स्यादवाद नाम लक्षण सुहायो है॥ दरसनमोह जाको गयो है, सहजरूप, आगम प्रमाण ताके हिरदेमें आयो है। अनयसो अखंडित अनूतन अनंत तेज, ऐसो पद पूरण तुरंत तिन पायो है॥ ५ ॥

निश्चयनय और व्यवहारनय स्वरूप कथन।

सवैया २३ सा।

ज्यों नर कोऊ गिरे गिरिसो तिहि, होइ, हितू जु गहै दृढ़वाहीं।
त्यों वुधको विवहार भलो, तवलौ जबलौ सिव प्रापति नाहीं॥
यद्यपि यो परमाण तथापि, सधे परमारथ चेतन माहीं।
जीव अव्यापक है परसो, विवहारसु तो परकी परछाहीं ॥६॥

सम्यक्‌दर्शन स्वरूप व्यवस्था। सवैया ३१ सा।

शुद्ध नय निहचै अकेला आप चिदानंद, आपने ही गुण परजायको गहत है। पूरण विज्ञानघन सो है व्यवहार माहि, नव तत्त्वरूपी पंच द्रव्यमें रहत है॥ पंचद्रव्य नव-

तत्त्व न्यारे जीव न्यारो लखे, सम्यक दरस यह और न गहत है। सम्यक दरस जोई आतम सरूप सोइ, मेरे घट प्रगटो 'बनारसी' कहत है ॥ ७ ॥

जीवद्रव्य व्यवस्था अग्निदृष्टांत। सवैया ३१ सा।

जैसे तृण काष्ट वांस आरने इत्यादि और, ईंधन अनेक विधि पावकमें दहिये। आकृति विलोकत कहावे आगि नानारूप, दीसे एक दाहक स्वभाव जब गहिये ॥ तैसे नव तत्त्वमें भया है बहु भेषी जीव, शुद्धरूप मिश्रित अशुद्धरूप कहिये। जाही क्षण चेतना सकतिको विचार कीजे, ताही क्षण अलख अभेदरूप लहिये ॥ ८ ॥

पुनः जीवद्रव्यव्यवस्था बनवारी दृष्टांत।

सवैया ३१ सा।

जैसे बनवारीमें कुधातुके मिलाप हेम, नाना भाँति भयो पै तथापि एक नाम है। कसके कसौटी लीक निरखे सराफ ताहि, बानके प्रमाणकरि लेतु देतु दाम है ॥ तैसे ही अनादि पुदगलसौ संजोगी जीव, नवतत्त्वरूपमें अरूपी महा धाम है। दीसे अनुमानसौ उद्योतवान ठौर ठौर, दूसरो न और एक आतमाही राम है ॥ ९ ॥

अनुभव व्यवस्था सूर्यदृष्टांत । सवैया ३१ सा ।

जैसे रवि मंडलके उदै महि मंडलमें, आतम अटल, तम पटल विलातु है। तैसे परमातमको अनुभौ रहत जोलों, तोलों कहूँ दुविधान कहुँ पक्षपात है ।। नयको न लेस परमाणको न परवेस, निक्षेपके वंसको विध्वंस होत जातु है। जे जे वस्तु साधक है तेऊ तहाँ बाधक है, बाकी रागद्वेषकी दशाकी कौन वातु है ।। १० ।।

ज्ञाता विलास कथन । सवैया ३१ सा ।

कोऊ बुधिवंत नर निरखे शरीर घर, भेदज्ञान दृष्टिसो विचार वस्तु वास तो । अतीत अनागत वरतमान मोहरस, भीग्यो चिदानंद लखे बंधमें विलास तो ।। बंधको विदारि महा मोहको स्वभाव डारि, आतमको ध्यान करे देखे परगास तो । करम कलंक पंक रहित प्रगटरूप, अचल अबाधित विलोके देव सासतो ॥१३।

गुणगुणी अभेद कथन । सवैया २३ सा ।

शुद्ध नयातम आतमकी, अनुभूति विज्ञान विभूति है सोई। वस्तु विचारत एक पदारथ, नामके भेद कहावत दोई ।। यों सरवंग सदा लखि आपुहि, आतम ध्यान करे जब कोई। मेटि अशुद्ध विभाव दशा तब, सिद्ध स्वरूपकी प्रापति होई ।। १४ ।।

ज्ञाना का चिंतवन कथन । सवैया ३१ सा ।

अपने ही गुण परजायसों प्रवाहरूप, परिणयो तिहूँ काल अपने आधारसों । अंतर बाहिर परकाशवान एकरस, खीणता न गहे भिन्न रहे भौ विकारसों ॥ चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव, जैसे लूण कांकर भरचो है रस खारसों । पूरण स्वरूप अति उज्जल विज्ञानघन, मोको होहु प्रगट विशेष निरवारसों ॥ १५ ॥

द्रव्य पर्याय अभेद कथन । कवित्त ।

जहँ ध्रुवधर्म कर्मक्षय लक्षण, सिद्ध समाधि साध्यपद सोई । शुद्धोपयोग जोग महि मंडित, साधक ताहि कहे सब कोई ॥ यो परतक्ष परोक्ष स्वरूपसो, साधक साध्य अवस्था होई । दुहुको एक ज्ञान संचय करि, सेवे सिव वंछक थिर होई ॥ १६ ॥

द्रव्य गुण पर्याय भेद कथन । कवित्त ।

दरसन ग्यान चरण त्रिगुणातम, समलरूप कहिये विवहार । निहचै दृष्टि एक रस चेतन, भेद रहित अविचल अविकार ॥ सम्यकदशा प्रमाण उभयनय, निर्मल समल एक ही बार । यौं समकाल जीवकी परणति, कहें जिनंद गहे गणधार ॥ १७ ॥

व्यवहार कथन । दोहा ।

एकरूप आतम दरब, ज्ञान चरण दृग तीन ।
भेदभाव परिणाम यो, विवहारे सु मलीन ॥१८॥

निश्चयरूप कथन । दोहा ।

यदपि समल व्यवहार सो, पर्यय शक्ति अनेक ।
तदपि नियत नय देखिये, शुद्ध निरंजन एक ॥१९॥

शुद्धस्वरूप कथन । दोहा ।

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर ।
समल विमल न विचारिये यहै सिद्धि नहिं और ॥२०॥

शुद्ध अनुभव प्रशंसा कथन । सवैया ३१ सा ।

जाके पद सोहत सुलच्छण अनंत ज्ञान, विमल त्रिकाशवंत ज्योति लहलही है। यद्यपि त्रिविधरूप व्यवहारमें तथापि, एकता न तजे यों नियत अंग कही है ॥ सो है जीव कैसीहू जुगतिके सदीव ताके, ध्यान करवेकूं मेरी मनसा उमही है। जाते अविचल रिद्धि होत और भाँति सिद्धि, नाहीं नाहीं नाहीं यामे धोखो नाहीं सही है ॥२१॥

ज्ञाताकी व्यवस्था । सवैया २३ सा ।

कै अपनो पद आप संभारत, कै गुरुके मुखकी सुनि बानी ।
भेदविज्ञान जग्यो जिन्हके, प्रगटी सुविवेक कला रजधानी ॥

भाव अनंत भये प्रतिबिंबित, जीवति मोक्ष दशा ठहरानी।
ते नर दर्पण ज्यों अविकार, रहे थिर रूप सदा सुखदानी ॥२२॥

भेदज्ञान प्रशंसा कथन। सवैया ३१ सा।

याही वर्तमानसमै भव्यको मिट्यो मोह, लग्यो है अनादिको पग्यो है कर्ममलसों। उदै करै भेदज्ञान महा-रुचिको निधान, उरको उजागै भारो न्यारो दुंद दलसों॥ जातै थिर रहे अनुभौ विलास गहे फिरि, कबहूँ अपन यों न कहे पुद्गलसों। यह करतूति यों जुदाइ करे जगत सों, पावक ज्यों भिन्न करे कंचन उपल सों ॥ २३ ॥

परमार्थकी शिक्षा कथन। सवैया ३१ सा।

बनारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख, केहू भाँति कैसेंहूँ के ऐसो काज कीजिये। एकहू मुहूरत मिथ्यात्वको विध्वंस होइ, ज्ञानको जगाय अंसहंस खोज लीजिये॥ वाहीको विचार वाको ध्यान यह कौतूहल, योंही भर जन्म परम रस पीजिये। तजिये भववासको विलास सविकाररूप, अंत कर मोहको अनंतकाल जीजिये ॥ २४ ॥

निश्चय आत्मस्वरूप कथन। अडिल्ल छंद।

कहै विचक्षण पुरुष सदा हूँ एक हों।
अपने रस सूं भरयो आपनी टेक हों॥

मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है।
शुद्ध चेतना सिंधु हमारो रूप है॥ ३२॥

ज्ञान व्यवस्था कथन। सवैया ३१ सा।

तत्त्वकी प्रतीतिसों लख्यो है निजपरगुण, दृग ज्ञान चरण त्रिविधि परिणयो है। विशद विवेक आयो आछो विसराम पायो, आपुहीमें आपनो सहारो सोधि लयो है॥ कहत बनारसी गहत पुरुषारथको, सहज स्वभावसों विभाव मिटि गयो है। पन्नाके पकायें जैसे कंचन विमल होत, तैसे शुद्ध चेतन प्रकाश रूप भयो है॥ ३३॥

❀ इति श्री समयसार नाटकका प्रथम जीवद्वार समाप्त भया ❀

। द्वितीय अजीवद्वार प्रारंभ ॥ २॥

वस्तु स्वरूप कथन। दोहा।

चेतनवंत अनंतगुण, सहित सु आतमराम।
याते अनमिल और सर्व, पुद्गलके परिणाम॥ ४॥

अनुभव प्रशंसा कथन। कवित्त।

जब चेतन संभारि निज पौरुष, निरखे निज दृगसों निज मर्म। तब सुखरूप विमल अविनाशिक, जाने जगत शिरोमणि धर्म॥ अनुभव करै शुद्ध चेतनको, रमे स्वभाव वमे सब कर्म। इहि विधि सधे मुकतिको मारग, अरु समीप आवै शिवशर्म॥ ५॥

। दोहा ।

वरणादिक रागादि जड़, रूप हमारो नांहि ।
एक ब्रह्म नहि दूसरो, दीसे अनुभव मांहि ॥ ६ ॥
खांडो कहिये कनकको, कनक म्यान संयोग ।
न्यारो निरखत म्यानसों, लोह कहे सब लोग ॥ ७ ॥
वरणादिक पुद्गल दशा, धरे जीव बहुरूप ।
वस्तु विचारत करमसों, भिन्न एक चिद्रूप ॥ ८ ॥
ज्यौं घट कहिये घीवको, घटको रूप न घीव ।
त्यौं वर्णादिक नामसों, जड़ता लहै न जीव ॥ ९ ॥
निराबाध चेतन अलख, जाने सहज सुकीव ।
अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगतमें जीव ॥ १० ॥

अनुभव विधान कथन । सवैया ३१ सा ।

रूप रसवंत मूरतीक एक पुदगल, रूप बिन और यों अजीव द्रव्य द्विधा है । च्यार हैं अमूरतीक, जीव भी अमूरतीक, याहीतैं अमूरतीक वस्तु ध्यान मुधा है ॥ औरसों न कबहू प्रगट आपा आपहीसों, ऐसो थिर चेतन स्वभाव शुद्ध सुधा है । चेतनको अनुभौ आराधे जग तेई जीव, जिन्हके अखंड रस चाखवेकी क्षुधा है ॥ ११ ॥

ज्ञाताका विलास कथन । सवैया २३ सा ।

या घटमें भ्रमरूप अनादि, विलास महा अविवेक अखारो । तामें और सरूप न दीसत, पुद्गल नृत्य करै अति भारो ॥ फेरत भेष दिखावत कौतुक, मौज लिये वरणादि पसारो । मोहसों भिन्न जुदो जड़सों चिन,-मूरति नाटक देखनहारो ॥ १३ ॥

ज्ञान विलास कथन । सवैया ३१ सा ।

जैसे करवत एक काठ वीच खंड करे, जैसे राजहंस निरवारे दूध जलकों । तैसे भेदज्ञान निज भेदक शकति सेती, भिन्न भिन्न करे चिदानंद पुद्गलकों ॥ अवधिकों धावे मनपर्येकी अवस्था पावे, उमगिके आवे परमावधिके थलकों । याही भाँति पूरण सरूपको उदोत धरे, करे प्रतिबिंबित पदारथ सकलकों ॥ १४ ॥

❀ द्वितीय अजीवद्वार समाप्त हुआ ❀

तृतीय कर्ताकर्म क्रियाद्वार प्रारंभ ॥३॥

भेदविज्ञानका माहात्म्य । सवैया ३१ सा ।

प्रथम अज्ञानी जीव कहे मैं सदीव एक, दूसरो न और मैं ही करता करमको । अंतर विवेक आयो आपा पर भेद पायो, भयो वोध गयो मिटि भारत भरमको ॥ भासे छहो

दरबके गुण परजाय सब, नासे दुख लख्यो सुख पूरण परमको । करमको करतार मान्यो पुद्गल पिंड, आप करतार भयो आतम धरमको ॥२॥ जाही समै जीव देह बुद्धिको विकार तजे, वेदत स्वरूप निज भेदत भरमको । महा परचंड मति मंडन अखंड रस अनुभौ अभ्यास परकासत परमको ॥ ताही समै घटमें न रहे विपरीत भाव, जैसे तम नासे भानु प्रगटि धरमको । ऐसी दशा आवे जब साधक कहावे तब करता ह्वै कैसे करे पुद्गल करमको ॥३॥

प्रथम आत्माकूं कर्मको कर्ता माने पीछे अकर्ता माने है । सवैया ३१ सा ।

जगमें अनादिको अज्ञानी कहै मेरो कर्म करता मैं याको किरियाको प्रतिपाखी है । अंतर सुमति भासी जोगसूं भयो उदासी, ममता मिटाय परजाय बुद्धि नाखी है ॥ निरभै स्वभाव लीनो अनुभौको रस भीनो, कीनो व्यवहार दृष्टि निहचेमें राखी है । भरमकी डोरी तोरी धरमको भयो धोरी, परमसों प्रीति जोरी करमको साखी है ॥४॥

ज्ञानको सामर्थ्य कहे हैं । सवैया ३१ सा ।

जैसे जे दरव ताके तैसे गुण परजाय, ताहीसों मिलत पै मिले न काहु आनसों । जीव वस्तु करम जड़ जाति

भेद, अभिल अभिलाप ज्यों नितंब जुरे कानसों ॥ ऐसो सुविवेक जाके हिरदै प्रगट भयो, ताको भ्रम गयो ज्यों तिमिर भागे भानसौं । सोई जीव करमको करता सो दीसे पैहि, अकरता कह्यो शुद्धताके परमानसों ॥५॥

जीव और पुद्गलका जुदा जुदा लक्षण ।

छप्पय छन्द ।

जीव ज्ञानगुण सहित, आपगुण परगुण ज्ञायक ।
आपा परगुण लखे, नांहि पुदगल इहि लायक ॥
जीवरूप चिद्रूप सहज, पुदगल अचेत जड़ ।
जीव अमूरत मूरतीक, पुदगल अंतर वड़ ॥
जबलग न होय अनुभौ प्रगट, तबलग मिथ्यामति लसै ।
करतार जीव जड़ करमको, सुबुधि विकाशक भ्रम नसै ॥६॥

दोहा ।

कर्ता परिणामी दरब, कर्मरूप परिणाम ।
क्रिया पर्ययकी फिरन, वस्तु एक त्रय नाम ॥ ७ ॥
कर्ता कर्म क्रिया करे, क्रिया कर्म करतार ।
नाम भेद बहुविधि भयो, वस्तु एक निर्धार ॥ ८ ॥
एक कर्म कर्तव्यता, करे न कर्ता दोय ।
दुधा द्रव्य सत्ता सु तो, एक भाव क्यों होय ॥ ९ ॥

कर्ता कर्म और क्रियाको विचार कहे हैं।

सवैया ३१ सा।

एक परिणामके न कर्ता दरवदोय, दोय परिणाम एक द्रव्य न धरत है। एक करतूति दोय द्रव्य कबहूँ न करे, दोय करतूति एक द्रव्य न करत है॥ जीव पुद्गल एक खेत अवगाहि दोउ, अपने अपने रूप कोउ न टरत है। जड़ परिणामनि को करता है पुद्गल, चिदानंद चेतन स्वभाव आचरत है॥ १०॥

यथा कर्म तथा कर्ता एकरूप कथन।

सवैया ३१ सा।

शुद्ध भाव चेतन अशुद्ध भाव चेतन, दुहूँको करतार जीव और नहिं मानिये। कर्मपिंडको विलास वर्ण रस गंध फास, करता दुहूँको पुद्गल परमानिये॥ तातें वर्णादि गुण ज्ञानावर्णादि कर्म, नाना परकार पुद्गलरूप जानिये। समल विमल परिणाम जे जे चेतनके, ते ते सब अलख पुरुष यों बखानिये॥ १२॥

मिथ्यात्वी जीव कर्मको कर्ता माने है सो भ्रम है। सवैया ३१ सा।

जैसे महा धूपके तपतिमें तिसाये मृग, भरमसें मिथ्याजल पीवनेकों धायो है। जैसे अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर,

भरमसों डरपि सरप मानि आयो है ॥ अपने स्वभाव जैसे सागर है थिर सदा, पवन संयोगसों उछरि अकुलायो है ॥ तैसे जीव जड़सों अव्यापक सहजरूप, भरमसों करमको कर्ता कहायो है ॥१४॥

सम्यक्त्वी भेदज्ञानते कर्मके कर्ताका भ्रम दूर करे है ते ऊपर दृष्टांत।

जैसे राजहंसके वदनके सपरसत, देखिये प्रगट न्यारो छीर न्यारो नीर है। तैसे समकितीके सुदृष्टिमें सहजरूप न्यारो जीव न्यारो कर्म न्यारो ही शरीर है ॥ जब शुद्ध चेतनके अनुभौ अभ्यासें तब, भासे आप अचल न दूजो और सीर है। पूरव करम उदै आइके दिखाई देइ, कर्ता न होइ तिन्हको तमासगीर है ॥ १५ ॥

दोहा।

ज्ञानभाव ज्ञानी करै, अज्ञानी अज्ञान।
द्रव्य कर्म पुद्गल करे, यह निश्चै परमाण ॥१७॥
ज्ञान स्वरूपी आतमा, करे ज्ञान नहिं और।
द्रव्य कर्म चेतन करे, यह व्यवहारी दौर ॥१८॥

शिष्यप्रश्न—कर्तृत्व कथन। सवैया २३ सा।

पुद्गल कर्म करे नहिं जीव, कही तुम मैं समझी नहिं तैसी। कौन करे यह रूप कहो, अब को कर्ता करनी कहु

कैसी ॥ आप ही आप मिलै विछुरे जड़, क्योंकर मो मन संशय ऐसी । शिष्य संदेह निवारण कारण, बात कहे गुरु है कछु जैसी ॥ १९ ॥

दोहा ।

पुद्गल परिणामी दरव, सदा परणवे सोय ।
याते पुद्गल कर्मका, पुद्गल कर्ता होय ॥ २० ॥

पुनः शिष्य प्रश्नः—अडिल्ल छंद ।

ज्ञानवंतको भोग निर्जरा हेतु है । अज्ञानीको भोग बंध फल देतु है ॥ यह अचरजकी बात हिये नहि आवही । पूछे कोऊ शिष्य गुरु समझावही ॥ २१ ॥

शिष्यका संदेह निवारणेके लिये गुरु यथार्थ उत्तर कहे हैं । सवैया ३१ सा ।

दया दान पूजादिक विषय कषायादिक, दुहूँ कर्म भोगै पै दुहूको एक खेत है । ज्ञानी मूढ़ करम करत दीसे एकसे पै परिणाम, भेद न्यारो न्यारो फल देत है ॥ ज्ञानवंत करनी करे पै उदासीन रूप, ममता न धरे ताते निर्जराको हेतु है । वह करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप, अंध भयो ममतासों बंध फल लेत है ॥ २२ ॥

निश्चयसे जीवकूं अकर्त्ता मानि आत्मानुभवमें रहे हैं ताका माहात्म्य कहे हैं। सवैया २३ सा।

जे न करें नय पक्ष विवाद, धरे न विषाद अलीक न भाखे। जे उद्वेग तजे घट अंतर, सीतल भाव निरंतर राखे॥ जे न गुणी गुण भेद विचारत, आकुलता मनकी मन नाखे। ते जगमें धरि आतम ध्यान, अखंडित ज्ञान सुधारस चाखे॥ २४॥

निश्चयसे अकर्त्तापणा और व्यवहारसे कर्तापणा स्थापन करि बतावे है। सवैया ३१ सा।

व्यवहार दृष्टिसों विलोकत बंध्योसो दीसे, निहचे निहारत न बांध्यो यहु किनही। एक पक्ष बंध्यो एक पक्षसों अबंध सदा, दोउ पक्ष अपने अनादि धरे इनही॥ कोउ कहे समल, विमलरूप कोउ कहे, चिदानंद तैसो ही बखान्यो जैसे जिन ही। बंध्यो माने खुल्यो माने द्वै नयके भेद जाने, सोई ज्ञानवंत जीव तत्त्व पायो तिनही॥ २५॥

दोऊ नयकूं जानकर समरस भावमें रहे है ताकी प्रशंसा। सवैया ३१ सा।

प्रथम नियत नय दूजो व्यवहार नय, दुहूकों फलावत अनंत भेद फले है। ज्यों ज्यों नय फैलें त्यों त्यों मनके

कल्लोल, फैले, चंचल सुभाव लोकालोकलों उछले है ॥ ऐसी नय कच ताकी पच्छ तजि ज्ञानी जीव, समरसी भये एकतासों नहिं टले है। महा 'मोह' नासे शुद्ध अनुभौ अभ्यासे निज, वल परगासि सुखरासि मांहि रले है॥२६॥

ज्ञाता होय सो आत्मानुभवमें विचार करे है।

सवैया ३१ सा।

जैसे महा रतनकी ज्योतिमें लहरि उठे, जलकी तरंग जैसे लीन होय जलमें। तैसे शुद्ध आतम दरव परजाय करि, उपजे विनसे थिर रहे निज थलमें॥ ऐसो अविकलपी अजलपी आनंद रूपि, अनादि अनंत गहि लीजे एक पलमें। ताको अनुभव कीजे परम पीयूष पीजे, बंधकों विलास डारि दीजे पुदगलमें॥ २८॥

आत्माका शुद्ध अनुभव है सो परम पदार्थ है ताकी प्रशंसा। सवैया ३१ सा।

द्रव्यार्थिक नय परयायार्थिक नय दोउ, श्रुत ज्ञानरूप श्रुतज्ञान तो परोख है। शुद्ध परमातमाको अनुभौ प्रगट ताते, अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है॥ अनुभौ प्रमाण भगवान् पुरुष पुराण, ज्ञान औ विज्ञानघन महा सुख पोख है। परम पवित्र यो अनंत नाम अनुभौके, अनुभौ विना न कहूँ और ठौर मोख है॥ २९॥

दोहा

निशि दिन मिथ्याभाव बहु, धरै मिथ्याती जीव ।
ताते भावित कर्मको, कर्त्ता कह्यो सदीव ॥ ३१ ॥

मूढ़ मिथ्यात्वी है सो कर्मको कर्त्ता है और ज्ञानी अकर्त्ता है सो कहे है । चौपाई ।

करे करम सोई करतारा । जो जाने सो जानन हारा ॥
जो करता नहिं जाने सोई । जाने सो करता नहि होई ॥३२॥

मिथ्यात्वी है सो द्रव्यकर्मका कर्त्ता नहीं, भावकर्मका कर्त्ता है । छप्पय छंद ।

करम पिंड अरु राग भाव, मिलि एक होय नहि ।
दोऊ भिन्न स्वरूप वसहि, दोऊ न जीव महि ॥
करम पिंड पुद्गल, भाव, रागादिक मूढ भ्रम ।
अलख एक पुद्गल अनंत, किम धरहि प्रकृति सम ॥
निज निज विलास जुत जगत महि, जथा सहज परिणमहि तिम । करतार जीव जड़ करमको, मोह विकल जन कहहि इम ॥ ३४ ॥

❀ कर्त्ता कर्म क्रिया तृतीय द्वार समाप्त ❀

अथ पुण्य पाप एकत्व करण चतुर्थद्वार प्रारंभ ॥४॥

मोहते शुभ अरु अशुभ कर्मकी द्विधा दीखे है सो एकरूप दिखावे है । सवैया ३१ सा ।

जैसे काहु चंडाली जुगल पुत्र जने तिन, एक दीयो

बामनकूं एक घर राख्या है। बामन कहायो तिन मद्य मांस त्याग कीनो, चांडाल कहायो तिन मद्यमांस चाख्यो है ॥ तैसे एक वेदनी करमके जुगल पुत्र, एक पाप एक पुन्य नाम भिन्न भाख्यो है। दुहूं माहि दौर धूप दोऊ कर्म बंध रूप, याते ज्ञानवंत कोउ नांहि अभिलाख्यो है ॥३॥

मोक्षमार्गमें पापपुण्यका त्याग कह्या तिस मोक्ष पद्धतिका स्वरूप कहे है। सवैया ३१ सा।

शील तप संयम विरति दान पूजादिक, अथवा असंयम कषाय विषै भोग है। कोउ शुभरूप कोउ अशुभ स्वरूप मूल, वस्तुके विचारत दुविध कर्म रोग है ॥ ऐसी बंद पद्धति बखानी वीतराग देव, आतम धरममें करत त्याग जोग है। भौ जल तरैया रागद्वेषके हरैया महा, मोक्षके करैया एक शुद्ध उपयोग है ॥ ७ ॥

मोक्ष प्राप्तिका कारण अंतर दृष्टि है सो कहे है।

सोरठा।

अंतर दृष्टि लखाव, अर स्वरूपको आचरण।
ए परमातम भाव, शिव कारण येई सदा ॥ १० ॥

बंध होनेका कारण बाह्यदृष्टि है सो कहे है।

सोरठा।

कर्म शुभाशुभ दोय, पुदगलपिंड विभाव मल।
इनसों मुक्ति न होय, नांही केवल पाइये ॥ ११ ॥

ज्ञान मात्र मोक्षमार्ग है सो कहे है।

सवैया ३१ सा।

मुकतिके साधककों बाधक करम सब, आतमा अनादिको करम मांहि लुक्यो है। येतेपरि कहे जो कि पाप बुरो पुन्य भलो, सोइ महा मूढ़ मोक्ष मारगसों चुक्यो है॥ सम्यक् स्वभाव लिये हियेमें प्रगट्यो ज्ञान, ऊरध उमंगि चल्यो काहूपै न रुक्यो है। आरसीसो उज्जल 'बनारसी' कहत आप, कारण स्वरूप ह्वैके कारिजको ढुक्यो है॥ १२॥

ज्ञान का अर कर्मका ब्यौरा कहे है।

सवैया ३१ सा।

जोलों अष्ट कर्मको विनाश नाहि सर्वथा, तोलों अंतरातमामें धारा दोई बरनी। एक ज्ञानधारा एक शुभाशुभ कर्मधारा, दुहूकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी। इतनो विशेष जु करम धारा बंध रूप, पराधीन शकति विविध बंध करनी। ज्ञान धारा मोक्षरूप मोक्षकी करनहार, दोषकी हरनहार भौ समुद्र तरनी॥ १४॥

मोक्ष-प्राप्ति ज्ञान अर क्रियाते होय ऐसा जो स्याद्वाद है तिनकी प्रशंसा करे है। सवैया ३१ सा।

समुझे न ज्ञान कहे करम कियेसों मोक्ष, ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमें। ज्ञान पक्ष गहे कहे आतमा

अबंध सदा, वरते सुछंद तेउ डूबे है चहलमें ॥ जथा योग्य करम करे पै ममता धरै न, रहे सावधान ज्ञान ध्यानकी टहलमें । तेई भव सागरके उपर ह्वै तरे जीव, जिन्ह को निवास स्यादवादके महलमें ॥ १५ ॥

❀ पुण्यपाप एकत्वकरण चतुर्थद्वार समाप्त भया ❀

अथ पंचम आश्रवद्वार प्रारंभ ॥ ५ ॥

द्रव्य आस्रवका औ भाव आस्रवका तथा सम्यक्ज्ञानका लक्षण कहै है । सवैया २३ सा ।

दर्वित आस्रव सो कहिये जिहिं, पुद्गल जीव प्रदेश गरासे ।
भावित आस्रव सो कहिये जिहिं, राग विमोह विरोध विकासे ॥
सम्यक् पद्धति सो कहिये जिहिं, दर्वित भावित आश्रव नासे ।
ज्ञानकला प्रगटे तिहि थानक, अंतर बाहिर और न भासे ॥३॥

ज्ञाना निराश्रवी है सो कहे हैं । चौपाई ।

जो द्रव्याश्रव रूप न होई । जहँ भावाश्रव भाव न कोई ॥
जाकी दशा ज्ञानमय लहिये । सो ज्ञातार निराश्रव कहिये ॥४॥

ज्ञाताका सामर्थ्य (निराश्रवपणा) कहे हैं ।

सवैया ३१ सा ।

जेते मन गोचर प्रगट बुद्धि पूरवक, तिन परिणामनकी ममता हरतु है । मनसो अगोचर अबुद्धि पूरवक भाव,

तिनके विनाशवेको उद्यम धरतु है ॥ याही भाँति पर पर-
णतिको पतन करे, मोक्षको जतन करे भौ जल तरतु है।
ऐसे ज्ञानवंत ते निराश्रव कहावे सदा, जिन्हको सुजस
सुविचक्षण करतु है ॥ ५ ॥

दोहा।

जो हित भावसु राग है, अनहित भाव विरोध।
भ्रामक भाव विमोह है, निर्मल भावसु बोध ॥ ८ ॥
राग विरोध विमोह मल, येई आश्रव मूल।
येई कर्म बढ़ाइके, करे धरमकी भूल ॥ ९ ॥
जहाँ न रागादिक दशा, सो सम्यक् परिणाम।
याते सम्यक्वंतको, कह्यो निराश्रव नाम ॥ १० ॥

ज्ञाता निराश्रवपणामें विलास करे है सो कहे हैं।

सवैया ३१ सा।

जे कोई निकट भव्यरासी जगवासी जीव, मिथ्यामत
भेदि ज्ञान भाव परिणये हैं। जिन्हके सुदृष्टिमें न राग
द्वेप मोह कहूँ, विमल विलोकनिमें तीनों जोति लये हैं॥
तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि जोग, शुद्ध उपयोगकी
दशामें मिलि गये हैं। तेई बंध पद्धति विडारि पर संग
झारि, आप में मगन ह्वै के आप रूप भये हैं॥ ११ ॥

ज्ञाताके क्षयोपशम भावते तथा उपशम भावते चंचलपणा है सो कहे है।

जेते जीव पंडित क्षयोपशमी उपशमी, इनकी अवस्था ज्यों लुहारकी संडासी है। छिन आगि मांहि छिन पानी मांहि तैसे येउ, छिनमें मिथ्यात छिन ज्ञानकला भासी है॥ जोलों ज्ञान रहे तोलों सिथल चरण मोह, जैसे कीले नागकी शकति गति नासी है। आवत मिथ्यात तब नाना रूप बंध करे, जेउ कीले नागकी शकति परगासी है॥१२॥

दोहा।

यह निचोर या ग्रंथको, यहे परम रस पोख।
तजे शुद्धनय बंध है, गहे शुद्धनय मोख॥ १३ ॥

जीवके बाह्यविलास अंतरविलास बतावे है।

सवैया ३१ सा।

करमके चक्रमें फिरत जगवासी जीव, है रह्यो बाहिर मुख व्यापत विषमता। अंतर सुमति आई विमल बड़ाई पाई, पुद्गलसों प्रीति टूटी छूटी माया ममता॥ शुद्धनै निवास कीनो अनुभौ अभ्यास लीनो, भ्रमभाव छांड़ि दीनो भीनो चित्त समता। अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसो, पद अवलंबि अवलोके राम रमता॥ १४ ॥

आत्माका शुद्धपणा सम्यग्दर्शन है तिसकी प्रशंसा करे है । सवैया ३१ सा ।

जाके परकाशमें न दीसे राग द्वेष मोह, आस्रव मिटत नहि बंधको तरस है । तिहुँ काल जामें प्रतिबिंबित अनंतरूप, आपहु अनंत सत्ताऽनंततें सरस है ॥ भावश्रुत ज्ञान परिणाम जो विचारि वस्तु, अनुभौ करै न जहाँ वाणीको परस है । अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम, चिदानंद नाम ऐसो सम्यक् दरस है ॥१५॥

❀ इति पंचम आश्रवद्वार समाप्त भया ❀

अथ छट्ठो संवरद्वार प्रारंभ ॥ ६ ॥

ज्ञानसे जड़ और चेतनका भेद समझे तथा संवर है तिस ज्ञानकी महिमा कहे है ।

सवैया २३ सा ।

शुद्ध सुछंद अभेद अबाधित, भेद विज्ञान सु तीछन आरा । अंतर भेद स्वभाव विभाव, करे जड़ चेतनरूप दुफारा ॥ सो जिन्हके उरमें उपज्यो, ना रुचे तिन्हको परसंग सहारा । आतमको अनुभौ करिते, हरखे परखे परमातम प्यारा ॥३॥

संवरका कारण सम्यक्त्व है ताते सम्यक्दृष्टिकी महिमा कहे है । सवैया २३ सा ।

भेदि मिथ्यात्व सु वेदि महारस, भेद विज्ञानकला जिनि

पाई । जो अपनी महिमा अवधारत, त्याग करे उरसों जु पराई ॥ उद्धत रीत वसे जिनके घट, होत निरतंर ज्योति सवाई । ते मतिमान सुवर्ण समान, लगे तिनको न शुभाशुभ काई ॥ ५ ॥

दोहा ।

भेदज्ञान तवलौं भलो, जबलौं मुक्ति न होय ।
परम ज्योति परगट जहाँ, तहाँ विकल्प न कोय ॥७॥

मुक्तीको उपाय भेद ज्ञान है उसकी महिमा कहे है ।

चौपाई ।

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायो । सो चेतन शिवरूप कहायो ।
भेदज्ञान जिन्हके घट नांही । ते जड़ जीव बंधे जग माहीं॥८

दोहा ।

भेदज्ञान साबू भयो, समरस निर्मल नीर ।
धोबी अंतर आतमा, धोवे निजगुण चीर ॥९॥

भेदज्ञानकी जो क्रिया है सो दृष्टांतते कहे है ।

सवैया ३१ सा ।

जैसे रज सोधा रज सोधिके दरव काढ़े, पावक कनक काढ़े दाहत उपलको । पंकके गरभमें ज्यों डारिये कतक फल, नीर करे उज्जल नितोर डाले मलको ॥ दधिके मथैया मथि

काढ़े जैसे माखनको, राजहंस जैसे दूध पीवे त्यागि जलको।
तैसे ज्ञानवंत भेदज्ञानकी शकति साधि, वेदे निज संपत्ति
उच्छेदे पर दलको ॥ १० ॥

मोक्षका मूल भेदज्ञान है सो कहे है। छप्पय छंद।

प्रगट भेद विज्ञान, आप गुण परगुण जाने।
पर परणति परित्याग, शुद्ध अनुभौ थिति ठाने॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परकासे।
आश्रव द्वार निरोधि, कर्मघन तिमिर विनासे॥
क्षय करि विभाव समभाव भजि, निरविकल्प निजपद गहे।
निर्मल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, परम अतींद्रिय सुख लहे॥११॥

❀ इति छट्ठो संवरद्वार समाप्त भया ❀

अथ सप्तम निर्जराद्वार प्रारंभ ॥ ७ ॥

निर्जराका कारण सम्यक् ज्ञान है तिस ज्ञानकी
महिमा कहे है। दोहा।

महिमा सम्यक्ज्ञानकी, अरु विराग बलजोय।
क्रिया करत फल भुंजते, कर्मबंध नहिं होय ॥ २ ॥

सोरठा।

पूर्व उदे संबंध, विषय भोगवे समकिती।
करे न नूतन बंध, महिमा ज्ञान विरागकी ॥ ३ ॥

सम्यक्ती है सो ज्ञान अर वैराग्यकूं साधे है ; सो कहे हैं । सवैया २३ सा ।

सम्यक्वंत सदा उर अंतर, ज्ञान विराग उभै गुण धारे । जासु प्रभाव लखे निज लक्षण, जीव अजीव दशा निरवारे ॥ आतमको अनुभौ करि ह्वै थिर, आप तरे अरु औरनि तारे । साधि स्वद्रव्य लहे शिव शर्म सो, कर्म उपाधि व्यथा वमि डारे ॥ ६ ॥

विषयके अरुचि विना चरित्रका बल निष्फल है सो कहे है । सवैया २३ सा ।

जो नर सम्यक्वंत कहावत, सम्यक्ज्ञान कला नहिं जागी । आतम अंग अबंध विचारत, धारत संग कहे हम त्यागी ॥ भेष धरे मुनिराज पटंतर, अंतर मोह महानल दागी । सून्य हिये करतूति करे परि सो सठ जीव न होय विरागी ॥ ७ ॥

भेदज्ञान विना समस्त क्रिया (चारित्र) असार है सो कहे हैं । सवैया २३ सा ।

ग्रंथ रचे चरचे शुभ पंथ, लखे जगमें विवहार सुपत्ता । साधि संतोष अराधि निरंजन, देई सुसीख न लेइ अदत्ता ॥ नंग धरंग फिरे तजि संग, छके सरवंग मुधा रस मत्ता । ए करतूति करे सठ पै, समुझे न अनातम आतम सत्ता ॥८

चौपाई ।

जो बिन ज्ञानक्रिया अवगाहे । जो बिन क्रिया मोक्षपद चाहे ॥
जो बिन मोक्ष कहे मैं सुखिया । सो अजान मूढ़नमें मुखिया॥१०॥

दोहा ।

इह विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव ।
जे सोवहिं संसारमें, ते जगवासी जीव ॥ १५ ॥
जो पद भौपद भय हरे, सो पद सेउ अनूप ।
जिहि पद परसत और पद, लगे आपदा रूप ॥ १६ ॥

ज्ञान विना मोक्ष प्राप्ति नहीं सो कहे हैं ।

सवैया ३१ सा ।

कोई क्रूर कष्ट सहे तपसों शरीर दहे, धूम्रपान करे अधोमुख ह्वैके भूले हैं । केई महाव्रत गहे क्रियामें मगन रहे, वहे मुनिभार पै पयार कैसे पूले हैं ॥ इत्यादिक जीवनिको सर्वथा मुकति नांहि, फिरे जगमांहि ज्यों बयारके बघूले हैं । जिन्हके हियेमें ज्ञान तिन्हही को निरवाण, करमके करतार भरममें भूले हैं ॥ २० ॥

दोहा ।

लीन भयो व्यवहारमें, उक्ति न उपजे कोय ।
दीन भयो प्रभुपद जपे, मुक्ति कहांते होय ॥ २१ ॥

प्रभु सुमरो पूजो पढ़ो, करो विविध व्यवहार ।
मोक्ष स्वरूपी आतमा, ज्ञान गम्य निरधार ॥ २२ ॥

सवैया २३ सा ।

ज्ञान उदै जिह्नके घट अंतर, ज्योति जगी मति होत न मैली । बाहिज दृष्टि मिटी जिन्हके हिय, आतम ध्यान-कला विधि फैली ॥ जे जड़ चेतन भिन्न लखेसों, विवेक लिये परखे गुण थैली । ते जगमें परमारथ जानि, गहे रुचि मानि अध्यातम सैली ॥ २४ ॥

दोहा ।

बहुविधि क्रिया कलेशसों, शिवपद लहे न कोय ।
ज्ञानकला परकाशते, सहज मोक्षपद होय ॥ २५ ॥
ज्ञानकला घटघट बसे, योग युक्तिके पार ।
निजनिज कला उदोतकरि, मुक्त होइ संसार ॥ २६ ॥

अनुभवी ज्ञानीका सामर्थ्य कहे हैं ।

सवैया ३१ सा ।

जिन्हके हियेमें सत्य सूरज उद्योत भयो, फैली मति-किरण मिथ्याततम नष्ट है । जिन्हके सुदृष्टिमें न परचे विषमतासों समतासों प्रीति ममतासों लष्ट पुष्ट है ॥ जिन्हके कटाक्षमे सहज मोक्षपथ सधे साधन निरोध जाके तनको

न कष्ट है। तिन्हके करमकी किलोल यह है समाधी, डोले यह जोगासन बोले यह मिष्ट है॥ २८॥

चौपाई।

पूरव कर्म उदै रस भुंजे। ज्ञान मगन ममता न प्रयुंजे॥
मनमें उदासीनता लहिये। यों बुध परिग्रहवंत न कहिये॥३१

ज्ञानीका अवांछक गुण दिखावे हैं।

सवैया ३१ सा।

जे जे मनवांछित विलास भोग जगतमें, ते ते विनासीक सब राखे न रहत हैं। और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिणाम, ते ते विनासीक धाररूप ह्वै बहत हैं॥ एकता न दुहो मांहि ताते वांछा फुरे नाहिं, ऐसे भ्रम कारिजको मूरख चहत है। सतत रहे सचेत परसों न करें हेत, यातें ज्ञानवंतको अवंछक कहत है॥ ३२॥

सवैया ३१ सा।

जैसे फिटकरी लोद हरडेकी पुट विना, श्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रंग नीरमें। भीग्या रहे चिरकाल सर्वथा न होइ लाल, भेदे नहि अंतर सुपेदी रहे चीरमें॥ तैसे समकितवंत राग द्वेष मोह विन, रहे निशि वासर परिग्रहकी भीरमें। पूरव करम हरे नूतन न बंध करे, जाचे न जगत सुख राचे न शरीरमें॥३३॥

दोहा।

ज्ञानी ज्ञान मगन रहे, रागादिक मल खोय।
चित उदास करणी करे, कर्मबंध नहिं होय ॥ ३५ ॥
मोह महातम मल हरे, धरे सुमति परकास।
मुक्ति पंथ परगट करे, दीपक ज्ञान विलास ॥३६॥

ज्ञानरूप दीपकका स्वरूप कहे हैं।

सवैया ३१ सा।

जामें धूमको न लेश वातको न परवेश, करम पतंगनि को नाश करे पलमें। दशाको न भोग न सनेहको संयोग जामें, मोह अंधकारको वियोग जाके थलमें ॥ जामें न तताई नहिं राग रंकताई रंच, लहलहे समता समाधि जोग जलमें। ऐसे ज्ञानदीपकी सिखा जगी अभंग रूप, निराधार पूरि पै दूरी है पुदगलमें ॥३७॥

सद्गुरु मोक्षका उपदेश करे हैं।

सवैया ३१ सा।

जोलों ज्ञानको उद्योत तोलों नहिं बंध होत, वरते मिथ्यात्व तब नाना बंध होहि है। ऐसो भेद सुनके लग्यो तूं विषय भोगनसूं जोगिनीसूं उद्यमकी रीति तैं विछोहि है॥ सुनो भैया संत तूं कहे मैं समकितवंत, यहू तो एकंत परमेश्वरका

द्रोही है। विषयसूं विमुख होहि अनुभौ दशा हरोहि मोक्ष सुख ढोहि तोहि ऐसी मति सोही है ॥३९॥

चौपाई।

ज्ञानकला जिनके घट जागी, ते जगमाहिं सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषै सुखमांहीं, यह विपरीति संभवे नाहीं ॥४०॥

दोहा।

ज्ञान शक्ति वैराग्य बल, शिव साधै समकाल।
ज्यों लोचन न्यारे रहे, निरखें दोऊ ताल ॥४१॥

चौपाई।

मूढ़ कर्मको कर्ता होवे। फल अभिलाष धरे फल जोवे।
ज्ञानी क्रिया करे फल सूनी। लगे न लेप निर्जरा दूनी ॥४२॥

दोहा।

बंधे कर्मसों मूढ़ ज्यों, पाट कीट तन पेम।
खुले कर्मसों समकिती, गोरख धंदा जेम ॥४३॥

ज्ञानी है सो कर्मका कर्त्ता नहीं है सो कहे है।

सवैया २३ सा।

जे निज पूरव कर्म उदै सुख, भुंजत भोग उदास रहेंगे।
जे दुखमें न विलाप करें, निरवैर हिये तन ताप सहेंगे ॥

है जिनके दृढ़ आतम ज्ञान, क्रिया करिके फलको न चहेंगे।
ते सु विचक्षण ज्ञायक है, तिनको करता हमतो न कहेंगे ॥४४॥

ज्ञानीका आचार विचार कहे हैं। सवैया ३१ सा।

जिन्हके सुदृष्टीमें अनिष्ट इष्ट दोउ सम, जिन्हको आचार सु विचार शुभ ध्यान है। स्वारथको त्यागि जे लगे हैं परमारथको, जिन्हके बनिजमें नफा है न ज्यान है॥ जिन्हके समझमें शरीर ऐसो मानियत, धानकीसो छीलक कृपाणकोसो म्यान है। पारखी पदारथके साखी भ्रम भारथके, तेई साधु तिनहीका यथारथ ज्ञान है॥ ४५॥

सम्यक्तके अष्ट अंगका स्वरूप कहे हैं।

सवैया ३१ सा।

धर्ममें न संशै शुभ कर्म फलकी न इच्छा, अशुभको देखि न गिलानि आने चित्त में। साचि दृष्टि राखे काहू प्राणीको न दोष भाखे, चंचलता भानि थिति ठाणे बोध चित्तमें॥ प्यार निज रूपसों उच्छाहकी तरंग उठे, एइ आठो अंग जब जागे समकितमें। ताहि समकितकों धरेंसो समकितवंत, वेहि मोक्ष पावे वो न आवे फिर इतमें।।५९॥

ज्ञानचेतना अर कर्मचेतनाका वर्णन।

सवैया ३१ सा।

जहाँ परमातमकलाको प्रकाश तहाँ, धरम धरामें

सत्य सूरजकी धूप है। जहाँ शुभ अशुभ करमको गढांस तहाँ मोहके विलासमें महाअंधेर कूप है॥ फेली फिरे घटासी छटासी घन घटा बीच, चेतनकी चेतना दुहूँधा गुपचूप है। बुद्धीसों न गही जाय बैनसों न कही जाय, पानीकी तरंग जैसे पानीमें गुडूप है॥ ३॥

कर्मबंधका कारण रागादिक अशुद्ध उपयोग है।

सवैया ३१ सा।

कर्मजाल वर्गणासों जगमें न बंधे जीव, बंधे न कदापि मन वच काय जोगसों। चेतन अचेतनकी हिंसासों न बंधे जीव, बंधे न अलख पंच विषै विष रोगसों॥ कर्मसों अबंध सिद्ध जोगसों अबंध जिन, हिंसासों अबंध साधु ज्ञाता विषै भोगसों। इत्यादिक वस्तुके मिलापसों न बंधे जीव, बँधे एक रागादि अशुद्ध उपयोगसों॥ ४॥

कर्मबंधका कारण अशुद्ध उपयोग है।

सवैया ३१ सा।

कर्मजाल वर्गणाको वास लोकाकाश मांहि, मन वच कायको निवास गति आयुमें। चेतन अचेतनकी हिंसा बसे पुद्गलमें, विषै भोग वरते उदैके उरझाय में॥ रागादिक शुद्धता है अलखकी, यहै उपादान हेतु बंधके बढ़ावमें।

याहीते विचक्षण अबंध कह्यो तिहूँकाल, राग द्वेष मोह नांहि सम्यक् स्वभावमें ॥ ५ ॥

सवैया ३१ सा ।

कर्मजाल जोग हिंसा भोगसों न बंधे हैं, तथापि ज्ञाता उद्यमी बखान्यो जिन बैनमें। ज्ञानदृष्टि देत विषै भोगनिसों हेत दोऊ, क्रिया एक खेत योंतो बने नांहि जैनमें ।। उदै बल उद्यम गहै पै फलको न चहै, निरदै दशा न होइ हिरदेके नैनमें। आलस निरुद्यमकी भूमिका मिथ्यात माहि जहाँ न सँभारे जीव मोह नींद सैनमें ॥ ६ ॥

आलसीका अर उद्यमीका स्वरूप कहे हैं ।

चौपाई ।

जो जिय मोह नींदमें सोवे । ते आलसी निरुद्यमी होवे ॥
दृष्टि खोलि जे जगे प्रवीना। तिनि आलस तजि उद्यम कीना ॥९

दोहा

बंध बढ़ावे अंध है, ते आलसी अजान ।
मुक्त हेतु करणी करे, ते नर उद्यमवान ॥ ११ ॥

जबलग ज्ञान है तबलग वैराग्य है ।

सवैया ३१ सा ।

जबलग जीव शुद्ध वस्तुकों विचारे ध्यावे, तबलग भोगसों उदासी सरवंग है । भोगमें मगन तब ज्ञानकी जगन

नांहि, भोग-अभिलापकी दशा मिथ्यात अंग है ॥ तातैं विपै भोगमें मगनसों मिथ्याती जीव, भोगसों उदासिमों समकिती अभंग है। ऐसे जानि भोगसों उदासि ह्वै सुगति साधे, यह मन चंग तो कठौती माँहि गंग है ॥ १२ ॥

मिथ्यादृष्टीके अहंबुद्धिका वर्णन करे हैं।

चौपाई।

मैं कहता मै कीन्हीं कैसी। अब यों करो कहे जो ऐसी।
ए विपरीत भाव है जामें। सो वरते मिथ्यात्व दशामें ॥२४॥

दोहा।

अहंबुद्धि मिथ्यादशा, धरे सो मिथ्यावंत।
विकल भयो संसारमें, करे विलाप अनंत ॥२५॥

जिसकूं मोहकी विकलता नहीं ते साधु है सो कहे हैं। छंद अडिल्ल।

सदा कर्मसों भिन्न, सहज चेतन कह्यो।
मोह विकलता मानि, मिथ्यात्वी हो रह्यो ॥
करे विकल्प अनंत, अहंमति धारिके।
सो मुनि जो थिर होइ, ममत्व निवारिके ॥ ३१ ॥

सम्यक्त्वी आत्मस्वरूपमें कैसे स्थिर होय है।

सवैया ३१ सा।

असंख्यात लोक परमान जे मिथ्यात भाव, तेई व्यव-

हार भाव केवली उकत है। जिन्हके मिथ्यात्व गयो सम्यक दरस भयो, ते नियत लीन व्यवहारसों मुकत हैं ॥ निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि साधि जे सुगुण मोक्ष पंथकों ढुकत है। तेइ जीव परम दशामें थिर रूप ह्वैके, धरममें धुके न करमसों रुकत है ॥ ३२ ॥

दोहा।

चेतन लक्षण आतमा, जड़ लक्षण तन जाल।
तनकी ममता त्यागिके, लीजे चेतन चाल ॥३६॥

आत्माकी शुद्ध चाल कहे हैं। सवैया २३ सा।

जो जगकी करणी सब ठानत, जो जग जानत जोवत जोई। देह प्रमाण पैं देहसुं दूसरो, देह अचेतन चेतन सोई ॥ देह धरे प्रभु देहसुं भिन्न, रहे परछन्न लखे नहिं कोई। लक्षण वेदि विचक्षण बूझत, अक्षनसों परतंक्ष न होई ॥३७॥

जे पिंड ते ब्रह्मांड ये बात साची है।

सवैया ३१ सा।

याहि नर पिंडमें विराजे त्रिभुवन थिति, याहीमें त्रिविधि परिणामरूप सृष्टि है। याहीमें करमकी उपाधि दुःख दावानल याहीमें समाधि सुख वारिदकी वृष्टि है ॥ याहीमें करतार करतूति यामें विभूति, यामें भोग याहीमें वियोग यामें वृष्टि है। याहीमें

विलास सर्व गर्भित गुप्तरूप, ताहिको प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि है ॥ ४६ ॥

आत्मस्वरूपकी झलक ज्ञानसे होय है।

सवैया २३ सा।

केइ उदास रहे प्रभु कारण, केइ कहीं उठि जांहि कहींके।
केइ प्रणाम करे घडि मूरत, केइ पहार चढ़े चढ़ि छीके॥
केइ कहे असमानके ऊपरि, केइ कहे प्रभु हेठ जमींके।
मेरो धनी नहिं दूर दिशान्तर, मोहिमें है मोहि सूझत नीके।।४८

दोहा।

कहे सुगुरु जो समकृती, परम उदासी होय।
सुथिर चित्त अनुभौ करैं, यह पद परसै सोय॥ ४९॥

आत्मानुभवमें क्या विचार करना सो कहे हैं।

सवैया ३१ सा।

अलख अमूरति अरूपी अविनाशी अज, निराधार निगम निरंजन निरंध है। नानारूप भेप धरे भेषको न लेश धरे, चेतन प्रदेश धरे चैतन्यका खंध है॥ मोह धरे मोहीसो विराजे तामें तोहीसों न मोहीसों तोहीसों न रागी निरबंध है। ऐसो चिदानंद याहि घटमें निकट तेरे, ताहि तूं विचार मन और सब धंध है॥ ५४॥

आत्मानुभव करनेकी विधिका क्रम कहै है।

सवैया ३१ सा।

प्रथम सुदृष्टिसों शरीररूप कीजे भिन्न, तासों और सूछम शरीर भिन्न मानिये। अष्ट कर्म भावकी उपाधि सोई कीजे भिन्न, ताहूमें सुबुद्धिकों विलास भिन्न जानिये॥ तामें प्रभु चेतन विराजत अखंडरूप, वहे श्रुतज्ञानके प्रमाण ठीक आनिये। वाहिको विचार करि वाहीमें मगन हूजे, वाको पद साधिवेकों ऐसी विधि ठानिये॥५५॥

आतमानुभवसे कर्मका बंध नहीं होय है।

चौपाई।

इहि विधि वस्तु व्यवस्था जाने। रागादिक निजरूप न माने॥
तातें ज्ञानवंत जग माहीं। करम बंधको करता नाहीं॥५६॥

अनुभवी जो भेदज्ञानी है तिनकी क्रिया कहे हैं।

सवैया ३१ सा।

ज्ञानी भेदज्ञानसों विलक्ष पुद्गल कर्म, आतमीक धर्मसों निरालो करि मानतो। ताको मूल कारण अशुद्ध राग भाव ताके, नासिवेकों शुद्ध अनुभौ अभ्यास ठानतो॥ याही अनुक्रम पररूप भिन्न बंध त्यागि, आप मांहि आपनो स्वभाव गहि आनतो। साधि शिवचाल निरबंध होत तिहूँकाल, केवल विलोक पाई लोकालोक जानतो॥५७॥

* इति अष्टम बंधद्वार समाप्त भया *

❀ अथ नवमो मोक्षद्वार प्रारंभ ❀

सवैया ३१ सा।

भेदज्ञान आरासौं दुफारा करे ज्ञानी जीव, आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचे। अनुभौ अभ्यास लहे परम धरम गहे, करम भरमको खजानो खोलि खरचे॥ यौंही मोक्ष मग धावे केवल निकट आवे, पूरण समाधि लहे परमको परचे। भयो निरदोर याहि करनो न कछु और, ऐसो विश्वनाथ ताहि बनारसि अरचे॥२॥ काहू एक जैनी सावधान ह्वै परम पैनि, ऐसी बुद्धि छैनी घटमांहि डार दीनी है। पैठी नो करम भेदि दरब करम छेदि, स्वभाव विभावताकी संधि शोधि लीनी है॥ तहाँ मध्यपाती होय लखी तिन धारा दोय, एक मुधामई एक सुधारस भीनी है। मुधासौं विरचि सुधासिंधुमें मगन होय, येती सब क्रिया एक समै बीचि कीनी है॥३॥

दोहा।

जैसी छैनी लोहकी, करे एकसौं दोय।
जड़ चेतनकी भिन्नता, त्यों सुबुद्धिसौं होय॥४॥

सवैया ३१ सा।

कोऊ अनुभवी जीव कहें मेरे अनुभौमें, लक्षण विभेद भिन्न करमको जाल है। जाने आप आपकों जु आप करी आपविषै, उतपति नाश ध्रुव धारा असराल है॥ सारे

विकलप मोंसो न्यारे सरवथा मेरे, निश्चय स्वभाव यह व्यवहार चाल है। मैं तो शुद्ध चेतन अनंत चिनमुद्रा धारि, प्रभुता हमारि एकरूप तिहूँ काल है ॥९॥

दोहा।

चेतन लक्षण आतमा, आतम सत्ता मांहि।
सत्ता परिमित वस्तु है, भेद तिहूमें नाहिं ॥१४॥

छंद अडिल्ल।

जाके चेतन भाव चिदातम सोइ है।
और भाव जो धरे सो और कोइ है॥
जो चिन मंडित भाव उपादे जानने।
त्याग योग्य परभाव पराये मानने ॥१५॥

सवैया ३१ सा।

जिन्हके सुमति जागी भोगसों भये विरागी, परसंग त्यागि जे पुरुष त्रिभुवनमें। रागादिक भावनिसों जिन्हकी रहनि न्यारी, कबहू मगन ह्वै न रहे धाम धनमें॥ जे सदैव आपकों विचारे सरवांग शुद्ध, जिन्हके विकलता न व्यापे कछु मनमें। तेई मोच मारगके साधक कहावे जीव, भावे रहो मंदिरमें भावे रहो वनमें॥१६॥

सवैया २३ सा।

चेतन मंडित अंग अखंडित, शुद्ध पवित्र पदारथ मेरो।
राग विरोध विमोह दशा, समझे भ्रम नाटक पुद्गल केरो॥

भोग संयोग वियोग व्यथा, अवलोकि कहे यह कर्म जु घेरो।
है जिन्हको अनुभौ इह भाँति, सदा तिनकों परमारथ नेरो ॥१७

सवैया ३१ सा।

लोकालोक मान एक सत्ता है आकाश द्रव्य, धर्म द्रव्य एक सत्ता लोक परमित है। लोक परमान एक सत्ता है अधर्म द्रव्य, कालके अणू असंख्य सत्ता अगणित हैं॥ पुदगल शुद्ध परमाणुकी अनंत सत्ता, जीवकी अनंत सत्ता न्यारी न्यारी थित हैं। कोउ सत्ता काहुसों न मिले एकमेक होय, सबे असहाय यों अनादिहीकी रीत है॥२१॥ एह छह द्रव्य इनहीं को है जगतजाल, तामें पांच जड़ एक चेतन सुजान हैं। काहूकी अनंत सत्ता काहूसों न मिले कोइ, एक एक सत्तामें अनंत गुण गान है॥ एक एक सत्तामें अनंतमें परजाय फिरें, एकमें अनेक इहि भाँति परमाण है। यहै स्यादवाद यह संतनकी मरयाद, यहै सुख पोष यह मोक्षको निदान है॥२२॥ सोधि दधि मंथनमें राधि रस पंथनमें, जहाँ तहाँ ग्रंथनमें सत्ताही को सोर है। ज्ञान भानु सत्तामें सुधा निधान सत्ताहीमें, सत्ताकी दुरनि सांझ सत्ता मुख भोर है॥ सत्ताको स्वरूप मोख सत्ता भूल यहै दोष, सत्ताके उलंघे धूमधाम चहुँ ओर है। सत्ताकी समाधिमें विराजि रहे सोई साहु, सत्ताते निकसि और गहे सोई चोर है॥२३॥ जामें लाक वेदनाँहि थापना उछेद नांहि, पाप

पुण्य खेद नांहि क्रिया नांहि करनी । जामें रागद्वेष नांहि जामें बंध मोक्ष नांहि, जामें प्रभु दास न आकाश नांहि धरनी ॥ जामें कुल रीति नांहि जामे हार जीत नांहि, जामें गुरु शिष्य नांहि विषय नांहि भरनी । आश्रम वरण नांहि काहुका सरण नांहि ऐसी शुद्ध सत्ताकी समाधि भूमि वरनी ॥ २४ ॥

दोहा ।

शुद्धातम अनुभव जहाँ, शुभाचार तिहि नांहि ।
करम करम मारग विषैं, शिव मारग शिव मांहि ॥२५

सवैया ३१ सा ।

ज्ञानावरणीके गये जानिये जु है सु सब, दर्शनावरणके गयेते सब देखिये । वेदनी करमके गयेते निराबाध रस, मोहनीके गये शुद्ध चारित्र विसेखिये ॥ आयुकर्म गये अवगाहन अटल होय, नामकर्म गयेते अमूरतीक पेखिये । अगुरु अलघु रूप होय गोत्र कर्म गये, अंतराय गयेते अनंत बल लेखिये ॥५३॥

❀ इति नवमो मोक्षद्वार समाप्त भया ❀

अथ दशमो सर्वविशुद्धि द्वार प्रारंभ ॥१०॥

चौपाई ।

जीव करम करता नहिं ऐसे । रस भोक्ता स्वभाव नहिं तैसे ॥
मिथ्यामतिसों कर्ता होई । गये अज्ञान अकरता सोई ॥१॥

सवैया ३१ सा।

निहचे निहारत स्वभाव जांहि आतमाको, आतमीक धरम परम परकासना। अतीत अनागत वरतमान काल जाको केवल स्वरूप गुण लोकालोक भासना॥ सोई जीव संसार अवस्था मांहि करमको करतासौं दीसे लिये भरम उपासना। यहै महा मोहको पसार यहै मिथ्याचार, यहै भो विकार यह व्यवहार वासना॥ ४॥

चौपाई।

यथा जीव कर्त्ता न कहावे। तथा भोगता नाम न पावे॥
है भोगी मिथ्यामति मांही। गये मिथ्यात्व भोगता नाहीं॥५॥

दोहा।

निर्भिलाष करणी करे, भोग अरुचि घट मांहि।
तातें साधक सिद्ध सम, कर्ता भुक्ता नांहि॥ ८॥

चौपाई।

चेतन अंक जीव लखि लीना। पुद्गल कर्म अचेतन चीना॥
वासी एक खेतके दोऊ। जदपि तथापि मिले नहि कोऊ॥१०

दोहा।

निज निज भाव क्रिया सहित, व्यापक व्याप्य न कोय।
कर्ता पुद्गल कर्मको, जीव कहांसौं होय॥ ११॥

सवैया ३१ सा।

जीव अर पुद्गल करम रहे एक खेत, यद्यपि तथापि सत्ता न्यारी न्यारी कही है। लक्षण स्वरूप गुण परजै प्रकृति भेद, दुहूमें अनादि हीकी दुविधा ह्वै रही है॥ एते पर भिन्नता न भासे जीव करमकी, जोलों मिथ्या भाव तोलों ओंधी वायू वही है। ज्ञानके उद्योत होत ऐसी सूधी दृष्टि भई जीव कर्म पिंडको अकरता सही है॥ १२॥

दोहा।

एक वस्तु जैसे जु है, तासों मिले न आन।
जीव अकर्ता कर्मको, यह अनुभौ परमान॥ १३॥

चौपाई।

जो दुरमति विकल अज्ञानी। जिन्ह स्वरीत पररीत न जानी॥
माया मगन भरमके भरता। ते जिय भाव करमके करता॥१४॥

दोहा।

जे मिथ्यामति तिमिरसों, लखें न जीव अजीव।
तेई भावित कर्मको, कर्ता होय सदीव॥ १५॥

दोहा।

क्रिया एक कर्त्ता जुगल, यों न जिनागम मांहि।
अथवा करणी औरकी, और करे यों नांहि॥२०॥

करे और फल भोगवे, और बने नहिं एम।
जो करता सो भोगता, यहै यथागत जेम ॥२३॥
ताते भावित कर्मको, करे मिथ्याती जीव।
सुख दुख आपद संपदा, भुंजे सहज सदीव ॥२४॥

सवैया ३१ सा।

कोई मूढ़ विकल एकंत पच्छ गहे कहे, आतमा अकर-तार पूरण परम है। तिनको जु कोउ कहे जीव करता है तासे, फेरि कहे करमकों करता करम है॥ ऐसे मिथ्या-मगन मिथ्याती ब्रह्मघाती जीव, जिन्हके हिये अनादि मोहको भरम है। तिनके मिथ्यात्व दूर करवेकूं कहे गुरु, स्यादवाद परमाण आतम धरम है॥ २५ ॥

दोहा।

चेतन करता भोगता, मिथ्या मगन अजान।
नहिं करता नहिं भोगता, निश्चै सम्यकवान ॥२६॥

सवैया ३१ सा।

जैसे सांख्यमति कहे अलख अकरता है, सर्वथा प्रकार करता न होइ कबही। तैसे जिनमति गुरुमुख एक पच्छ सुनि, यांहि भाँति मांने सो एकांत तजो अबही॥ जोलों दुरमति तोलों करमको करता है, सुमती सदा अकरतार

ह्यो सबही। जाके घट ज्ञायक स्वभाव जग्यो जबहीसे, सो तो जगजालसे निरालो भयो तबही ॥ २७ ॥

सवैया ३१ सा।

जैसे काहू चतुर सवारी है मुकत माल, मालाकी क्रियामें नाना भाँतिको विज्ञान है। क्रियाको विकलप न देखे पहिरन वारो, मोतिनकी शोभामें मगन सुखवान है ॥ तैसे न करे न भुंजे अथवा करे सो भुंजे, और करे और भुंजे सब नय प्रमान है। यद्यपि तथापि विकलपविधि त्याग नेरविकलप अनुभौ अमृत पान है ॥ ४७ ॥

दोहा।

द्रव्यकर्म कर्ता अलख, यह, व्यवहार कहाव।
निश्चै जो जैसा दरव, तैसो ताको भाव ॥ ४८ ॥

सवैया ३१ सा।

ज्ञानको सहज ज्ञेयाकाररूप परिणमें, यद्यपि तथापि ज्ञान ज्ञानरूप कह्यो है। ज्ञेय ज्ञेयरूपसों अनादिहीकी मरयाद, काहु वस्तु काहूको स्वभाव नहि गह्यो है ॥ एतेपरि कोउ मिथ्यामति कहे ज्ञेयाकार, प्रतिभासनिसों ज्ञान अशुद्ध ह्वै रह्यो है। याही दुरबुद्धिसों विकल भयो डोलत है, समुझे न धरम यों भर्म माँहि बह्यो है ॥ ४९ ॥

चौपाई ।

सकल वस्तु जगमें अस होई । वस्तु वस्तुसों मिले न कोई ॥
जीव वस्तु जाने जग जेती । सोऊ भिन्न रहे सब सेती ॥५०

दोहा ।

कर्म करे फल भोगवे, जीव अज्ञानी कोइ ।
यह कथनी व्यवहारकी, वस्तु स्वरूप न होइ ॥५१॥

छन्द ।

ज्ञेयाकार ज्ञानकी परणति, पै वह ज्ञान ज्ञेय नहिं होय ।
ज्ञेयरूप षट् द्रव्य भिन्न पद, ज्ञानरूप आतम पद सोय ॥
जाने भेद भाव सुविचक्षण गुण लक्षण सम्यक्दृग जोय ।
मूरख कहे ज्ञान महि आकृति, प्रगट कलंक लखे नहिं कोय ॥५२

दोहा ।

शुद्ध द्रव्य अनुभौ करे, शुद्ध दृष्टि घटमांहि ।
ताते सम्यक्वंत नर, सहज उछेदक नांहि ॥ ५६ ॥

सवैया ३१ सा ।

जैसें चंद्र किरण प्रगटि भूमि स्वेत करे, भूमिसी न होत सदा ज्योतिसी रहति है । तैसे ज्ञान शकति प्रकाशे हेय उपादेय, ज्ञेयाकार दीसे पै न ज्ञेयको गहति है ॥ शुद्ध वस्तु शुद्ध परयायरूप परिणमे, सत्ता परमाण मांहि ढाहे न ढहति है। सो तो और रूप कबहू न होय सरवथा,

निश्चय अनादि जिनवाणी यों कहति है ॥ ५७ ॥ कोउ शिष्य कहे स्वामी राग द्वेष परिणाम, ताको मूल प्रेरक कहहुँ तुम कोन है । पुद्गल करम जोग किंधो इंद्रिनिके भोग, कींधो धन कींधो परिजन कींधो भोंन है ॥ गुरु कहे छहो द्रव्य अपने अपने रूप, सबनिको सदा असहाई परिणाम है । कोउ द्रव्य काहूको न प्रेरक कदाचि ताते, राग द्वेष मोह मृषा मदिरा अचोंन है ॥ ६० ॥

दोहा ।

कोउ मूरख यों कहे, राग द्वेष परिणाम ।
पुद्गलकी जोरावरी, वरते आतम राम ॥ ६१ ॥
ज्यों ज्यों पुद्गल बल करे, धरि धरि कर्म जु भेप ।
राग द्वेषको परिणमन, त्यों त्यों होय विशेप ॥ ६२ ॥
यह विधि जो विपरीत पख, गहे सद्दहे कोय ।
सो नर राग विरोधसों, कबहूँ भिन्न न होय ॥ ६३ ॥
सुगुरु कहे जगमें रहे, पुद्गल संग सदीव ।
सहज शुद्ध परिणामको, औसर लहे न जीव ॥ ६४ ॥
ताते चिद्भावन विपें, समरथ चेतन राव ।
राग विरोध मिथ्यातमें, सम्यकमें शिवभाव ॥ ६५ ॥
ज्यों दीपक रजनी समें, चहुँ दिशि करे उदोत ।
प्रगटे घटघट रूपमें, घटघट रूप न होत ॥ ६६ ॥

त्यों सुज्ञान जाने सकल, ज्ञेय वस्तुको मर्म ।
ज्ञेयाकृति परिणमे पै, तजे न आतम धर्म ॥ ६७ ॥

ज्ञान धर्म अविचल सदा, गहे विकार न कोय ।
राग विरोध विमोह भय, कबहूँ भूलि न होय ॥ ६८ ॥

ऐसी महिमा ज्ञानकी, निश्चय है घटमांहि ।
मूरख मिथ्यादृष्टिसों, सहज विलोकै नांहि ॥ ६९ ॥

पर स्वभावमें मगन रहे, ठाने राग विरोध ।
धरे परिग्रह धारना, करे न आतम शोध ॥ ७० ॥

सवैया ३१-सा ।

जहाँ शुद्ध ज्ञानकी कला उद्योग दीसे तहाँ, शुद्धता प्रमाण शुद्ध चारित्रको अंश है। ता कारण ज्ञानी सब जाने ज्ञेय वस्तु मर्म, वैराग्य विलास धर्म वाको सरवस है ॥ राग द्वेष मोहकी दशासों भिन्न रहे याते, सर्वथा त्रिकाल कर्म जालसों विध्वंस है। निरुपाधि आतम समाधिमें विराजे ताते, कहिये प्रगट पूरण परम हंस है ॥८१॥

॥दोहा॥

ज्ञायक भाव जहाँ तहाँ, शुद्ध चरणकी चाल ।
ताते ज्ञान विराग मिलि, शिव साधे समकाल ॥८२॥
यथा अंधके कंध परि, चढ़े पंगु नर कोय ।
याके दृग वाके चरण, होय पथिक मिलि दोय ॥८३॥

जहाँ ज्ञान किरिया मिले, तहाँ मोक्ष मग सोय ।
वह जाने पदको मरम, वह पदमें थिर होय ॥८४॥
ज्ञान जीवकी सजगता, कर्म जीवकूं भूल ।
ज्ञान मोक्ष अंकूर है, कर्म जगतको मूल ॥८५॥
ज्ञान चेतनाके जगे, प्रगटे केवल राम ।
कर्म चेतनामें बसे, कर्म बंध परिणाम ॥८६॥

चौपाई ।

मृषा मोहकी परणति फैली । ताते करम चेतना मैली ॥
ज्ञान होत हम समझे येती । जीव सदीव भिन्न परसेती ॥९७॥

दोहा ।

जीव अनादि स्वरूप मम, कर्म रहित निरुपाधि ।
अविनाशी अशरण सदा, सुखमय सिद्ध समाधि ॥९८॥

चौपाई ।

मैं त्रिकाल करणीसों न्यारा । चिदविलास पद जगत उज्यारा ॥ राग विरोध मोह मम नांही । मेरो अवलंबन मुझमांही ॥९९॥

सवैया २३ सा ।

सम्यकवंत कहे अपने गुण, मैं नित राग विरोधसों तो । है करतूति करूं निरवंछक, मो ये विषै रस लागत तीतो ॥ शुद्ध स्वचेतनको अनुभौ करि, मैं जग मोह महा भट

जीतो। मोक्ष समीप भयो अब मो कहु, काल अनंत इही विधि बीतो ॥१००॥

दोहा।

कहै विचक्षण मैं रहूँ, सदा ज्ञान रस राचि।
शुद्धातम अनुभूतिसों, खलित न होहु कदाचि ॥१०१॥
पूर्वकर्म विषतरु भये, उदै भोग फलफूल।
मैं इनको नहिं भोगता, सहज होहु निर्मूल ॥१०२॥
जो पूर्वकृत कर्मफल, रुचिसे भुंजे नांहि।
मगन रहे आठो पहर, शुद्धातम पद मांहि ॥१०३॥
सो बुध कर्मदशा रहित, पावे मोक्ष तुरंत।
भुंजे परम समाधि सुख, आगम काल अनंत ॥१०४॥

सवैया ३१ सा।

जबहीते चेतन विभावसों उलटि आप, समै पाय अपनो स्वभाव गहि लीनो है। तबहीते जो जो लेने योग्य सो सो सब लीनो, जो जो त्यागि योग्य सो सो सब छांड़ि दीनो है॥ लेवेको न रही ठौर त्यागवेकों नाहिं और, बाकी कहा उबरयो जु कारज नवीनो है। संग त्यागि अंग त्यागि, वचन तरंग त्यागि, मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा शुद्ध कीनो है ॥१०८॥

दोहा।

शुद्ध ज्ञानके देह नहिं, मुद्रा भेष न कोय।
ताते कारण मोक्षको, द्रव्यलिंग नहिं होय ॥१०९॥
द्रव्यलिंग न्यारो प्रगट, कला वचन विज्ञान।
अष्ट महारिधि अष्ट सिद्धि, एहूँ होइ न ज्ञान ॥११०॥
दर्शनज्ञान चरण दशा, करे एक जो कोइ।
थिर ह्वै साधे मोक्षमग, सुधी अनुभवी सोइ ॥११४॥

सवैया ३१ सा।

कोइ दृग ज्ञान चरणातममें बैठि-ठोर, भयो निरदोष परवस्तुको न परसै। शुद्धता विचार ध्यावे शुद्धतासे केलि करे, शुद्धतामें थिर ह्वै अमृतधारा वरसे॥ त्यागि तन कष्ट ह्वै स्पष्ट अष्ट करमको, करि थान भ्रष्ट नष्ट करे और करसे। सोई विकलप विजई अलप काल मांहि, त्यागि भौ विधान निरवाण पद दरसे ॥११५॥

चौपाई।

जैसे मुगध धान पहिचाने। तुष तंदुलको भेद न जाने।
तैसे मूढमती व्यवहारी। लखे न बंध मोक्ष विधि न्यारी ॥११९॥

दोहा।

जे व्यवहारी मूढ नर, पर्यय बुद्धी जीव।
तिनके बाह्य क्रियाहिको, है अवलंब सदीव ॥१२०॥

कुमती बाहिज दृष्टिसों, बाहिज क्रिया करंत ।
मानें मोक्ष परंपरा, मनमें हरष धरंत ॥१२१॥

शुद्धातम अनुभौ कथा, कहे समकिती कोय ।
सो सुनिके तासों कहे, यह शिवपंथ न होय ॥१२२॥

सवैया ३१ सा ।

आचारज कहे जिन वचनको विसतार, अगम अपार है कहेंगे हम कितनो । बहुत बोलवेसों न मकसूद चुप्प भलो बोलियेसों वचन प्रयोजन है जितनो ॥ नानारूप जल्पनसो नाना विकलप उठे, तातें जेतो कारिज कथन भलो तितनो । शुद्ध परमातमाको अनुभौ अभ्यास कीजे, ये ही मोक्ष पंथ परमारथ है इतनो ॥ १२४ ॥

दोहा

शुद्धातम अनुभौ क्रिया; शुद्ध ज्ञान दृग दौर ।
मुक्ति पंथ साधन वहै; वागजाल सब और ॥१२५॥

जगत चक्षु आनंदमय; ज्ञान चेतना भास ।
निर्विकल्प शाश्वत सुथिर; कीजे अनुभौ तास ॥१२६॥

अचल अखंडित ज्ञानमय; पूरण वीतममत्व ।
ज्ञानगम्य बाधारहित; सो है आतम तत्त्व ॥१२७॥

❀ इति दशमो सर्वविशुद्धिद्वार समाप्त भया ❀

अथ श्री समयसार नाटकको एकादशमो स्याद्वादद्वार प्रारंभ ॥११॥

सवैया ३१ सा।

शिष्य कहे स्वामी जीव स्वाधीनकी पराधीन, जीव एक है कीधो अनेक मान लीजिये। जीव है सदीव कीधों नाहीं है जगत मांहि, जीव अविनश्वरकी विनश्वर कहीजिये॥ सद्गुरु कहे जीव है सदैव निजाधीन, एक अविनश्वर दरव दृष्टि दीजिये। जीव पराधीन क्षणभंगुर अनेकरूप, नांहि जहाँ तहाँ पर्याय प्रमाण कीजिये॥ १० ॥

सवैया ३१ सा।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव चारों भेद वस्तुहीमें, अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानिये। परके चतुष्क वस्तु न अस्ति नियत अंग, ताको भेद द्रव्य परयाय मध्य जानिये॥ दरव जो वस्तुक्षेत्र सत्ता भूमि काल चाल, स्वभाव सहज मूल सकति बखानिये। याही भाँति पर विकलप बुद्धि कलपना, व्यवहार दृष्टि अंश भेद परमानिये॥११॥

दोहा।

ज्यों तन कंचुकि त्यागसे, विनसे नांहि भुजंग।
त्यों शरीरके नाशते, अलख अखंडित अंग॥ २३ ॥

❀ इति श्री समयसार नाटकको ग्यारहमो स्याद्वार नयद्वार समाप्त भया ❀

अथ बारहमो साध्य-साधकद्वार प्रारंभ ॥ १२ ॥

दोहा ।

साध्य शुद्ध केवल दशा; अथवा सिद्ध महंत ।
साधक अविरत आदि बुध; क्षीणमोह परयंत ॥ १ ॥
इह विधि जो परभाव विष; वमे रमे निजरूप ।
सो साधक शिव पंथको; चिद्विवेक चिद्रूप ॥ ३२ ॥

कवित्त ।

ज्ञानदृष्टि जिन्हके घट अंतर, निरखे द्रव्य सुगुण परजाय । जिन्हके सहज रूप दिन दिन प्रति, स्याद्वाद साधन अधिकाय ॥ जे केवलि प्रणीत मारग मुख, चित्र चरण राखे ठहराय । ते प्रवीण करि क्षीण मोह मल, अविचल होंहि परमपद पाय ॥ ३३ ॥

सवैया ३१ सा ।

चाकसो फिरत जाको संसार निकट आयो, पायो जिन्हे सम्यक् मिथ्यात्व नाश करिके । निरद्वंद मनसा सुभूमि साधि लीनी जिन्हे, कीनी मोक्षकारण अवस्था ध्यान धरिके ॥ सोही शुद्ध अनुभौ अभ्यासी अविनाशी भयो, गयो ताको करम भरम रोग गरिके । मिथ्यामति अपनो स्वरूप न पिछाने ताते, डोले जग जालमें अनंत काल भरिके ॥ ३४ ॥

दोहा।

विनसि अनादि अशुद्धता, होइ शुद्धता पोख।
ता परणतिको बुध कहे, ज्ञानक्रियासों मोख ॥३६॥
जगी शुद्ध सम्यक् कला, बगी मोक्ष मग जोय।
वहे कर्म चूरण करे, क्रम क्रम पूरण होय ॥३७॥
जाके घट ऐसी दशा, साधक ताको नाम।
जैसे जो दीपक धरे, सो उजियारो धाम ॥३८॥

सवैया ३१ सा।

जाके घट अंतर मिथ्यात्त अंधकार गयो, भयो परकाश शुद्ध समकित भानको। जाकी मोह निद्रा घटि ममता पलक फटि, जान्यो निज मरम अवाची भगवानको॥ जाको ज्ञान तेज बग्यो उद्दिम उदार जग्यो, लग्यो सुख पोष समरस सुधापानको। ताही सुविचक्षणको संसार निकट आयो, पायो तिन मारग सुगम निरवाणको ॥३९॥

संसारसागरसे पार होनेके लक्षण।

सवैया ३१ सा।

जाके हिरदेमें स्यादवाद साधना करत, शुद्ध आतमको अनुभौ प्रगट भयो है। जाके संकलप विकलपके विकार मिटि, सदाकाल एक भाव रस परिणयो है॥ जाते बंध विधि

परिहार मोक्ष अंगीकार, ऐसो सुविचार पक्ष सोउ छांड़ि दियो है ॥ जाकी ज्ञान महिमा उद्योत दिन दिन प्रति, सोही भवसागर उलंघि पार गयो है ॥ ४० ॥

आत्मसुखकी प्राप्तिका उपाय ।

अस्तिरूप नासति अनेक एक थिररूप, अथिर इत्यादि नानारूप जीव कहिये । दीसे एक नयकी प्रतिपक्षी अपर दूजी, नैको न दिखाय वाद विवादमे रहिये ॥ थिरता न होय विकलपकी तरंगनिमें, चंचलता बढ़े अनुभौ दशा न लहिये । तातैं जीव अचल अबाधित अखंड एक, ऐसो पद साधिके समाधि सुख गहिये ॥४१॥

चौपाई ।

स्वपर प्रकाशक शकति हमारी । ताते वचन भेद भ्रम भारी ॥
ज्ञेय दशा द्विविधा परकाशी । निजरूपा पररूपा भासी ॥४४॥

दोहा ।

निज स्वरूप आतम शकति, पररूपी पर वस्त ।
जिन्ह लखि लीनो पेंच यह, तिन्ह लखि लियो समस्त ॥४५॥

सवैया ३१ सा ।

करम अवस्थामें अशुद्धसों विलोकियत, करम कलंकसों रहित शुद्ध अंग है । उभै नय प्रमाण समकाल शुद्धाशुद्धरूप, ऐसो परयाय धारी जीव नाना रंग है ॥ एकही समैमें

त्रिधारूप पै तथापि याकी, अखंडित चेतना शकति सरवंग है। यहै स्यादवाद याको भेद स्यादवादी जाने, मूरख न माने जाको हियोद्दग भंग है॥ ४६ ॥ निहचे दरव दृष्टि दीजे तब एक रूप, गुण परयाय भेद भावसों बहुत है। असंख्य प्रदेश संयुगत सत्ता परमाण, ज्ञानकी प्रभासों लोकाऽल कमान जुत है॥ परजे तरंगनीके अंग छिनभंगुर है, चेतना शकतिसों अखंडित अचुत है। सो है जीव जगत विनायक जगत सार, जाकी मौज महिमा अपार अदभुत है॥ ४७ ॥ वि व शकति परणतिसों विकल दीसे, शुद्ध चेतना विचारते सहज संत है। करम संयोगसों कहावे गति जोनि वासि, निहचै स्वरूप सदा मुकत महंत है॥ ज्ञायक स्वभाव धरे लोकाऽलोक परकासि, सत्ता परमाण सत्ता प्रकाशवंत है। सो है जीव जानत जहान कौतुक महान, जाकी कीरति कहान अनादि अनंत है॥ ४८ ॥ पंच परकार ज्ञानावरणको नाश करि, प्रगटि प्रसिद्ध जगमाहिं जगमगी है। ज्ञायक प्रभामें नाना ज्ञेयकी अवस्था धरि, अनेक भई पै एकताके रस पगी है॥ याही भाँति रहेगी अनादिकाल परयंत, अनंत शकति फेरि अनंतसों लगी है। नरदेह देवल में केवल स्वरूप शुद्ध, ऐसी ज्ञान ज्योतिकी सिखा समाधि जगी है॥ ४९ ॥

❀ इति बारहमो साध्य साधक द्वार समाप्त ❀

अथ चतुर्दश गुणस्थानाधिकार प्रारंभ ॥१४॥

सवैया ३१ सा ।

मिथ्यामति गंठि भेदि जगी निरमल ज्योति, जोगसो अतीत सो तो निहचै प्रमानिये । वहै दुंद दशासों कहावे जोग मुद्राधारी, मति श्रुति ज्ञान भेद व्यवहार मानिये ॥ चेतना चिह्न पहिचानि आपा पर वेदे, पौरुष अलप तातै सामान्य वखानिये । करे भेदाभेदको विचार विस्ताररूप, हेय ज्ञेय उपादेय सों विशेष जानिये ॥५१॥

दोहा ।

चौदह गुणस्थानक दशा, जगवासी जिय भूल ।
आश्रव संवर भाव द्वै, बंध मोक्षको मूल ॥११२॥

चौपाई ।

आश्रव संवर परणति जोलों । जगवासी चेतन है तोलों ॥ आश्रव संवर विधि व्यवहारा । दोऊ भवपथ शिवपथ धारा ॥ ११३ ॥ आश्रवरूप बंध उतपाता । संवर ज्ञान मोक्ष पद दाता ॥ जो संवरसों आश्रव छीजे । ताकों नमस्कार अब कीजे ॥ ११४ ॥

जैसे वटवृक्ष एक तामें फल हैं अनेक, फल फल बहु बीज बीज बीज वट है । वटमाहिं फल फलमांहि बीज तामें वट, कीजे जो विचार तो अनंतता अघट है ॥ तैसे एक

सत्तामें अनंत गुण परजाय, पर्यायमें अनंत नृत्य तामेंऽनंत ठट है। ठटमें अनंत कला कलामें अनंतरूप, रूपमे अनंत सत्ता ऐसो जीव नट है ॥ ५ ॥

दोहा।

समयसार आतम दरव, नाटक भाव अनंत।
सोहै आगम नाममें, परमारथ विरतंत ॥ १४ ॥

❀ इति संपूर्ण ❀

❀ ज्ञान-पचीसी ❀

(महाकवि बनारसीदास-कृत भेद-विज्ञानके दोहे)

सुर-नर-तिरियग-योनिमें, नरक-निगोद भमंत।
महामोहकी नींदसों सोये काल अनंत ॥ १ ॥
जैसें ज्वरके जोरसों, भोजनकी रुचि जाय।
तैसें कुकरमके उदय, धर्म-वचन न सुहाय ॥ २ ॥
लगै भूख ज्वरके गये, रुचिसों लेय अहार।
अशुभ गये शुभके जगे, जानै धर्म विचार ॥ ३ ॥
जैसें पवन झकोरतैं, जलमें उठै तरंग।
त्यों मनसा चंचल भई, परिगहके परसंग ॥ ४ ॥
जहाँ पवन नहिं संचरै, तहाँ न जल-कल्लोल।
त्यों सब परिगह त्यागतैं, मनसा होय अडोल ॥ ५ ॥

ज्यों काहू विषधर डसै, रुचिसों नीम चबाय।
त्यों तुम ममतामें मढ़े, मगन विषय-सुख पाय॥ ६॥
नीम रसन परसै नहीं, निर्विष तन जब होय।
मोह घटे ममता मिटै, विषय न वांछै कोय॥ ७॥
ज्यों सछिद्र नौका चढ़े, बूड़हि अंध अदेख।
त्यों तुम भव-जलमें परे, बिन विवेक धर भेख॥ ८॥
जहाँ अखंडित गुन लगे, खेवट शुद्ध विचार।
आतम-रुचि-नौका चढ़े, पावहु भव-जल पार॥ ९॥
ज्यों अंकुस मानै नहीं, महामत्त गजराज।
ज्यों मन तिसनामें फिरै, गिनै न काज अकाज॥१०॥
ज्यों नर दाव उपायकैं, गहि आनै गज साधि।
त्यों या मन बस करनकों, निर्मल ध्यान समाधि॥११॥
तिमिर-रोगसों नैन ज्यों, लखै औरको और।
त्यों तुम संशयमें परे, मिथ्यामतिकी दौर॥ १२॥
ज्यों औषध अंजन किये, तिमिर-रोग मिट जाय।
त्यों सतगुरु उपदेशतैं, संशय वेग विलाय॥ १३॥
जैसें सब यादव जरे, द्वारावतिकी आगि।
त्यों मायामें तुम परे, कहाँ जाहुगे भागि॥ १४॥
दीपायनसों ते बचे, जे तपसी निरग्रंथ।
तजि माया समता गहो, यहै मुकतिको पन्थ। १५॥

ज्यों कुधातुके फेंटसों, घट-बढ़ कंचन कान्ति।
पाप पुन्य कर त्यों भये, मूढ़ातम बहु भाँति ॥ १६ ॥
कंचन निज गुन नहिं तजै, हीन बानके होत।
घट-घट अन्तर आतमा, सहज-सुभाव उदोत। १७॥
पन्ना पीट पकाइये, शुद्ध कनक ज्यों होय।
त्यों प्रगटै परमातमा, पुण्य-पाप-मल खोय॥ १८ ॥
पर्व राहुके ग्रहणसों, सूर-सोम छवि-छीन।
संगति पाय कुसाधुकी, सज्जन होय मलीन॥१९॥
निम्बादिक चन्दन करै, मलयाचलकी बास।
दुर्जनतैं सज्जन भये, रहत साधुकें पास॥ २० ॥
जैसें ताल सदा भरै, जल आवै चहुँ ओर।
तैसें आस्रव-द्वारसों, कर्म-बन्धको जोर ॥ २१ ॥
ज्यों जल आवत मूंदिये, सूखै सरवर-पानि।
तैसें संवरके किये, कर्म-निर्जरा जानि ॥ २२ ॥
ज्यों बूटी संयोगतैं, पारा मूर्छित होय।
त्यों पुद्गलसों तुम मिले, आतम-शक्ति समोय॥२३॥
मेलि खटाई माजिये, पारा परगटरूप।
शुक्लध्यान अभ्यासतैं, दर्शन-ज्ञान अनूप॥ २४ ॥
कहि उपदेश 'बनारसी' चेतन अब कछु चेत।
आप बुझावत आपको, उदय करनके हेत ॥ २५ ॥

❀ इति ❀

परमार्थवचनिका

(पं० बनारसीदासजी)

एक जीवद्रव्य ताके अनंतगुण अनन्तपर्याय, एक एक गुणके असंख्यात प्रदेश, एक एक प्रदेशनिविषै अनन्त कर्मवर्गणा, एक एक कर्मवर्गणाविषै अनन्त अनन्त पुद्गल परमाणु, एक एक पुद्गल परमाणु अनंत गुण अनन्त पर्याय-सहित विराजमान, यह एक संसारावस्थित जीव पिंडकी अवस्था। याही भाँति अनन्त जीवद्रव्य सपिंडरूप जानने। एक जीव द्रव्य अनंत अनंत पुद्गलद्रव्यकरि संयोगित (संयुक्त) मानने । ताको व्यौरौ—

अन्य अन्यरूप जीवद्रव्यकी परनतिः अन्य अन्यरूप पुद्गलद्रव्यकी परनति, ताको व्यौरौ—

एक जीवद्रव्य जा भाँतिकी अवस्थालिये नानाकाररूप परिनमैं सो भाँति अन्य जीवसों मिलै नांही। वाकी और भाँति। आही-भाँति अनंतानंत स्वरूप जीवद्रव्य अनंतानंत स्वरूप अवस्था लिये वर्तहिं। काहु जीवद्रव्यके परिनाम काहु जीवद्रव्य औरस्यौं मिलइ नाहीं। याही भाँति एक पुद्गल परवानू एक समयमाहिं जा भाँतिकी अवस्था धरै, सो अवस्था अन्य पुद्गल परवानू द्रव्यसौं मिलै नाहीं, तातैं

पुद्गल (परमाणु) द्रव्यकी भी अन्य अन्यता जाननी ।

अथ जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य एक क्षेत्रावगाही अनादिकालके, तामैं विशेष इतनौ जु जीवद्रव्य एक, पुद्गल परवानू द्रव्य अनंतानंत चलाचलरूप आगमनगमनरूप अनंताकार परिनमनरूप बंधमुक्तिशक्ति लिये वर्तहिं ।

अथ जीवद्रव्यकी अनन्त अवस्था तामैं तीन अवस्था मुख्य थापी । एक अशुद्ध अवस्था, एक शुद्धाशुद्धरूप मिश्र अवस्था, एक शुद्ध अवस्था, ए तीन अवस्था संसारी जीवद्रव्यकी । संसारातीत सिद्ध अनवस्थितरूप कहिये ।

अब तीनहूं अवस्थाकौ विचार—एक अशुद्ध निश्चयात्मक द्रव्य, एक शुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य, एक मिश्रनिश्चयात्मक द्रव्य, अशुद्धनिश्चय द्रव्यकौं सहकारी अशुद्ध व्यवहार. मिश्रद्रव्यकौं सहकारी मिश्र व्यवहार, शुद्ध द्रव्यकौ सहकारी शुद्धव्यवहार ।

अब निश्चय व्यवहार को विवरण लिख्यते ।

निश्चय तो अभेदरूप द्रव्य, व्यवहार द्रव्यके यथास्थित भाव । परंतु विशेष इतनौ जु यावत्काल संसारावस्था तावत्काल व्यवहार कहिये । सिद्ध व्यवहारातीत कहिये, यातैं जु संसार व्यवहार एकरूप दिखायौ । संसारी सो व्यवहारी, व्यवहारी सो संसारी ।

अथ तीनहूं अवस्था को विवरण लिख्यते ।

यावत्काल मिथ्यात्व अवस्था, तावत्काल अशुद्ध निश्चयात्मक द्रव्य अशुद्धव्यवहारी । सम्यग्दृष्टी होत मात्र चतुर्थ गुणस्थानकस्यौं द्वादशम गुणस्थानकपर्यन्त मिश्रनिश्चयात्मक द्रव्य मिश्रव्यवहारी । केवलज्ञानी शुद्धनिश्चयात्मक शुद्धव्यवहारी ।

अथ निश्चय तौ द्रव्यको स्वरूप, व्यवहार संसारावस्थित भाव, ताको विवरण कहै हैं,—

मिथ्यादृष्टी जीव अपनौ स्वरूप नाहीं जानतौ तातैं परस्वरूपविषै मगन होय करि कार्य मानतु है ता कार्य करतौ छतौ अशुद्धव्यवहारी कहिए । सम्यग्दृष्टी अपनौ स्वरूप परोक्ष प्रमानकरि अनुभवतु है । परसत्ता परस्वरूपसौं अपनौं कार्य नाही मानतौ संतौ जोगद्वारकरि अपने स्वरूपको ध्यान विचाररूप क्रिया करतु है, तौ कार्य करतौ मिश्र व्यवहारी कहिए । केवलज्ञानी यथाख्यातचारित्रके वलकरि शुद्धात्मस्वरूपको रमनशील है तातैं शुद्धव्यवहारी कहिए । जोगारूढ़ अवस्था विद्यमान है तातैं व्यवहारी नाम कहिए । शुद्धव्यवहारकी सरहद त्रयोदशम गुनस्थानकसौं लेइकरि चतुर्दशम गुनस्थानकपर्यंत जाननी । असिद्धत्वपरिणमनत्वात् व्यवहारः ।

अथ तीनहूं व्यवहारको स्वरूप कहै हैं—

अशुद्ध व्यवहार शुभाशुभाचाररूप, शुद्धाशुद्धव्यवहार शुभोपयोगमिश्रित स्वरूपाचरनरूप, शुद्धव्यवहार शुद्धस्वरूपाचरनरूप। परंतु विशेष इनको इतनौ जु कोऊ कहै कि— शुद्धस्वरूपाचरणात्म तौ सिद्धहूविषै छतौ है, उहाँ भी व्यवहार संज्ञा कहिए—सो यौं नाहीं—जातैं संसारी अवस्थापर्यंत व्यवहार कहिए। संसारावस्थाके मिटत व्यवहार भी मिटी कहिए। इहाँ यह थापना कीनी है तातैं सिद्ध व्यवहारातीत कहिए। इति व्यवहारविचार समाप्तः।

अथ आगमअध्यात्मको स्वरूप कथ्यते।

आगम—वस्तुको स्वभाव सो आगम कहिए। आत्माको जु अधिकार सो अध्यात्म कहिए। आगम तथा अध्यात्म स्वरूप भाव आत्मद्रव्यके जानने। ते दोऊ भाव संसार अवस्थाविषै त्रिकालवर्ती मानने। ताकौ व्यौरौ—आगमरूप कर्मपद्धति, अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति। ताकौ व्यौरौ—कर्मपद्धति पौद्गलीकद्रव्यरूप अथवा भावरूप, द्रव्यरूप पुद्गलपरिणाम, भावरूप पुद्गलाकारआत्माकी अशुद्धपरिणतिरूप परिणाम—ते दोऊ परिणाम आगमरूप थापे। अब शुद्धचेतनापद्धति शुद्धात्मपरिणाम सो भी द्रव्यरूप अथवा भावरूप। द्रव्यरूप तौ जीवत्वपरिणाम—भावरूप ज्ञानदर्शन सुख वीर्य आदि अनन्तगुण परिणाम, ते

दोऊ परिणाम अध्यात्मरूप जानने। आगम अध्यात्म दुहुं पद्धतिविषै अनन्तता माननी।

अनन्तता कहा ताको विचार—

अनंतताको स्वरूप दृष्टान्तकरि दिखाइयतु है जैसें—वटवृक्षको बीज एक हाथविषै लीजै, ताकौ विचार दीर्घ दृष्टिसौं कीजै तो या वटके बीजविषै एक वटको वृक्ष है। सो वृक्ष जैसो कछु भाविकाल होनहार है तैसो विस्तार-लिये विद्यमान वासैं वास्तवरूप छतो है, अनेक शाखा प्रशाखा पत्र पुष्पफल संयुक्त है, फल फलविषे अनेक बीज होंहि। या भांतिकी अवस्था एक वटके बीजविषै विचारिए। भी और सूक्ष्मदृष्टि दीजै तो जे जे या वट वृक्षविषै बीज हैं ते ते अंतर्गर्भित वटवृक्षसंयुक्त होंहिं। याहीभांति एक वट-विषै अनेक अनेक बीज, एक एक बीज विषै एक एक वट, ताको विचार कीजै तौ भाविनयप्रधानकरि न वटवृक्षनिकी वा मर्यादा पाइए न बीजनिकी मर्यादा पाइए। याही भांति अनंतताको स्वरूप जाननौ। ता अनंतताके स्वरूपको केव-लज्ञानी पुरुष भी अनन्त ही देखै जाणै कहे—अनंतको और अंत है ही नाही जो ज्ञानविषै भासै। तातैं अनंतता अनंत-हीरूप प्रतिभासै, या भांति आगम अध्यातमकी अनंतता जाननी। तामैं विशेष इतनौ जु अध्यातमको स्वरूप अनंत आगमको स्वरूप अनंतानंतरूप, यथापना प्रधानकरि

अध्यात्म एक द्रव्याश्रित। आगम अनंतानंत पुद्गलद्रव्याश्रित। इन दुहूँको स्वरूप सर्वथा प्रकार तौ केवलगोचर, अंशमात्र मतिश्रुतज्ञानग्राह्य तातैं सर्वथा प्रकार आगमी अध्यात्मी तो केवली, अंशमात्र मतिश्रुतज्ञानी, ज्ञातादेशमात्र अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी, ए तीनों यथावस्थित ज्ञानप्रमाण न्यूनाधिकरूप जानने। मिथ्यादृष्टी जीव न आगमी न अध्यात्मी है। काहे तैं ? यातैं जु कथन मात्र तौ ग्रंथपाठके बलकरि आगम अध्यातमको स्वरूप उपदेशमात्र कहै परंतु आगम अध्यातमको स्वरूप सम्यक् प्रकार जानैं नाहीं। तातैं मूढ़ जीव न आगमी न अध्यात्मी, निर्वेदकत्वात्।

अथ मूढ़ तथा ज्ञानी जीवको विशेषपणौ और भी सुनौ—

ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधि जानै। मूढ़ मोक्षमार्ग न साधि जानै काहे—यातैं सुनो—मूढ़ जीव आगमपद्धतिको व्यवहार कहै, अध्यात्मपद्धतिको निश्चय कहै तातैं आगम अंग एकान्तपनौ साधिकै मोक्षमार्ग दिखावै, अध्यात्म अंगको व्यवहारै न जानै यह मूढ़दृष्टिको स्वभाव, वाहि याही भांति सूझै काहेतैं ?—यातैं —जु आगम अंग बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है ताको स्वरूप साधिवो सुगम। ता बाह्यक्रिया करतौ संतौ आपकूं

मूढ़ जीव मोक्षको अधिकारी मानै, अन्तरगर्भित जो अध्यात्मरूप क्रिया सो अंतरदृष्टि ग्राह्य है सो क्रिया मूढ़जीव न जानै। अन्तरदृष्टिके अभावसौं अन्तर्क्रिया दृष्टिगोचर आवै नाहीं, तातैं मिथ्यादृष्टी जीव मोक्षमार्ग साधिवेको असमर्थ।

अब सम्यक्दृष्टिको विचार सुनौ—

सम्यग्दृष्टी कहा सो सुनो—संशय विमोह विभ्रम ए तीन भाव जामें नाहीं सो सम्यग्दृष्टी। संशय विमोह विभ्रम कहा ?—ताको स्वरुप दृष्टान्तकरि दिखायतु है सो सुनो—जैसें च्यार पुरुष काहु एकस्थानकविषै ठाढ़े। तिन्ह चारिहूंके आगे एक सीपको खंड किनही और पुरुषनै आनि दिखायो। प्रत्येक प्रत्येकतैं प्रश्न कीनी कि यह कहा है—सीप है कै रूपौ है ? प्रथम ही एक पुरुष संशैवालो बोल्यो—कछु सुध नाहीन परत, किधौं सीप है किधौं रूपो है मोरी दिष्टिविषै याकौ निरधार होत नाहिनै। भी दूजो पुरुष विमोहवालो बोल्यो कि—कछू मोहि यह सुधि नाही कि तुम सीप कौनसौं कहतु है रूपौ कौनसौं कहतु है ? मेरी दृष्टिविषै कछु आवतु नाही, तातैं हम नांहिनै जानत कि तू कहा कहतु है अथवा चुप ह्वै रहै बोलै नाही गहलरूपसौं। भी तीसरो पुरुष विभ्रमवालो बोल्यो कि—यह तौ प्रत्यक्ष-

प्रमान-रूपो है याको सीप कौन कहै ? मेरी दृष्टिविषै तौ रूपो मुझतु है तातैं सर्वथा प्रकार यह रूपो है। सो तीनौं पुरुष तौ वा सीपको स्वरूप जान्यौ नाहीं। तातै तीनौं मिथ्यावादी। अब चौथौ पुरुष बोल्यो कि यह तौ प्रत्यच्च प्रमान सीपको खंड है यामैं कहा धोखो, सीप सीप-सीप, निरधार सीप, याको जु कोई और वस्तु कहै सो प्रत्यक्ष-प्रमान भ्रामक अथवा अंध। तैसें सम्यग्दृष्टीकौ स्वपरस्व-रूपविषै न संसै न विमोह न विभ्रम यथार्थ दृष्टि है तातैं सम्यग्दृष्टी जीव अन्तरदृष्टि करि मोक्षपद्धति साधि जानै। बाह्यभाव बाह्यनिमित्तरूप मानै, सो निमित्त नानारूप, एक रूप नाहीं, अन्तरदृष्टिके प्रमान मोक्षमार्ग साधै, सम्यग्ज्ञान स्वरूपाचरनकी कनिका जागे मोक्षमार्ग सांचौ। मोक्षमार्ग कौ साधिबो यहै व्यवहार, शुद्धद्रव्य अक्रियारूप सो निश्चै। ऐसैं निश्चय व्यवहारकौ स्वरूप सम्यग्दृष्टी जानै। मूढ़ जीव न जानै न मानै। मूढ़ जीव बंधपद्धतिको साधिकरि मोक्ष कहै, सो बात ज्ञाता मानै नाहीं। काहेतैं ?—यातैं—जु बंधके साधते बंध सधै, मोक्ष सधै नाहीं। ज्ञाता जब कदाचित बंधपद्धति विचारै तब जानै कि या पद्धतिसौं मेरो द्रव्य अनादिको बन्धरूप चल्यो आयो है—अब या पद्धतिसौं मोह तौरि वहै तौ या पद्धतिको राग पूर्वकी ज्यों हे नर काहै करौ ? छिन मात्र भी बन्धपद्धतिविषै मगन होय नाहीं सो

ज्ञाता अपनो स्वरूप विचारै अनुभवै ध्यावै गावै श्रवन करै नवधाभक्ति तप क्रिया अपने शुद्धस्वरूपके सन्मुख होइकरि करै। यह ज्ञाताको आचार, याहींको नाम मिश्रव्यवहार।

अब हेयज्ञेयउपादेयरूप ज्ञाताकी चाल ताको विचार लिख्यते—

हेय—त्यागरूप तौ अपने द्रव्यकी अशुद्धता, ज्ञेय—विचाररूप अन्य षट्द्रव्यको स्वरूप, उपादेय—आचरन-रूप अपने द्रव्यकी शुद्धता, ताको व्यौरौ—गुणस्थानक प्रमान हेयज्ञेयउपादेयरूप शक्ति ज्ञाताकी होइ। ज्यों त्यों ज्ञाताकी हेयज्ञेयउपादेयरूप शक्ति वर्द्धमान होय त्यों त्यों गुणस्थानककी बढवारी कही है, गुणस्थानकप्रवान ज्ञान गुन-स्थानक प्रमान क्रिया। तामैं विशेष इतनौ जु एक गुणस्था-नकवर्ती अनेक जीव होंहिं तो अनेक रूपको ज्ञान कहिए, अनेक रूपकी क्रिया कहिए। भिन्न भिन्न सत्ताके प्रवानकरि एकता मिलै नाहीं। एक एक जीव द्रव्यविषै अन्य अन्य रूप उदीक भाव होंहि तिन उदीकभावानुसारी ज्ञानकी अन्य अन्यता जाननी। परंतु विशेष इतनौ जु कोऊ जातिको ज्ञान ऐसो न होई जु परसत्तावलंवनशीली होइकरि मोक्षमार्ग साक्षात् कहै। काहेतैं अवस्थाप्रवान परसत्तावलंवक है। ज्ञानको परसत्ताव-लंवी परमार्थता न कहै। जो ज्ञान होय सो स्वसत्तावलंवन-

शीली होइ ताको नाउ ज्ञान । ता ज्ञानकी सहकारभूत निमित्तरूप नानाप्रकारके उदीकभाव होंहि । तिन्ह उदीकभावनको ज्ञाता तमासगीर । न कर्त्ता न भोक्ता न अवलंबी तातैं कोऊ यों कहै कि या भांतिके उदीकभाव होंहि सर्वथा तौ फलानौ गुनस्थानक कहिये सो झूठो । तिनि द्रव्यको स्वरूप सर्वथा प्रकार जान्यौ नाहीं । काहेतैं—यातैं जु और गुनस्थानकनिकी कौन बात चलावै केवलीके भी उदीकभावनिकी नानात्वता जाननी । केवलीके भी उदीकभाव एकसे होय नाहीं । काहू केवलीकौं दंड कपाटरूप क्रिया उदै होय काहू केवलीकौं नाहीं । तौ केवलीविषै भी उदैकी नानात्वता है तो और गुनस्थानककी कौन बात चलावै । तातैं उदीक भावनिके भरोसे ज्ञान नाहीं, ज्ञान स्वशक्तिप्रवान है । स्वपरप्रकाशक ज्ञानकी शक्ति ज्ञायक प्रमान ज्ञान स्वरूपाचरनरूप चारित्र यथा अनुभव प्रमान यह ज्ञाताको सामर्थ्यपनौ । इन बातनको ब्यौरो कहातांई लिखिये कहांतांई कहिए। वचनातीत इन्द्रियातीत ज्ञानातीत, तातैं यह विचार बहुत कहा लिखहिं । जो ज्ञाता होइगो सो थोरी ही लिख्यो बहुतकरि समुझैगो, जो अज्ञानी होयगो सो यह चिट्ठी सुनैगो सही परन्तु समुझैगा नहीं यह—वचनिका यथोक्ता यथा सुमतिप्रवान केवलिवचनानुसारी है । जो

याहि सुणैगो समुझैगो सरदहैगो ताहि कल्याणकारी है भाग्यप्रमाण।

❀ इति परमार्थवचनिका ❀

❀ स्वरूपसंबोधन ❀

(श्रीमद्भट्टाकलङ्क प्रणीत)

मुक्ताऽमुक्तैकरूपो यः, कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्ति नमामि तम्॥ १॥

अर्थ—मंगलाचरण करते हुए श्री अकलंकभट्टाचार्य कहते हैं कि जो अविनश्वर, ज्ञानमूर्ति, परमात्मा, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंसे, रागादिक भावकर्मोंसे, व शरीररूप नोकर्मसे मुक्त (रहित) हैं और सम्यग्ज्ञान आदि अपने स्वाभाविक गुणोंसे अमुक्त (युक्त) हैं उन परमानन्दमय परमात्माको नमस्कार करता हूँ।

अर्थात् उपर्युक्त तीन प्रकारके कर्मोंको नष्ट कर देनेके कारण जो मुक्तरूप हैं और अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण जो अमुक्तरूप हैं और ज्ञान ही जिनकी मूर्ति है ऐसे अविनश्वर परमात्माको इसमें नमस्कार किया गया है।

मीमांसक, परमात्माको कर्मरहित नहीं मानते इसलिये उनके मतका निराकरण करनेके लिये "कर्ममुक्त" विशेषण दिया गया है। नैयायिक व वैशेषिक, मुक्तजीवमें ज्ञानादि विशेष गुणका भी अभाव मानते हैं इसलिये "ज्ञानादिसे अमुक्त" विशेषण दिया है। कोई कोई मतावलम्बी मुक्तिसे फिर वापिस आना मानते हैं इसलिये "अक्षय" विशेषण दिया गया है। सांख्य मतावलम्बी, परमात्माको ज्ञानरहित मानता है इसलिये "ज्ञानमूर्ति" विशेषण दिया गया है और मुक्तामुक्त कहनेसे स्याद्वादकी सिद्धि भी की गई है तथा आगे भी प्रायः प्रत्येक श्लोकमें स्याद्वादकी सिद्धि की जायगी ॥ १ ॥

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं क्रमाद्धेतुफलावहः ।
यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥ २ ॥

अर्थ—वह परमात्मा आत्मरूप होनेसे कारणस्वरूप है और ज्ञानदर्शनरूप होनेसे कार्य स्वरूप भी है। इसी तरह केवलज्ञानके द्वारा जानने योग्य होनेसे ग्राह्यस्वरूप है और इन्द्रियोंके द्वारा न जानने योग्य होनेसे अग्राह्य स्वरूप भी है।

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यरूप है और परिणमनशील होनेसे पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद-विनाश

स्वभाव भी है। इस प्रकार परमात्मामें अनेक तरहसे अनेकांतपना सिद्ध होता है ॥ २ ॥

प्रमेयात्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रमेयत्वादिक धर्मोंकी अपेक्षासे वह परमात्मा अचेतनरूप है और ज्ञान दर्शनकी अपेक्षासे चेतनरूप भी है अर्थात् दोनों अपेक्षाओंसे चेतन अचेतन स्वरूप है।

भावार्थ—आत्मामें एक चेतना नामक गुण है, जिस गुणकी ज्ञान व दर्शन ये दो पर्यायें होती हैं और इस चेतना गुण अथवा इसकी ज्ञान-दर्शन पर्यायोंकी अपेक्षासे ही आत्मा चेतन कहलाता है। इस चेतना गुणके अतिरिक्त आत्मामें और जो प्रमेयत्व (जिसके होनेसे वस्तु ज्ञानका विषय होती है) आदि अनंत गुण ऐसे हैं जो कि पुद्गलादि अचेतन पदार्थोंमें भी पाये जाते हैं उन गुणोंकी अपेक्षा आत्मा एवं परमात्माको अचेतन भी कह सकते हैं और इसीलिये आत्मामें चेतनपना व अचेतनपना सिद्ध होता है ॥३॥

ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन ।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्त्तितः ॥ ४ ॥

अर्थ—वह परमात्मा ज्ञानसे भिन्न हैं और ज्ञानसे भिन्न

नहीं भी है। अर्थात् ज्ञानसे कथंचित् (किसी अपेक्षासे) भिन्न है सर्वथा (सब अपेक्षाओंसे) भिन्न भी नहीं है। इसी प्रकार यह परमात्मा ज्ञानसे अभिन्न है और ज्ञानसे अभिन्न भी नहीं है अर्थात् ज्ञानसे कथंचित् अभिन्न है सर्वथा अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि पहिले पिछले सब ज्ञानोंका समुदाय ही मिलकर आत्मा कहलाता है।

भावार्थ—आत्मा नित्य परिणमनशील पदार्थ है और उसमें अनंत गुण हैं जिनमें ज्ञानगुण एक ऐसा है जो हमारे अनुभवमें आता है और जिसके द्वारा हम अपने व दूसरेकी आत्माको जान सकते हैं इस कारण ज्ञानगुणको ही यहाँ आत्मा कहा गया है। दूसरी बात यह है कि यह ज्ञान या चेतना गुण आत्मामें हमेशा रहते हुए भी परिणमता (बदलता) रहता है इस कारण किसी एक समयके ज्ञान-मात्र ही आत्मा न होनेसे ज्ञानसे आत्मा भिन्न है और सर्व समयोंके ज्ञानोंका समुदाय रूप होनेसे ज्ञानसे आत्मा अभिन्न है इसी कारण ज्ञानसे आत्माको सर्वथा भिन्न वा अभिन्न न मानकर कथंचित् भिन्न अथवा अभिन्न माना गया है॥ ४ ॥

स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः।
ततः सर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा॥ ५ ॥

अर्थ—वह अरहंत परमात्मा अपने परम औदारिक शरीरके बराबर है और बराबर नहीं भी है अर्थात् समुद्घात (मूल शरीरमें रहते हुए भी आत्माके प्रदेशोंका कारण विशेषसे कार्माण आदि शरीरोंके साथ बाहर निकलना) अवस्थामें जिस समय केवली भगवानकी आत्माके प्रदेश संपूर्ण लोकाकाशमें फैल जाते हैं उस समय आत्मा औदारिक शरीरके बराबर नहीं है। इसी तरह वह परमात्मा ज्ञानमात्र है और ज्ञानमात्र नहीं भी है अर्थात् ज्ञानगुणको मुख्य करके व अन्य समस्त गुणोंको गौण करके यदि विचारा जाय तो आत्मा या परमात्मामें ज्ञानमात्र ही दृष्टिमें आता है और यदि अन्य गुणोंको मुख्य किया जाय तो ज्ञानमात्र दृष्टिमें नहीं भी आता है। इसी तरह जब केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण लोक व अलोकको जानने की अपेक्षा लेते हैं तब परमात्माको सर्वगत भी कह सकते हैं क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ परमात्मासे गत हैं अर्थात् ज्ञात हैं और संपूर्ण पदार्थोंको जानते हुए भी अरहंत परमात्मा अपने दिव्य औदारिक शरीरमें ही स्थित रहता है इसलिये वह विश्वव्यापी नहीं भी है।

भावार्थ—परमात्मामें उपर्युक्त धर्म कथंचित् सिद्ध होते हैं, सर्वथा सिद्ध नहीं होते।

नानाज्ञानस्वभावात्वादेकोऽनेकोपि नैव सः।
चेतनैकस्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत् ॥ ६ ॥

अर्थ–उस आत्मामें मतिज्ञान, (इन्द्रिय व मनसे वस्तु को जानना) श्रुतज्ञान (मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके संबंधीको जानना) आदि अनेक ज्ञान होते हैं तथा और भी सम्यक्त्व (सच्ची श्रद्धा) चारित्र (सच्चा आचरण) आदि अनेक गुण होते हैं जिनके कारण यह आत्मा यद्यपि अनेकरूप हो रहा है तथापि अपने चेतन स्वरूपकी अपेक्षा एकपनेको नहीं छोड़ता। इसलिये इस आत्माको कथंचित् क रूप भी जानना चाहिये और कथंचित् अनेक रूप भी जानना चाहिये।

भावार्थ–जैसे एक पुरुष एक स्वरूप होकर भी पिता, पुत्र, चचा, भतीजा आदिरूप कहलाता है क्योंकि पिताकी अपेक्षा उसको पुत्र और पुत्रकी अपेक्षा उसीको पिता, भतीजेकी अपेक्षा चचा और चचाकी अपेक्षा भतीजा कहते हैं। उसी तरह एक आत्मा आत्मपनेकी अपेक्षा एक स्वरूप होकर भी अपने धर्मोंकी अपेक्षा अनेक रूप कहा जाता है।

नाऽवक्तव्यः स्वरूपाद्यैर्निर्वाच्यः परभावतः।
तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचरः ॥ ७ ॥

अर्थ– वह आत्मा अपने स्वरूपकी अपेक्षा वक्तव्य (कहे जाने योग्य) होनेसे सर्वथा अवक्तव्य (न कहे जाने योग्य) भी नहीं है। और पर पदार्थोंके स्वरूपकी अपेक्षा अवक्तव्य होनेसे सर्वथा वक्तव्य भी नहीं है।

भावार्थ–प्रत्येक पदार्थ अपने धर्मों की अपेक्षासे कहा जाता है या पुकारा जाता है परके धर्मोंकी अपेक्षासे नहीं व्यवहार किया जाता जैसे कि आमका फल आमके नाम से कहा जाता है, केला अमरूद आदि के नामसे नहीं कहा जाता। इसलिए प्रत्येक वस्तुमें अपने स्वभावसे कहे जाने की योग्यता व अन्य पदार्थोंके स्वभावसे न कहे जाने की योग्यता समझते हुए आत्मामें भी ऐसा ही समझना चाहिये।

स स्याद्विधिनिषेधात्मा स्वधर्मपरधर्मयोः।
समूर्त्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात् ॥ ८ ॥

अर्थ–वह आत्मा अपने धर्मोंका विध न करनेवाला व अन्य पदार्थोंके धर्मोंका अपनेमें निषेध करनेवाला है और ज्ञानके आकार होनेसे वह आत्मा मूर्तिक तथा पुद्गलमय शरीरसे भिन्न होनेके कारण अमूर्तीक है।

भावार्थ–आत्मामें जैसे स्वरूपकी अपेक्षा विधिरूप धर्म है वैसे पररूपकी अपेक्षा निषेधरूप धर्म भी है।

क्योंकि जैसे ज्ञानादि आत्मिक धर्मोंकी अपेक्षा आत्माकी सत्ता सिद्ध होती है वैसे रूपरसादिक पुद्गलके धर्मोंकी अपेक्षा आत्माकी सत्ता नहीं सिद्ध होती, इसके अतिरिक्त ज्ञानका पुंज होनेके कारण जैसे आत्मा मूर्तिक कहा जा सकता है उसी तरह पुद्गल परमाणुओंका बना हुआ न होनेसे अमूर्तिक भी कहलाता है ।। ८ ।।

इत्याद्यनेकधर्मत्वं बंधमोक्षौ तयोः फलम् ।
आत्मा स्वीकुरुते तत्तत्कारणैः स्वयमेव तु ।। ९ ।।

अर्थ—इस प्रकार पहले कहे हुए क्रमके अनुसार यह आत्मा अनेक धर्मोंको धारण करता है और उन धर्मोंके फलस्वरूप, बंध व मोक्षरूप फलको भी उन २ कारणोंसे स्वयं अपनाता है ।

भावार्थ—यह आत्मा रागद्वेषादि कारणोंसे कर्मका बंध करके पराधीन व दुःखी भी अपने आप होता है और ज्ञान, ध्यान, तप, जप आदि कारणोंसे बंध अवस्थाको नष्ट करके मुक्तिको प्राप्त कर स्वाधीन भी स्वयं ही हो जाता है ।। ९ ।।

कर्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु ।
बहिरन्तरुपायाभ्यां तेषां मुक्तत्वमेव हि ।। १० ।।

अर्थ—जो आत्मा बाह्य शत्रु मित्र आदि व अंतरंग रागद्वेष आदि कारणोंसे ज्ञानावरणादिक कर्मोंका कर्ता व उनके सुख दुःखादि फलोंका भोक्ता है, वही आत्मा बाह्य स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादिका त्याग करनेसे कर्मोंके कर्ता भोक्तापनेके व्यवहारसे मुक्त भी है। अर्थात् जो संसार-दशामें कर्मोंका कर्त्ता व भोक्ता है वही मुक्तदशामें कर्मोंका कर्त्ता भोक्ता नहीं भी है ॥ १० ॥

आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका उपाय—

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रमुपायः स्वात्मलब्धये ।
तत्त्वे याथात्म्यसंस्थित्यमात्मनो दर्शनं मतं ॥ ११ ॥
यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।
तत्स्वार्थव्यवसायात्मकथञ्चित्प्रमितेः पृथक् ॥ १२ ॥
दर्शनज्ञानपर्यायेपूत्तरोत्तरभाविषु ।
स्थिरमालम्बनं यद्वा माध्यस्थ्यं सुखदुःखयोः ॥१३॥
ज्ञाता दृष्टाऽहमेकोऽहं सुखे दुःखे न चापरः ।
इतीदं भावनादार्ढ्यं, चारित्रमथवा परम् ॥ १४ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति अर्थात् संसारसे मुक्त होनेके कारण हैं। आत्माके वास्तविक स्वरूप या

सात तत्त्वोंके सच्चे श्रद्धानको तो सम्यग्दर्शन कहते हैं। पदार्थोंके वास्तविकरूपनेसे निर्णय करनेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान दीपककी तरह अपना तथा अन्य पदार्थों का प्रकाशक होता है। अज्ञान निवृत्तिरूप जो फल है उससे कथंचित् भिन्न भी है। जो अपनी ही क्रम क्रमसे होनेवाली ज्ञान दर्शनादिक पर्यायोंमें स्थिररूप आलम्बन है उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं। अथवा सांसारिक सुख दुःखोंमें मध्यस्थभाव रखनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं। या मैं ज्ञाता हूँ, दृष्टा हूं अपने कर्त्तव्यके फलस्वरूप सुख दुःखों का भोगनेवाला स्वयं अकेला ही हूँ। बाह्य स्त्री पुत्रादि पदार्थोंका मेरेसे कोई संबंध नहीं है इत्यादि अनेक प्रकारकी शुद्ध आत्मस्वरूप में तल्लीन करानेवाली भावनाओंकी दृढ़ताको भी सम्यक्चारित्र कहते हैं ॥११॥ ॥१२॥ ॥१३॥ ॥१४॥

तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारकम्।
यद्बाह्यं देशकालादि तपश्च बहिरंगकम् ॥ १५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रको जो ऊपरके श्लोकोंमें मोक्ष प्राप्तिका मूल कारण बताया है। उनके सहकारीकारण देशकालादिकको व अनशन अवमौदर्य आदि बाह्यतपको समझना चाहिये।

भावार्थ— मोक्ष प्राप्तिमें जैसे रत्नत्रय अंतरंग कारण है वैसेही उत्तम क्षेत्र दुःखमसुखमा काल, वज्रवृषभनाराचसंहनन, उपवास आदि तप बाह्य कारण हैं।

इतीदं सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च शक्तितः।
आत्मानं भावयेन्नित्यं, रागद्वेषविवर्जितम्॥ १६॥

अर्थ—इस प्रकार तर्क वितर्कके साथ आत्मस्वरूपको अच्छी तरह जानकर सुखमें व दुःखमें यथाशक्ति आत्माको नित्य ही रागद्वेष रहित चिन्तवन करना चाहिये। अर्थात् सुख सामग्रीके मिलने पर राग नहीं करना चाहिये और अनिष्ट समागममें द्वेष नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये सब इष्ट अनिष्ट पदार्थ आत्माको कुछ भी हानि नहीं कर सकते। इनका संबंध केवल शरीरसे रहता है ऐसा विचार रखना चाहिये॥ १६॥

कषायै रञ्जितं चेतस्तत्त्वं नैवावगाहते।
नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौंकुमः॥ १७॥

अर्थ-जैसे नीले कपड़ेपर केशरका रंग नहीं चढ़ सकता, वैसे ही क्रोधादि कषायोंसे रंजायमान हुए मनुष्य का चित्त. वस्तुके असली स्वरूपको नहीं पहचान सकता।

भावार्थ—वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाननेका यत्न करनेसे भी पहले हृदयसे क्रोधादि कषायोंको दूर करना

चाहिये तभी वस्तुका वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। जैसे अग्निसे जली हुई भूमिमें अंकुर नहीं उगता, वैसे ही कषायसे दग्ध हृदयमें धर्माङ्कुर नहीं आता। इस दृष्टांतको भी हृदयंगम करके प्रत्येकको निरंतर कषायोंको दूर करनेके लिये पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिये जिससे कि वे संसारसागरमें डूबी अपनी आत्माका उद्धार कर सकें।

ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै निर्मोहो भव सर्वतः।
उदासीनत्वमाश्रित्य तत्त्वचिंतापरो भव ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य व्यवहारी जीवसे कहते हैं कि हे भाई! जब रागद्वेष के बिना दूर किये आत्महित नहीं हो सकता तब तुमको रागद्वेष दूर करनेके लिये शरीरादिक पर पदार्थोंका मोह त्यागकर और संसार शरीर व भोगोंसे उदासीन भाव धारण करके तत्त्व विचारमें तन्मय रहना चाहिये॥१८॥

हेयोपादेयतत्त्वस्य, स्थितिं विज्ञाय हेयतः।
निरालम्बो भवान्यस्मादुपेये सावलम्बनः॥ १९ ॥

अर्थ—हेय (त्यागने योग्य) व उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थों का स्वरूप जानकर पररूप जो हेय वस्तु है उसको त्यागना चाहिये व उपादेय वस्तुका ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ–जो स्त्री, पुत्र, पुत्र, धनधान्य, शत्रु, मित्रादि पदार्थ आत्महितके बाधक और आकुलताके बढ़ानेवाले हैं उनसे संबंध छोड़ना चाहिये तथा संसारी जीवोंको एक मात्र पंच परमेष्ठीका शरण ... ज्ञान ध्यानादिमें तन्मय रहना चाहिये ॥ १९ ॥

स्वं परं चेति वस्तुत्वं, ... भावय ।
उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते, ... ॥ २० ॥

अर्थ–अपनी आत्मामें ... पदार्थोंके असली स्वरूपका बार बार चिन्तवन करना ... और समस्त संसारी पदार्थोंकी इच्छाका त्याग करके ... भावना (रागद्वेषके त्यागकी भावना) को बढ़ाके ... मोक्षपद प्राप्त करना चाहिये ॥ २० ॥

मोक्षेऽपि यस्यनाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति ।
इत्युक्तत्वाद्धितान्वेषी, कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥ २१ ॥

अर्थ–जब किसी साधु महात्मा पुरुषके हृदयसे मोक्षकी भी इच्छा निकल जाती है तभी उसको मुक्ति प्राप्त होती है। इस सिद्धान्त वाक्यके ऊपर ध्यान देते हुए आत्महितके इच्छुक जीवोंको सभी पदार्थोंकी इच्छाका त्याग करना चाहिये।

भावार्थ—किसी भी पदार्थकी प्राप्ति प्रयत्न करने से होती है, इच्छामात्रसे नहीं होती। यहाँ तक कि मोक्षकी इच्छा करनेसे मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता, किन्तु इच्छा करने से मोक्ष प्राप्तिमें उलटी बाधा उपस्थित होती है। इसलिए आत्माको हित चाहने वाले-पुरुषोंको इच्छा सर्वथा त्याज्य समझना चाहिये ॥ २१ ॥

साऽपि च स्वात्मनिष्ठत्वात्सुलभा यदि चिन्त्यते।
आत्माधीने सुखे तात, यत्नं किं न करिष्यसि ॥ २२ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि इच्छा करना तो अपने आधीन होनेसे सुलभ है किन्तु फल प्राप्ति अपने आधीन न होनेसे कठिन है इसलिए इच्छा किसीभी वस्तुकी की जा सकती है। ऐसा कहने वालेको आचार्य करुणापूर्वक कहते हैं कि हे भाई! जैसे इच्छा करना आत्माधीन होने से सुलभ है वैसेही परमानन्दमय सुखका पाना भी तो आत्माके ही आधीन है। इसलिये तुम उसकी प्राप्तिका प्रयत्न ही क्यों नहीं करते, जिससे कि संसारके झगड़ोंसे छूटकर हमेशाके लिये निराकुलित हो जाओ ॥ २२ ॥

स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि-किन्त्विमम्।
अनाकुल स्वसंवेद्ये, स्वरूपे तिष्ठ केवले ॥ २३ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि मुक्ति प्राप्त करना भी अपने

ही आधीन समझकर स्व और परको जानना चाहिये तथा वाह्य पदार्थोंके मोहको नष्ट करना चाहिये और आकुलता रहित स्वानुभवगम्य केवल अपने निज स्वरूपमें ही स्थिर होना चाहिये ॥ २३ ॥

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरम् ।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्स्वोत्थमानंदममृतं पदम् ॥ २४ ॥

अर्थ—इस श्लोकमें आचार्य आत्मामें ही सातों कारक सिद्ध करते हुए कहते हैं कि व्यवहारी जीवोंको अपनी ही आत्मामें अपने ही आत्महितके लिये अपने ही द्वारा अपने आप ही अपना ध्यान करना चाहिये और अपनी ही आत्मासे उत्पन्न हुए परमानन्दमय अविनश्वर पदको प्राप्त करना चाहिये ॥ २४ ॥

इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयम्,
य एतदाख्याति शृणोति चादरात् ।
करोति तस्मै परमार्थसम्पदम्,
स्वरूपसंबोधनपंचविंशतिः ॥ २५ ॥

अर्थ—श्री अकलंक भट्टाचार्य उपसंहार करते हुए ग्रंथका माहात्म्य वर्णन करते हैं कि जो पुरुष पच्चीस श्लोकों में कहे हुए इस स्वरूपसंबोधन ग्रंथको आदरसे पढ़ेंगे सुनेंगे

और इसके वाक्यों द्वारा कहे हुए आत्म तत्त्वका वारंवार मनन करेंगे उनको यह ग्रन्थ परमार्थकी सम्पत्ति अर्थात् मोक्षपद प्राप्त करावेगा।

❀ इति संपूर्ण ❀

❀ अध्यात्मगीत ❀

(पं० बनारसीदासजी).

राग गौरी।

मेरा मनका प्यारा जो मिलै। मेरा सहज सनेही जो मिलै ॥ टेक ॥ अवधि अजोध्या आतमराम। सीता सुमति करै परणाम ॥ मेरा० ॥ १ ॥ उपज्यो कंत मिलनको चाव। समता सखीसों कहै इस भाव ॥ मेरा० ॥ २ ॥ मैं विरहिन पियके आधीन। यों तलफों ज्यों जल विन मीन ॥ मेरा० ॥ ३ ॥ बाहिर देखूं तो पिय दूर। घट देखे घटमें भरपूर ॥ मेरा० ॥ ४ ॥ घटमहि गुप्त रहै निरधार। वचनअगोचर मनके पार ॥ मेरा० ॥ ५ ॥ अलख अमूरति वर्णन कोय। कवधों पियको दर्शन होय ॥ मेरा० ॥ ६ ॥ सुगम सुपंथ निकट है ठौर। अंतर आड विरहकी दौर ॥ मेरा० ॥ ७ ॥ जउ देखों पियकी उनहार। तन मन सर्वस डारों वार ॥ मेरा० ॥ ८ ॥ होहुं मगन मैं दरशन पाय। ज्यों दरियामें

बूंद समाय ॥ मेरा० ॥ ९ ॥ पियको मिलों अपनपो खोय। ओला गल पाणी ज्यों होय ॥ मेरा० ॥ १० ॥ मैं जग ढूंढ फिरी सब ठोर। पियके पटतर रूप न ओर ॥ मेरा० ॥ ११ ॥ पिय जगनायक पिय जगसार। पियकी महिमा अगम अपार ॥ मेरा० ॥ १२ ॥ पिय सुमिरत सब दुख मिट जाहिं। भोरनिरख ज्यों चोर पलाहिं ॥ मेरा०॥ १३ ॥ भयभंजन पियको गुनवाद। गजगंजन ज्यों के हरिनाद ॥ मेरा० ॥ १४ ॥ भाजइ भरम करत पियध्यान। फटइ तिमिर ज्यों ऊगत भान ॥ मेरा० ॥ १५ ॥ दोष दुरह देखत पिय ओर। नाग डरइ ज्यों बोलत मोर ॥ मेरा० ॥ १६ ॥ बसों सदा मैं पियके गाँउ। पियतज और कहाँ मैं जांउ ॥ मेरा० ॥१७॥ जो पिय-जाति जाति मम सोइ। जातहिं जात मिलै सब कोइ ॥ मेरा० ॥ १८ ॥ पिय मोरे घट, मैं पियमाहिं। जलतरंग ज्यों द्विविधा नाहिं ॥ मेरा० ॥ १९ ॥ पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी मैं ज्ञानविभूति ॥ मेरा०॥ २० ॥ पिय सुखसागर मैं सुखसींव। पिय शिवमन्दिर मैं शिवनीव ॥ मेरा० ॥ २१ ॥ पिय ब्रह्मा मै सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम ॥ मेरा० ॥ २२ ॥ पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवलवानि ॥ मेरा० ॥ २३ ॥ पिय भोगी मैं भुक्तिविशेष पिय जोगी मैं मुद्रा भेष ॥ मेरा० ॥ २४ ॥ पिय मो रसिया

मैं रसरीति । पिय व्योहारिया मैं परतीति ॥ मेरा० ॥२५॥ जहाँ पिय साधक तहाँ मैं सिद्ध । जहाँ पिय ठाकुर तहाँ मैं रिद्ध ॥ मेरा० ॥ २६ ॥ जहाँ पिय राजा तहाँ मैं नीति । जहँ पिय जोद्धो तहाँ मैं जीति ॥ मेरा० ॥ २७ ॥ पिय गुणग्राहक मैं गुणप ति । पिय बहुनायक मैं बहुभाँति ॥ मेरा० ॥ २८ ॥ जहँ पिय तहँ मैं पियके संग । ज्यों शशि हरिमें ज्योति अभंग ॥ मेरा० ॥ २९ ॥ पिय सुमिरन पियको गुणगान । यह परमारथपंथ निदान ॥ मेरा० ॥ ३० ॥ कहइ व्यवहार बनारसिनाव । चेतन सुमति सटी इकठांव ॥ मेरा० ॥ ३१ ॥

❀ इति चेतनसुमति गीत ❀

❀ प्रश्नोत्तर दोहा ❀

❀ पं० बनारसीदासजी ❀

प्रश्न—कौन वस्तु वपु मांहि है, कहाँ आवै कहाँ जाय।
ज्ञानप्रकाश कहा लखै, कौन ठौर ठहराय ॥ १ ॥
उत्तर—चिदानंद वपुमांहि है, भ्रममहिं आवै जाय।
ज्ञान प्रकट आपा लखै, आपमाहिं ठहराय ॥ २ ॥
प्रश्न—जाको खोजत जगतजन, कर कर नानाभेष।
ताहि बतावहु, है कहा जाको नाम अलेप ॥ ३ ॥

उत्तर–जग शोधत कछु और को, वह तो और न होय।
वह अलेख निरमेष पुनि खोजनहारा सोय ॥ ४ ॥

प्रश्न–उपजै विनसै थिर रहै, वह अविनाशी नाम।
भेदी तुम भारी भला, मोहि बतावहु ठाम ॥ ५ ॥

उत्तर–उपजै विनसै रूप जड़, वह चिद्रूप अखंड।
जोग जुगति जगमें लसैं, वसै पिण्ड ब्रहमंड ॥ ६ ॥

प्रश्न–शब्द अगोचर वस्तु है, कछू कहौं अनुमान।
जैसी गुरु आगम कही, तैसी कहौ सुजान ॥ ७ ॥

उत्तर–शब्द अगोचर कहत है, शब्दमाहिं पुनि सोय।
स्याद्वाद शैली अगम, विरला बूझै कोय ॥ ८ ॥

प्रश्न–वह अरूप है रूपमें, दुरिकै कियो दुराव।
जैसें पावक काठमें, प्रगटे होत लखाव ॥ ९ ॥

उत्तर–हुतो प्रगट फिर गुपतमय, यह तो ऐसो नाहिं।
है अनादि ज्यों खानिमें, कंचन पाहनमाहिं ॥ १० ॥

❀ इति प्रश्नोत्तर दोहा ❀

ज्ञान बावनी।

(पं० बनारसीदासजी) घनाक्षरी।

भूल्यो तू निगोद कोऊ काल पाय डाँकि आयो,
प्रत्येक शरीर पंच थावरमें तें धर्यो ।

पुनि त्रिकलिंदी इंदी पंच परकार चार,
नरक तिर्यंच देव, पुनि पुनि संचरयो ॥
बनारसीदास अब नरभव कर्म भूमि,
गंठि भेद कीन्हों मोक्षमारगमें पै धरयो।
चेतरे चतुर नर अजहूँ तू क्यों न चेतै ?
इस अवतार आयो एते घाट उतरयो॥ ३२ ॥

निमित्तउपादानके दोहे।

(पं० बनारसीदासजी)

गुरुउपदेश निमित्त बिन, उपादानबलहीन।
ज्यों नर दूजे पांव बिन, चलवेको आधीन॥ १ ॥
हौं जाने था एक ही, उपादानसों काज।
थकै सहाई पौन बिन, पानीमाहिं जहाज॥ २ ॥

दोनों दोहोंका उत्तर।

ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमगधार।
उपादान निहचै जहाँ, तहँ निमित्त व्यौहार॥ ३ ॥
उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय।
भेद ज्ञान परवान विधि, विरला बूझै कोय॥ ४ ॥
उपादान बल जहँ तहाँ, नहिं निमित्तको दाव।
एक चक्रसौं रथ चलै, रविको यहै स्वभाव॥ ५ ॥

सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन ।
ज्यों जहाज परवाहमें, तिरै सहज विन पौन ॥ ६ ॥

उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेस ।
वसै जु जैसे देशमें, करै सु तैसे भेस ॥ ७ ॥

❀ इति निमित्त उपादानके दोहे ❀

❀ उपादान निमित्तकी चिट्ठी ❀

(पं० बनारसीदासजी)

प्रथम ही कोई पूछत है कि निमित्त कहा उपादान कहा ? ताकौ व्यौरौ—निमित्त तौ संयोगरूप कारण, उपादान वस्तुकी सहज शक्ति । ताकौ व्यौरौ—एक द्रव्यार्थिक निमित्त उपादान, एक पर्यायार्थिक निमित्त उपादान, ताको व्यौरौ–द्रव्यार्थिक निमित्त उपादान गुनभेदकल्पना । पर्यायार्थिक निमित्त उपादान परजोग–कल्पना । ताकी चौभंगी, प्रथम ही गुनभेद कल्पनाकी चौभंगीकौ विस्तार कहौं सो कैसैं,—ऐसैं—सुनौ—जीवद्रव्य ताके अनन्तगुन, सब गुन असहाय स्वाधीन सदाकाल । तामैं दोय गुण प्रधान मुख्य थापे, तापर चौभंगीको विचार एक तौ जीवकौ ज्ञानगुन दूसरो जीवको चारित्रगुन ।

ए दोनौं गुण शुद्धरूप भाव जानने । अशुद्धरूप भी

ज्ञानने यथायोग्य स्थानक मानने ताको ब्यौरौ—इन दुहूँकी गति न्यारी न्यारी, शक्ति न्यारी न्यारी, जाति न्यारी न्यारी, सत्ता न्यारी न्यारी ताकौ ब्यौरौ,—ज्ञानगुणकी तौ ज्ञान अज्ञानरूप गति, स्वपरप्रकाशक शक्ति, ज्ञानरूप तथा मिथ्या-स्वरूप जाति, द्रव्यप्रमाण सत्ता, परंतु एक विशेष इतनौ जु ज्ञानरूप जातिको नाश नाहीं, मिथ्यात्वरूप जातिको नाश, सम्यग्दर्शन उत्पत्ति पर्यंत, यह तौ ज्ञान गुणको निर्णय भयो। अब चारित्र गुणको ब्यौरौ कहै हैं,—संकलेस विशुद्धरूप गति, थिरता अथिरता शक्ति, मंदी तीव्ररूप जाति, द्रव्यप्रमाण सत्ता। परंतु एक विशेष जु मंदताकी स्थिति चतुर्दशम गुणस्थानकपर्यन्त। तीव्रताकी स्थिति, पंचमगुणस्थानक पर्यन्त। यह तौ दुहुकौ गुण भेद न्यारौ न्यारौ कियौ। अब इनकी व्यवस्था न ज्ञान चारित्रके आधीन न चारित्र ज्ञानके आधीन। दोऊ असहाय रूप यह तौ मर्यादा बंध।

अथ चौभंगीको विचार ज्ञानगुन निमित्त चारित्रगुण उपादानरूप ताको ब्यौरौ—

एक तो अशुद्ध निमित्त अशुद्ध उपादान, दूसरो अशुद्ध निमित्त शुद्ध उपादान, तीसरो शुद्ध निमित्त अशुद्ध उपा-दान, चौथो शुद्ध निमित्त शुद्ध उपादान। ताको ब्यौरौ—

सूक्ष्मदृष्टि देइकरि एक समयकी अवस्था द्रव्यकी लेनी, समुच्चयरूप मिथ्यात्व सम्यक्त्वकी बात नाहीं चलावनी। काहू समै जीवकी अवस्था या भांति होतु है जु जानरूप ज्ञान विशुद्ध चारित्र, काहू समै अजानरूप ज्ञान विशुद्ध चारित्र, काहू समै जानरूप ज्ञान संकलेसरूप चारित्र, काहू समै अजानरूप ज्ञान संकलेस चारित्र, जा समैं अजानरूप गति ज्ञानकी, संकलेसरूप गति चारित्रकी तासमैं निमित्त उपादान दोऊ अशुद्ध। काहू समैं अजान-रूप ज्ञान विशुद्ध रूप चारित्र तासमैं अशुद्ध निमित्त शुद्ध उपादान। काहू समैं जानरूप ज्ञान संकलेसरूप चारित्र तासमैं शुद्ध निमित्त अशुद्ध उपादान। काहू समैं जानरूप ज्ञान विशुद्धरूप चारित्र तासमैं शुद्ध निमित्त शुद्ध उपादान या भांति अन्य २ दशा जीवकी सदाकाल अनादिरूप, ताकौ व्यौरौ—जानरूप ज्ञानकी शुद्धता कहिए विशुद्धरूप चारित्रकी शुद्धता कहिए। अज्ञानरूप ज्ञानकी अशुद्धता कहिए संक्लेश रूप चारित्रकी अशुद्धता कहिये। अब ताकौ विचार सुनो——मिथ्यात्व अवस्थाविषै काहू समै जीवको ज्ञान गुण जाणरूप है तब कहा जानतु है ? ऐसौ जानतु है—कि लक्ष्मी पुत्र कलत्र इत्यादिक मौसौं न्यारे हैं प्रत्यक्ष प्रमाण। हौं मरूंगो ए इहां ही रहैंगे सो जान तु है। अथवा ए जाहिंगे, हौं रहूँगो, कोई काल इन्हस्यौं मोहि

एक दिन विजोग है ऐसो जानपनौ मिथ्यादृष्टीको होतु है सो तो शुद्धता कहिए। परंतु सम्यक् शुद्धता नाहीं, गर्भित-शुद्धता, जब वस्तुकौ स्वरूप जानै तब सम्यक् शुद्धता सो ग्रंथिभेद बिना होई नाहीं परन्तु गर्भित शुद्धता सौ भी काम निर्जरा है वाही जीवको काहू समै ज्ञान गुण अजान-रूप है गहलरूप, ताकरि केवल बंध है। याही भांति मिथ्यात्व अवस्थाविषै काहू समै चारित्र गुण विशुद्धरूप है तातैं चारित्रावर्ण कर्म मंद है। ता मंदताकरि निर्जरा है। काहू समै चारित्र गुण संकलेशरूप है तातैं केवल तीव्रबंध है। या भांतिकरि मिथ्या अवस्थाविषै जासमै जानरूप ज्ञान है और विशुद्धतारूप चारित्र है ता समै निर्जरा है। जा समैं अजानरूप ज्ञान है संकलेशरूप चारित्र है तामैं बंध है तामैं विशेष इतनौ जु अल्प निर्जरा बहु बंध, तातैं मिथ्यात अवस्थाविषै केवल बन्ध कह्यो। अल्पकी अपेक्षा, जैसैं—काहू पुरुषकौं नफो थोड़ो टोटौ बहुत सो पुरुष टोटाउ ही कहिए। परंतु बंध निर्जरा बिना जीव काहू अवस्था-विषै नाहीं। दृष्टान्त ऐसौ—जु विशुद्धताकरि निर्जरा न होती तौ एकेन्द्री जीव निगोद अवस्थास्यौं व्यवहारराशि कौनके बल आवतौ? उहां तौ ज्ञान गुन अजानरूप गहलरूप है अबु-द्धरूप है तातैं ज्ञानगुनकौतौ बल नाहीं। विशुद्धरूप चारित्रके बलकरि जीव व्यवहार राशि चढ़तु है। जीव द्रव्यविषै

कषायकी मंदता होतु है ताकरि निर्जरा होतु है। वाही मंदता प्रमान शुद्धता जाननी। अब और भी विस्तार सुनो—

जानपनौ ज्ञानको अरु विशुद्धता चारित्रकी दोऊ मोक्ष-मार्गानुसारी है तातैं दोऊविषे विशुद्धता माननी। परंतु विशेष इतनौ जु गर्भित शुद्धता प्रगट शुद्धता नाहीं। इन दुहू गुणकी गर्भित शुद्धता जबताई ग्रंथिभेद होय नाहीं तबताई मोक्षमार्ग न सधै। परंतु ऊरधताको करहि अवश्य करि ही। ए दोऊ गुणकी गर्भित शुद्धता जब ग्रंथिभेद होइ तब इन दुहूँकी शिखा फूटै तब दोऊ गुन धाराप्रवाह-रूप मोक्षमार्गकौं चलहिं। ज्ञानगुनकी शुद्धताकरि ज्ञानगुण निर्मल होहि। चारित्र गुणकी शुद्धताकरि चारित्र गुण निर्मल होइ। वह केवल ज्ञानको अंकूर, वह जथाख्यात-चारित्रको अंकूर।

इहां कोऊ उटंकना करतु है,—कि तुम कह्यो जु ज्ञानको जाणपणौ अरु चारित्रकी विशुद्धता दुहूंस्यों निर्जरा है सु ज्ञानके जाणपणो सो निर्जरा यह हम मानी। चारित्रकी विशुद्धतासौं निर्जरा कैसैं? यह हम नाहीं समुझी—ताको समाधान,—

सुनि भैया! विशुद्धता थिरतारूप परिणामसों कहिये-सो थिरता जथाख्यातको अंश है तातैं विशुद्धतामें शुद्धता

आई। भी वह उद्धरनावारो बोल्यौ—तुम विशुद्धतासौं निर्जरा कही, हम कहतु है कि विशुद्धतासों निर्जरा नाहीं शुभबंध है—ताकौ समाधान;—कि सुन भैया यह तौ तू सांचो, विशुद्धतासों शुभबंध, संक्लेशतासों अशुभबंध, यह तो हम भी मानी परंतु और भेद यामैं है सो सुनि—अशुभपद्धति अधोगतिको परणमन है शुभपद्धति उर्द्धगतिकौ परनमन है तातै अधोरूप संसार उर्द्धरूप मोक्षस्थान पकरि, शुद्धता वामें आइ मानि मानि, यामैं धोखौ नाहीं है। विशुद्धता सदा काल मोक्षको मार्ग है परंतु ग्रंथभेद बिना शुद्धताको जोर चलत नाहीनै? जैसैं कोऊ पुरुष नदीमें डुबक मारै फिर जब उछलै तब दैवजोगसों ऊपर ता पुरुषकै नौका आय जाय तौ यद्यपि तारू पुरुष है तथापि कौन भांति निकलै? वाको जौर चले नाहिं, बहुतेरा कलचल करै पै कछु बसाइ नांही, तैंसैं विशुद्धताकी भी ऊर्द्धता जाननी। ता वास्तै गंभित शुद्धता कही। वह गभित शुद्धता ग्रंथिभेद भये मोक्षमार्गको चली। अपने स्वभावकरि वर्द्धमान रूप भई तब पूर्ण जथाख्यात प्रगट कहायो। विशुद्धताकी-जु ऊर्द्धता वहै वाकी शुद्धता।

और सुनि जहां मोक्षमार्ग साध्यौ तहां कह्यौ कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' और यों भी कह्यौ कि "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" ताको विचार—चतुर्थ गुणस्थान-

करणु लेकरि चतुर्दशम गुणस्थानकपर्यन्त मोक्षमार्ग कह्यौ, ताकौ ब्यौरौ—सम्यक्‌रूप ज्ञानधारा विशुद्धरूप चारित्रधारा दोऊधारा मोक्षमार्गको चली सु ज्ञानसौं ज्ञानकी शुद्धता क्रियासौं क्रियाकी शुद्धता। जो विशुद्धतामें शुद्धता है तौ जथाख्यातरूप होत है। जो विशुद्धता में ता न होती तौ ज्ञान गुण शुद्ध होतो क्रिया अशुद्ध रहती केवली विषै, सो यौ तौ नहीं वामें शुद्धता हती ताकरि विशुद्धता भई। इहां कोई कहैगो कि ज्ञानको शुद्धताकरि क्रिया शुद्ध भई सो यों नाहीं। कोऊ गुन काहू गुनके सारै नहीं, सब असहायरूप है। और भी सुनि जो क्रियापद्धति सर्वथा अशुद्ध होती तौ अशुद्धताकी एती शक्ति नाहीं जु मोक्षमार्गको चलै तातैं विशुद्धतामें जथाख्यातको अंश है तातैं वह अंश क्रम क्रम पूरण भयौ। ए भइया उटकनावारे—तैं विशुद्धतामें शुद्धता मानी कि नाहीं ? जो तौ मैं मानी तौ कछु और कहिवेकौ कार्य नाहीं। जो तैं नाहीं मानी तौ तेरौ द्रव्य याही भांतिकौ परनयौ है हम कहा करि हैं जो मानी तौ स्याबासि। यो तौ द्रव्यार्थिककी चौभंगी पूरन भई।

निमित्त उपादान शुद्ध अशुद्धरूप विचार—

अब पर्यायार्थिककी चौभंगी सुनौ एक तौ वक्ता अज्ञानी, श्रोता भी अज्ञानी, सो तौ निमित्त भी अशुद्ध उपादान भी अशुद्ध। दूसरो वक्ता अज्ञानी श्रोता ज्ञानी सो

निमित्त अशुद्ध और उपादान शुद्ध। तीसरो वक्ता ज्ञानी श्रोता अज्ञानी सो निमित्त शुद्ध उपादान अशुद्ध। चौथो—वक्ता ज्ञानी श्रोता भी ज्ञानी सो तो निमित्त भी शुद्ध २ उपादान भी शुद्ध। यह पर्यायार्थिककी चौभंगी साधी।

❀ इति निमित्तउपादान शुद्धाशुद्धरूपविचार वचनिका ❀

❀ इष्टोपदेश ❀

(श्री पूज्यपादस्वामी विरचित)

मंगलाचरणः—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने॥ १॥

अर्थ—संपूर्ण कर्मोंके अभाव हो जाने पर जिन्हें स्वयं ही स्वभावकी प्राप्ति हो गई है उस सम्यग्ज्ञानरूप परमात्मा के लिये नमस्कार होओ॥ १॥

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता॥ २॥

अर्थ—योग्य (कार्यके उत्पादन करनेमें समर्थ) उपादान कारणके संयोगसे जैसे पाषाण विशेष (जिसमें सुवर्ण-

रूप परिणमनेकी योग्यता पाई जाती है। स्वर्ण बन जाता है वैसे ही उत्तम द्रव्य क्षेत्रादिरूप सामग्रीकी प्राप्ति हो जाने पर जीव (संसारी आत्मा) भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हो जाता है। अर्थात् संसारी प्राणी जीवात्मासे परमात्मा बन जाता है ॥ २ ॥

विशेष—उपादान=(उप+आदान) उपका अर्थ समीप है और आदान का अर्थ ग्रहण होना है। जिस पदार्थके समीपमेंसे कार्यका ग्रहण हो वह उपादान है। अर्थात् वस्तुकी निजकी शक्ति। और उस समय जो परपदार्थके अनुकूल उपस्थिति हो सो निमित्त है।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

अर्थ—व्रतोंके द्वारा देवपद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतोंके द्वारा नरकपद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। छाया और धूपमें बैठने वालोंमें जैसे महान् अन्तर पाया जाता है ठीक वैसे ही व्रत और अव्रतके आचरण करने-वालोंमें महान् अंतर है।

विशेष—अशुभभावोंकी अपेक्षा शुभ भाव करना अच्छा है, परंतु शुद्धभावकी दृष्टिमें दोनों ही हेय हैं।

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी ।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ॥ ४ ॥

अर्थ—जो आत्मपरिणाम मोक्ष प्रदान करता है उस मोक्ष देनेमें समर्थ आत्मपरिणामके लिये स्वर्ग कितनी दूर है ? देखो, जो अपने भारको दो कोस तक शीघ्रताके साथ लेजा सकता है तो क्या वह अपने भारको आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा ? नहीं । अर्थात् जिससे महान फल की प्राप्ति हो सकती है उससे अल्पफल का प्राप्त हो जाना तो स्वाभाविक ही है ।

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितं ।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

अर्थ—स्वर्गमें निवास करनेवाले देवोंका स्वर्गीय सुख सर्वांगीण हर्ष देने वाला आतंक रहित और दीर्घ (सागरोपम) काल तक बना रहने वाला होता है । अधिक क्या कहें, स्वर्गमें निवास करनेवाले देवोंको सुख स्वर्गवासी देवोंके समान ही हुआ करता है । अर्थात् उस सुखकी उपमा किसी दूसरेकी नहीं दी जा सकती है, वह सुख अनन्योपम है ।

फिर मोक्षसुख चाहनेसे क्या लाभ ? उत्तर ।

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि ॥ ६ ॥

अर्थ—संसारी देहधारियोंका यह सुख और दुख मात्र वासनाजन्य ही है। क्योंकि आपत्तिके समयमें ये भोग रोगोंके समान आकुलता देने वाले होते हैं।

संसारी जीव इस सुखदुःखको वासनाजन्य ही क्यों नहीं मानते ? उत्तर ।

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान्यदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

अर्थ—मोहसे ढका हुआ ज्ञान पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको वैसे ही नहीं ज़ान पाता है-जैसे मद-पैदा करनेवाले कोदों धानके खानेसे मतवाला आदमी पदार्थोंको ठीक रूपसे नहीं जान पाता है।

मूढ प्राणी वस्तुस्वरूप कैसे लखता है? उत्तर ।

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र और शत्रु आदि

सभी हरेक प्रकारसे आत्मस्वभावसे भिन्न स्वभाववाले ही हैं परंतु मूढ (मोही) जीव इन्हे आत्मा व आत्माके मानता है।

बाह्य पदार्थोंका संयोग कैसा है? उत्तर।

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥ ९ ॥

अर्थ—भिन्न२ दिशाओं व देशोंसे उड़ उड़कर आते हुए पक्षिगण वृक्षोंपर (रातके समय) बसेरा करते हैं और (सबेरा होने पर) अपने२ कार्यके वशसे भिन्न भिन्न दिशाओं व देशोंमें उड़ जाते हैं।

विशेष—ठीक पक्षिगणके समान ही संसारी जीवोंकी दशा है। अपने२ कर्मोंके वश भिन्न२ गतियोंसे आकर अपनी आयुपर्यंत उनका संयोग हो जाता है और अंतमें अपने२ कर्मानुसार भिन्न२ स्थानोंमें चले जाते हैं फिर इनमें आत्मीय बुद्धि करनेसे क्या लाभ?

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति।
त्र्यंगुलं पातयन्न् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते ॥ १० ॥

अर्थ—स्वयं विराधना करनेवाला प्राणी (वर्तमानमें) अपनेको मारनेवालेके प्रति क्यों कुपित होता है? अरे! जो

त्रांगुरा (कूड़ा कचरा आदिके समेटनेके काममें आने वाले यंत्र) को पैरोंसे गिराता है वह स्वयं दंडेके द्वारा गिरा दिया जाता है। अर्थात् अपकारका फल अपकार ही है फिर अपकारकपर कुपित होनेसे क्या लाभ ?

रागद्वेष करनेसे क्या हानि होती है ? उत्तर।

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

अर्थ—अज्ञानवश यह संसारी जीव रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियोंकी खींचातानीसे संसाररूपी समुद्रमें चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है। अर्थात् रागद्वेषको छोड़े विना संसारसे छुटकारा नहीं मिल सकता।

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुराः विपदः पुरः ॥ १२ ॥

अर्थ—संसाररूपी पैरसे चलाये जानेवाले दुःखरूपी घटीयंत्रमें जबतक लकड़ी सरीखी एक विपत्ति भुगतकर तय की जाती है तबतक उसी समय दूसरी २ बहुतसी विपत्तियाँ सामने आ उपस्थित हो जाती हैं अर्थात् संसार दुःखोंका समुद्र है।

दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना ।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

अर्थ—जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घीको खाकर या उसकी मालिशसे अपनेको स्वस्थ मानने लग जाय ठीक उसी प्रकार कोई कोई धन आदिक, जिनका कि उपार्जन करना कठिन, रक्षण करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जाने वाले हैं—ऐसी इष्ट वस्तुओंमें अपने आपको सुखी मानने लग जाते हैं। ऐसा मानना वस्तुतः भूल है।

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमानमृगाकीर्णवनांतरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

अर्थ—दावानलकी ज्वालाओंसे जलते हुए हिरणसमूहसे व्याप्त जंगलके मध्यमें वृक्षपर बैठे हुए मूढ़ मनुष्यके समान यह संसारी मूढ़ प्राणी दूसरोंकी तरह अपने ऊपर आनेवाली विपत्तियोंको नहीं देखता है।

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम् ।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥ १५ ॥

अर्थ—कालका वीतना आयुके क्षयका कारण है और कालांतरके (माफिक व्याजके) बढ़नेका कारण है। ऐसे

कालके बीतनेको चाहने वाले धनियोंको अपने जीवन से धन अधिक प्यारा है।

विशेष—धनी चाहता है कि जितना काल बीत जायेगा उतनी ही व्याजकी आमदनी बढ़ जायगी। परंतु साथ ही यह विचार नहीं करता कि जितना काल बीत जायगा उतनी ही मेरी आयु घट जायगी। धनवृद्धिकी यह गृद्धता उसे जीवनके विनाशकी ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं होने देती। फलतः धनियोंको प्राणोंकी अपेक्षा धन अधिक प्यारा है।

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति ॥ १६ ॥

अर्थ—जो निर्धन पुण्यप्राप्तिके लिये दान करनेके निमित्त से धन कमाता या जोड़ता है वह "स्नान कर लूंगा" ऐसे विचारसे अपने शरीरको कीचड़से लिप्त करता है।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अंते सुदुस्त्यजान्‌ कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

अर्थ—आरंभमें संतापके कारण और प्राप्त होनेपर अतृप्तिके करनेवाले तथा अंतमें बड़ी कठिनाइयों व प्रयत्नों

से भी नहीं छोड़े जा सकनेवाले भोगोपभोगोंको कौन विद्वान् (ज्ञानी) आसक्तिके साथ सेवन करेगा ?

विशेष—"भोग और उपभोगके लिये धन साधन है" ऐसा जो विचार करते हैं उन्हें सावधान करनेके हेतु ऊपर भोगोपभोगोंका यथार्थ स्वरूप दर्शाया है ।

शरीरकी सेवामें रत रहनेवालोंको शरीरका यथार्थ स्वरूप दर्शाते हैं:—

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि ।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस शरीरके संबंधको प्राप्त होकर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं एवं वही शरीर हमेशा अपायों (उपद्रवों तथा विनाशों) करके सहित है अतः उसके लिये भोग और उपभोगोंका चाहना वृथा है ।

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो (साधन) जीव (आत्मा) का उपकार करनेवाले हैं वे (उन्हीं साधनों-द्वारा) शरीरका अपकार (बुरा) करनेवाले होते हैं । जो वस्तुएँ शरीरका उपकार

करनेवाली हैं वही वस्तुएँ आत्माका अहित करनेवाली होती हैं। विशेष—धनादिकके द्वारा आत्माका लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता, उसका उपकारक तो मात्र धर्मानुष्ठान ही है।

इतश्चिंतामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकम्।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियंतां विवेकिनः॥ २०॥

अर्थ—ध्यानद्वारा दिव्य चिन्तामणि भी मिल सकती है और खलीके टुकड़े भी मिल सकते हैं। जब कि ध्यानद्वारा दोनों ही मिल सकते हैं तब विवेकी (ज्ञानी) लोग किस ओर आदरबुद्धि करेंगे? अर्थात् इसलोक संबंधी सुखाभिलाषा छोड़कर आत्मस्वरूप-प्राप्तिके लिये ही आत्माका ध्यान करना चाहिये।

आत्माका स्वरूपः—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥ २१॥

अर्थ—आत्मा लोकालोकको देखने जाननेवाला, अनंतसुख स्वभाववाला, शरीरप्रमाण, नित्य एवं स्वसंवेदन द्वारा तथा योगिजनोंद्वारा अच्छी तरह अनुभवमें आया हुआ है।

आत्मध्यान करनेका उपायः—

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः ।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं ॥२२॥

अर्थ—इंद्रियसमूहको संयमद्वारा वशमें करके तथा मनकी एकाग्रताद्वारा आत्मार्थी पुरुष आत्मामें ही स्थित आत्माको आत्माके द्वारा (स्वसंवेदन—ज्ञानद्वारा) ध्यावे ।

आत्माकी उपासनासे लाभः—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानरहित शरीरादिककी सेवा तथा मिथ्याज्ञानी कुगुरु आदिक की सेवा अज्ञानको देती है और ज्ञानस्वभाव आत्मा सेवा तथा आत्मज्ञानसंपन्न सुगुरुओंकी सेवा ज्ञान (आत्मबोधरूप) को देती है । "जिसके पास जो कुछ होता है वह वही उसीको देता है" यह बात लोकमें सुप्रसिद्ध है ।

स्वात्मध्यानका फलः—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

अर्थ—आत्मामें आत्मध्यानद्वारा लीन हो जानेके कारण भूखपिपासादिरूप परीषहादिकोंकी बाधाका तनिक भी भान न होनेसे कर्मोंके आगमनरूप आस्रवको रोक देने-वाली झटिति कर्मनिर्जरा होती है।

कटस्य कर्त्ताहमिति संबंधः स्याद्द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबंधः कीदृशस्तदा ॥ २५ ॥

अर्थ—"मैं चटाईका बनानेवाला हूँ" इस प्रकार का संबंध पृथक् पृथक् दो पदार्थोंमें हुआ करता है। जहाँ ध्यान, ध्येय और ध्याता आत्मा ही है वहाँ संबंध कैसा?

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ २६ ॥

अर्थ—मोही जीव बंधता है और निर्मोही जीव मुक्त होता है। अतः हरएक प्रयत्नसे निर्ममताका ही विशेषरूपसे चिंतवन करे।

निर्मोही होनेका उपाय :—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजाः भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥

अर्थ—मैं एक, मोहरहित, शुद्ध, ज्ञानी तथा योगीन्द्रोंके द्वारा जानने योग्य हूँ। संयोगजन्य सभी भाव मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

निर्मोहीकी भावनाः-

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनां ।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २८ ॥

अर्थ—इस संसारमें देहादिकके संबंधसे देहधारियोंको दुःखसमूह भोगना पड़ता है अतः मन, वचन, कायद्वारा इस समस्त संबंधको छोड़ता हूँ।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥ २९ ॥

अर्थ—मेरी मृत्यु नहीं होती तब मुझे भय किसका? मुझे व्याधि नहीं होती तब पीड़ा कैसे? न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ और न जवान हूँ; ये सब दशाएँ पुद्गलमें ही पाई जाती हैं।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ ३० ॥

अर्थ—मोहद्वारा मैंने समस्त ही पुद्गलोंको बारबार भोगकर छोड़ दिया। जूंठनके समान अब उन पदार्थोंमें मुझ ज्ञानीकी क्या चाहना हो सकती है? अर्थात् उनमें मेरी चाहना नहीं हो सकती।

कर्म कर्महितावन्धि जीवो जीवहितस्पृहः ।

स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥ ३१ ॥

अर्थ—कर्म, कर्मका हित चाहते हैं और जीव, जीवका हित चाहता है। सो ठीक ही है अपने २ प्रभावके बढ़नेपर कौन अपने स्वार्थको नहीं चाहता ?

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।

उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ ३२ ॥

अर्थ—पर (देहादिक) का उपकार करना छोड़कर अपना (आत्माका) उपकार करनेमें तत्पर हो जाओ। बाह्य इंद्रियोंके द्वारा दिखाई देते हुए देहादिकोंका उपकार करते हुए तुम अज्ञ हो रहे हो। जिसप्रकार संसारी लोग अपना उपकार करनेमें लगे रहते हैं उसी प्रकार तुम भी अपना उपकार (स्वाधीन शुद्ध बनानेरूप आत्मोपकार) करनेमें तत्पर हो जाओ।

भेदविज्ञानका लाभः—

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं ।

जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरम् ॥३३॥

अर्थ—जो गुरुके उपदेशसे और उस उपदेशके अभ्यासरूप ज्ञानके द्वारा अपने और परके अंतरको (स्वात्माको पर-

देहादिकसे भिन्न) जानता देखता है वह सदैव मोक्षसुखको अनुभवन करता रहता है।

स्वस्मिन् सद (दा) भिलापित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हित (तं) प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥३४॥

अर्थ—स्वयं आत्मकल्याणका अभिलाषी होनेसे, चाहे हुए हितके उपायोंको जतलाने वाला होनेसे और आत्महितमें प्रवृत्ति करानेवाला होनेसे यह आत्मा स्वयं ही आत्माका गुरु है।

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिस जीव के अन्दर तत्वज्ञान प्राप्त करनेकी निजी योग्यता नहीं है ऐसा जीव (अयोग्य अभव्य आदिक जीव) तत्त्वज्ञानको (धर्माचार्यादिकोंके सहस्रों उपदेशोंके मिलनेसे भी) नहीं प्राप्त कर सकता है, इसी तरह तत्त्वज्ञानी जीव अज्ञत्वको प्राप्त नहीं कर सकता। अन्य (साधन सामग्री) सभी केवल निमित्तमात्र है। जैसे गतिरूप कार्योंमें धर्मास्तिकाय मात्र उदासीन कारण है। अर्थात् कार्यके उत्पादनादिमें द्रव्यकी निजी योग्यता ही साक्षात साधक होती है, अवशिष्ट सभी सामग्री मात्र निमित्त होती है।

नाशाक्षित्तविक्षेपः स्थित्वा तत्त्वसंस्थितः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥ ३६ ॥

अर्थ—नहीं उत्पन्न हो रहे हैं रागादि विक्षेप-विकल्प-जिसके जिनके तथा (हेय-उपादेय) तत्त्वोंमें (गुरुके उपदेशसे) जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है अर्थात् जो आत्मस्वरूपमें स्थित है ऐसा योगी सावधानी पूर्वक एकान्त स्थानमें अपने आत्मस्वरूपका अभ्यास करे।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ॥ ३७ ॥

अर्थ— ज्यों ज्यों (योगीको) स्वानुभवरूप संवेदनमें उत्तम तत्त्वरूप विशुद्ध आत्माका अनुभवन होता जाता है त्यों त्यों उस योगी को सुलभतासे प्राप्त होनेवाले भी (रमणीक इन्द्रिय) विषय रुचिकर नहीं लगते।

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—ज्यों ज्यों आसानीसे प्राप्त होनेवाले भी (रमणीक इन्द्रिय) विषय भोगोंके प्रति अरुचि होती जाती है त्यों त्यों निजात्मानुभवनरूप संवेदनमें उत्तम तत्त्वरूप विशुद्ध आत्मा का अनुभव वृद्धिको प्राप्त होता रहता है।

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—(निजात्मानुभवनरूप संवेदनमें आनंद लेनेवाला योगी) समस्त संसारको इन्द्रजालके समान देखता है, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा करता है और अपनी आत्माको छोड़कर किसी अन्य विषयमें चित्तपरिणतिके प्राप्त हो जानेपर (हा ! यह मैंने कितना आत्मा का अहित कर डाला, इत्यादिरूप) पश्चात्ताप करता है ।

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः ।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥ ४० ॥

अर्थ—निर्जनताको चाहनेवाला योगी एकान्तवासको चाहता है और अपने कार्यके वशसे कुछ कहकर भी उसे उसी क्षण भूल जाता है ।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

अर्थ—अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर योगी बोलते (धर्मादिकका व्याख्यान करते) हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता है । अर्थात् आत्मस्वरूपमें स्थित योगीकी आत्मस्वरूपको छोड़

कर और सभी क्रियाएँ [illegible] निरर्थक हैं अतः नहीं होने के समान हैं।

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥

अर्थ—आत्मस्वरूपमें एकरसीभावको प्राप्त हुआ योगी यह क्या है? कैसा है? किसका है? क्यों है? कहाँ है? इत्यादिक विकल्पोंको न करता हुआ अपने शरीर तकको भी नहीं जानता है।

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो जहाँ निवास करने लग जाता है वह वहाँ रमने लग जाता है और जो जहाँ रमने लग जाता है वह वहाँसे दूसरी जगह नहीं जाता है।

विशेष—ऊपर सामान्य नीति बतलाई है जो सभी पर समानरूपसे लागू होती है। इसलिये समझो कि निजात्मरत योगीको आत्मामें लौ लग जानेसे जब अननुभूत और अपूर्व आनन्दका अनुभव प्राप्त होने लगता है तब वह उस अपूर्व आनन्दका रसास्वादन छोड़ अन्यत्र नहीं जाता है।

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते ।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्ध्यते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ—स्वात्मतत्त्वमें स्थिर हुआ योगी स्वात्मासे भिन्न शरीरादिककी सुन्दरता-असुन्दरता आदि विशेषोंसे अनभिज्ञ हो जाता है और जब उनके विशेषोंको नहीं जानता तब उनमें रागद्वेष पैदा न होनेके कारण वह बंधको प्राप्त नहीं होता वरन् कर्मोंसे छूटता है।

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं ।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥ ४५ ॥

अर्थ—पर पर ही है अतः (उसे आत्मा या आत्माके मान लेनेसे) उससे दुःख होता है और आत्मा आत्मा ही है अतः उससे सुख होता है। इसीलिये महात्माओंने आत्माके स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये ही अप्रमत्त हो उद्यम किया है।

परद्रव्योंमें अनुराग करनेका फलः—

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनंदति तस्य तत् ।
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुंचति ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्यका स्वागत करता है अर्थात् उसमें अपनत्व लाता है तब वह पुद्गलद्रव्य उस

परमानन्द स्तोत्र

भाषानुवाद सहित ।

परमानंदसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयम् ।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम् ॥१॥

अर्थ—परमानन्द युक्त, विकाररहित, रोगोंसे मुक्त और (निश्चयनयसे) अपने शरीर में ही विराजमान परमात्माको ध्यानहीन पुरुष नहीं देखते हैं ।

अनंतसुखसंपन्नं, ज्ञानामृतपयोधरम् ।
अनंतवीर्यसंपन्नं, दर्शनं परमात्मनः ॥ २ ॥

अर्थ—अनंतसुखसे परिपूर्ण, ज्ञानरूपी अमृतसे भरे हुए समुद्रके समान और अनन्तबल युक्त परमात्माके स्वरूपका ही अवलोकन करना चाहिये ।

निर्विकारं निराबाधं सर्वसंगविवर्जितम् ।
परमानन्दसम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥ ३ ॥

अर्थ—विकारोंसे रहित, बाधाओंसे मुक्त, सम्पूर्ण परिग्रहोंसे शून्य और परमानन्द विशिष्ट शुद्ध (केवलज्ञानरूप) चैतन्य ही (परमात्माका) लक्षण जानना चाहिये ।

उत्तमा स्वात्मचिंता स्यान्मोहचिंता च मध्यमा ।
अधमा कामचिंता स्यात्, परचिंताऽधमाधमा ॥४॥

अर्थ-अपनी आत्माके (उद्धारकी) चिंता करना उत्तम चिंता है, शुभरागवश (दूसरे जीवोंके भले करनेकी) चिंता करना मध्यम चिंता है, काम भोगकी चिंता करना अधम चिंता है और दूसरोंके (अहित करनेका) विचार करना अधमसे भी अधम चिंता है।

निर्विकल्पसमुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम् ।
विवेकमंजुलिं कृत्वा, तत्पिबंति तपस्विनः ॥ ५ ॥

अर्थ—संकल्पविकल्पोंको नाश करनेसे समुत्पन्न जो ज्ञानरूपी सुधारस उसको तपस्वी महात्मा ज्ञानरूपी अंजुलेसे पीते हैं।

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति, स पण्डितः ।
स सेवते निजात्मानं, परमानन्दकारणम् ॥ ६ ॥

अर्थ-जो पुरुष सदा ही परमानन्दविशिष्ट आत्माको जानता है वही (वास्तवमें) पंडित है और वही पुरुष परमानन्दकी कारणभूत अपनी आत्माकी सेवा करता है।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा ।
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः ॥ ७ ॥

अर्थ—जैसे कमलपत्रके ऊपर पानीकी बूंद कमलसे सदा ही भिन्न रहती है, उसी प्रकार यह निर्मल आत्मा

शरीरके भीतर रहकर भी स्वभावकी अपेक्षा शरीरसे सदा भिन्न ही रहता है। अथवा कार्माण शरीरके भीतर रहकर भी शरीरजन्य रागादि मलोंसे सदा अलिप्त रहता है।

द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं भावकर्मविवर्जितम्।
नोकर्मरहितं विद्धि; निश्चयेन चिदात्मनः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस चैतन्य आत्माका स्वरूप निश्चयकरके ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मोंसे रहित, रागद्वेषादि भावकर्मोंसे शून्य और औदारिकादि शरीररूप नोकर्मोंसे पृथक् जानो।

आनन्दं ब्रह्मणोरूपं, निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम् ॥९॥

अर्थ—जैसे जन्मांध पुरुष सूर्यको नहीं जानता है वैसे ही शरीरके भीतर स्थित परमात्माके आनन्दमय स्वरूपको ध्यानहीन पुरुष नहीं जान पाते हैं।

तद्ध्यानं क्रियते भव्यैर्मनो येन विलीयते।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं चिच्चमत्कारलक्षणम् ॥१०॥

अर्थ—जिस ध्यानके द्वारा यह चंचल मन स्थिर होकर परमानन्द स्वरूपमें विलीन (मग्न) हो जाता है वही ध्यान (मोक्षके इच्छुक) भव्य जीव करते हैं तथा उसी समय चैतन्यचमत्कारमात्र शुद्ध परमात्माका साक्षात् दर्शन होता है।

ये ध्यानशीला मुनयः प्रधाना-,स्ते दुखहीना नियमाद्भवन्ति।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्वम्, व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव ॥११

अर्थ—उत्तम ध्यान करने वाले जो मुनि हैं वे नियमसे सभी दुःखोंसे छूट जाते हैं तथा शीघ्र ही परमात्मपदको प्राप्त करके (और बादमें अयोगकेवली होकर) क्षणमात्रमें ही मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ११ ॥

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं, समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तं ।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं, जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ—निज स्वभावमें लीन हुए मुनि ही परमात्माके समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित परमानंदमय स्वरूपमें निरंतर तन्मय रहते हैं। और इस प्रकारके योगी महात्मा ही परमात्म-स्वरूपको स्वयं जानते हैं ॥ १२ ॥

परमात्माका स्वरूप।

चिदानन्दमयं शुद्धं निराकारं निरामयं।
अनन्तसुखसम्पन्नं सर्वसंगविवर्जितम् ॥ १३ ॥

लोकमात्रप्रमाणोऽयं निश्चये न हि संशयः।
व्यवहारे तनूमात्रः कथितः परमेश्वरैः ॥ १४ ॥

अर्थ—श्री सर्वज्ञदेवने परमात्माका स्वरूप चिदानन्दमय,

शुद्ध, रूपरसादि आकारसे रहित, अनेक प्रकारके रोगोंसे सर्वथा शून्य, अनंतसुख विशिष्ट व सर्व परिग्रह रहित बताया है। निश्चयनयसे आत्माका आकार लोकाकाशके समान असंख्यातप्रदेशी तथा व्यवहारनयसे प्राप्त छोटे व बड़े शरीरके समान बताया है ॥ १३ । १४ ॥

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं तत्क्षणं गतविभ्रमः ।
स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्पसमाधिना ॥ १५ ॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर कहे हुए परमात्माके शुद्ध स्वरूपको योगीपुरुष जिस समय निर्विकल्पसमाधिके द्वारा जान लेता है, उसी समय उस योगीका चित्त आकुलतारहित स्थिर होता है और अज्ञानका नाश हो जाता है ॥१५॥

स एव परमं ब्रह्म, स एव जिनपुङ्गवः ।
स एव परमं तत्त्वं, स एव परमो गुरुः ॥ १६ ॥
स एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः ।
स एवं परमं ध्यानं, स एव परमात्मनः ॥ १७ ॥
स एव सर्वकल्याणं, स एव सुखभाजनं ।
स एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमः शिवः ॥ १८ ॥
स एव परमानन्दः, स एव सुखदायकः ।
स एव परचैतन्यं, स एव गुणसागरः ॥ १९ ॥

अर्थ—वह परमध्यानी योगी मुनि ही परमब्रह्म, कर्मोंको जीतनेसे जिन, शुद्धरूप हो जानेसे परम आत्मतत्त्व, जगतमात्रके हितका उपदेशक हो जानेसे परमगुरु, समस्त पदार्थोंके प्रकाश करनेवाले ज्ञानसे युक्त हो जानेसे परम-ज्योति, ध्यान ध्याताके अभेदरूप हो जानेसे शुक्लध्यानरूप परमध्यान, व परम तपरूप परमात्माके यथार्थ स्वरूपमय हो जाता है। वही परमध्यानी मुनिही सर्व प्रकारके कल्याणोंसे युक्त, परमसुखका पात्र, शुद्ध चिद्रूप, परम शिव कहलाता है और वही परमानंदमय, सर्व सुखदायक, परम चैतन्य आदि अनन्त गुणोंका समुद्र हो जाता है ॥ १६। १७। १८। १९॥

परमाल्हादसम्पन्नं, रागद्वेषविवर्जितम्।
अर्हन्तं देहमध्ये तु, यो जानाति स पण्डितः ॥२०॥

अर्थ—परम आह्लादयुक्त, रागद्वेषरहित अरहन्तदेवको जो ज्ञानी पुरुष अपने देहरूपी मन्दिरमें विराजमान देखता व जानता है, वस्तुतः वही पुरुष पंडित है ॥ २० ॥

आकाररहितं शुद्धं, स्वस्वरूपव्यवस्थितम्।
सिद्धमष्टगुणोपेतं, निर्विकारं निरंजनम् ॥ २१ ॥

अर्थ—आकाररहित, शुद्ध, निज स्वरूपमें विराजमान, विकाररहित, कर्ममलसे शून्य और क्षायिक सम्यग्दर्शनादि

अष्ट गुणोंसे सहित सिद्धपरमेष्ठियोंके स्वरूपका चिन्तवन करे ॥ २१ ॥

तत्सदृशं निजात्मानं, प्रकाशाय महीयसे ।
सहजानंदचैतन्यं, यो जानाति स पण्डितः ॥२२॥

अर्थ—सिद्धपरमेष्ठीके समान परमज्योतिस्वरूप केवलज्ञानादि गुणोंकी प्राप्तिके लिये जो पुरुष अपनी आत्माको परमानंदमय, चैतन्य चमत्कारयुक्त जानता है, वही वास्तवमें पंडित है ॥ २२ ॥

पाषाणेषु यथाहेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः ॥ २३ ॥
काष्टमध्ये यथा वह्निः, शक्तिरूपेण तिष्ठति ।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डितः ॥२४॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाणमें सोना, दूधमें घी और तिलोंमें तेल रहता है उसी प्रकार शरीरमें शिवरूप आत्मा विराजमान है। जैसे काष्ठके भीतर आग शक्तिरूप से रहती है उसी प्रकार शरीरके भीतर यह शुद्ध आत्मा विराजमान है। इस प्रकार जो समझता है वही वास्तवमें पण्डित है ॥ २३ ॥ २४ ॥

❀ इति ❀

❀ पंडितप्रवर टोडरमलजीकी रहस्यपूर्ण चिट्ठी ❀

॥ श्री ॥

सिद्ध श्री मुलतान नग्र महाशुभस्थान विखैं साधर्मी भाई अनेक उपमा योग्य अध्यातमरस रोचक भाई श्री खानचन्दजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथदासजी अन्य सर्व साधर्मी योग्य लिखतं टोडरमल्लके श्री प्रमुख विनयशब्द अवधारना। यहाँ जिथा सम्भव आनन्द है, तुम्हारे चिदानंद घनके अनुभवसे सहजानन्दकी वृद्धि चाहिए।

अपरञ्च पत्र १ तुम्हारो भाईजी श्रीरामसिंहजी भुवानीदासजीको आया था तिसके समाचार जहानाबादतैं और साधर्म्मियोंने लिखा था। सो भाईजी ऐसे प्रश्न तुम सारिषै ही लिखें। अवार वर्तमान कालमें अध्यात्मके रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जे स्वात्मानुभवकी वार्ता भी करै हैं, सो ही कहा है:—

श्लोक—वनिताप्रीतचित्तेन, तस्य वार्तापि हि श्रुता।
स निश्चे तं द्रव्यो, भावनिर्वानभाजनं ॥

अर्थ—जिहि जीव चित्तकर तत्त्वकी वात भी सुनी, सो जीव विशेषकर भव्य है। अलपकालविषैं मोक्षका पात्र है। सो भाईजी तुम प्रश्न लिखे तिसकर मेरी बुद्धि अनुसार

कछु लिखिए हैं सो जानना। और अध्यातम आगमकी चर्चागर्भित पत्र तो शीघ्र २ दयौ करौ। मिलाप कभी होगा तब होगा। अर निरन्तर स्वरूपानुभवमें रहना। श्रीरस्तु।

अथ स्वानुभवदशाविषै प्रत्यक्षपरोक्षादिक प्रश्ननिके उत्तर बुद्धिअनुसार लिखिये हैं।

तहाँ प्रथम ही स्वानुभवका स्वरूप जानने निमित्त लिखै हैं।

जीवपदार्थ अनादितैं मिथ्यादृष्टी है सो आपापरके यथार्थरूप विपरीत श्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है। बहुरि जिस काल किसी जीवके दर्शन मोहके उपशम, छयोपशमतैं आपापरका यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थ श्रद्धान होय, तब जीव सम्यक्ती होय है। यातैं आपापरका श्रद्धानविषैं शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त गर्भित है। बहुरि जो आपापरका श्रद्धान नहीं है अर जिनमतविषैं कहे जे देव, गुरु, धर्म तिनही कूं माने है, अन्यमतविषैं कहे देवादिक, वा तत्त्वादि तिनको नहीं माने हैं, तो ऐसे केवल व्यवहार-सम्यक्तकरि सम्यक्ती नाम पावै नहीं। तातैं स्वपर भेदविज्ञानको लिए जो तत्त्वार्थश्रद्धान होय सो सम्यक्त जानना।

बहुरि ऐसे सम्यक्ती होते संते जो ज्ञान पंचेन्द्री, छटा मनके द्वार, क्षयोपशमरूप मिथ्यात्वदशामें कुमति, कुश्रुति-

रूप होय रहा था सोई ज्ञान अब मति श्रुतिरूप सम्यग्ज्ञान भया। सम्यक्ती जेता कछु जाने सो जानना सर्व सम्यग्ज्ञानरूप है।

जो कदाचित् घटपटादिक पदार्थनकूं अयथार्थ भी जानें तो वह आवरणजनित उदयकौ अज्ञानभाव है सो क्षयोपशमरूप प्रकट ज्ञान है सो तौ सर्व सम्यग्ज्ञान ही है। जातै जानने विषैं विपरीतरूप पदार्थनकौ न साधै है। सो यह सम्यग्ज्ञान केवलज्ञानका अंश है। जैसे थोड़ासा मेघपटल विलय भये कछु प्रकाश प्रकटै है सो सर्व प्रकाशका अंश है।

जो ज्ञान मतिश्रुतिरूप प्रवर्तै है सो ही ज्ञान बधिता बधिता केवलज्ञानरूप होय सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षा जाति एक है। बहुरि इस सम्यक्तीके परिणामविषैं सविकल्प निर्विकल्परूप होय दो प्रकार प्रवर्तैं तहाँ जो विषय कषायादिरूप वा पूजा, दान शास्त्राभ्यासादिकरूप प्रवर्तैं है सो सविकल्परूप जानना।

यहाँ प्रश्न—

जो शुभाशुभरूप सम्यक्त्वका अस्तित्व कैसे पाइए?

ताका समाधान—जैसे कोई गुमास्ता साहूके कार्यविषै प्रवर्तैं है, उस कार्यको अपना भी कहे हैं हर्षविषादको भी पावै है, तिस कार्यविषै प्रवर्तैं है, तहाँ अपनी और

साहूकी जुदाईकौं नाहीं विचारे है परंतु अंतरंग श्रद्धान ऐसा है कि यह मेरा कारज नाहीं। ऐसा कार्यकर्ता गुमास्ता साहूकार है।

सो साहूके धनकूं चुराय अपना मानै तो गुमास्ता चौर ही कहिए। तैसे कर्मजनित शुभाशुभरूप कार्यकौ कर्त्ता तद्रूप परणमै है। तथापि अंतरंग ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नाहीं। जो शरीराश्रित वृत संयमकौ भी अपना मानै तो मिथ्यादृष्टि होय सो ऐसे सविकल्प परिणाम होंय।

अब सविकल्पहीके द्वारकर निर्विकल्प परिणाम होनेका विधान कहिए है:—

सो सम्यक्ती कदाचित् स्वरूप ध्यान करनेको उद्यमी होय है तहाँ प्रथम भेदविज्ञान स्वपरस्वरूपका करै, नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म रहित चैतन्यचित्तचमत्कारमात्र अपना स्वरूप जानै, पीछें परका भी विचार छूट जाय, केवल स्वात्मविचार ही रहै है। तहां अनेकप्रकार निजस्वरूपविषै अहंबुद्धि धरै है। चिदानन्द हौं, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ, इत्यादिक विचार होते संते सहज ही आनन्दतरंग उठै है, रोमांच होय है, ता पीछे ऐसा विचार तो छूट जाय, केवल चिन्मात्र स्वरूप भासने लागे। तहां सर्व परिणाम उस रूपविषै एकाग्र

होय प्रवर्त्तै। दर्शन ज्ञानादिकका वा नय प्रमाणादिकका भी विचार विलय जाय।

चैतन्य स्वरूप जो सविकल्प ताकरि निश्चय किया था तिसही विषै व्याप्यव्यापकरूप होय ऐसे प्रवर्त्तै। जहाँ ध्याता ध्यायपनो दूर भयो सो ऐसी दशाका नाम निर्विकल्प अनुभव है। सो बड़े नयचक्रविषै ऐसे ही कहा है:—

गाथा।

तच्चाणि सण काले समयं बुझेदि जुत्तमो गणणो।
आराहसमिरा पच्चक्खो अणहवो जम्हा ॥ १ ॥

अर्थ—तत्त्वका अवलोकनका जो काल ता विषै समय जो है शुद्धात्मा ताको जुक्ता जो नय प्रमाण ताकरि पहिलै जानै। पीछैं आराधनसमय जो अनुभवकाल, तिहिविषै नय प्रमाण नाही है। जातैं प्रत्यक्ष अनुभव है। जैसे रत्नकी खरीदविषैं अनेकविकल्प करै हैं, प्रत्यक्ष वाको पहरिये तब विकल्प नाहीं, पहिरनेका सुख ही है। ऐसे सविकल्पके द्वार निर्विकल्प अनुभव होय है।

बहुरि निर्विकल्प अनुभवविषैं जो ज्ञान पंचेन्द्री, छट्ठा मनके द्वार प्रवर्त्तै था सो ज्ञान सब तरफसों सिमटकर केवल स्वरूप सन्मुख भया। जातैं वह ज्ञान क्षयोपशमरूप है सो एक कालविषैं एक ज्ञेयहीकौ जानै, सो ज्ञान स्वरूप

जाननेकों प्रवर्त्या, तब अन्यका जानना सहज ही रह गया। तहां ऐसी दशा भई जो बाह्य विकार होंय तौ भी स्वरूप ध्यानीकों कछु खबर नाहीं, ऐसे मतिज्ञान भी स्वरूप सन्मुख भया। बहुरि नयादिकके विचार मिटतें श्रुतज्ञान भी स्वरूप सन्मुख भया। ऐसा वर्णन समयसारकी टीका आत्मख्याति विषै किया है तथा आत्मा अवलोकनादिक विषै है, इस ही वास्ते निर्विकल्प अनुभवकों अतीन्द्रिय कहिए है, जातैं इन्द्रीनको धर्म तौ यह है जो फरस, रस, गन्ध वर्णकों जानै सो यहां नाहीं। अर मनका धर्म यह है जो अनेक विकल्प करे सो भी नाहीं, तातैं जब जो ज्ञान इन्द्री मनके द्वारैं प्रवर्त्तै था सो ही ज्ञान अनुभवविषै प्रवर्त्तै है तथापि ज्ञानको अतीन्द्रिय कहिये। बहुरि इस स्वानुभवकों मन द्वार भया भी कहिये जातैं इस अनुभवविषै मतिज्ञान श्रुतिज्ञान ही है, और कोई ज्ञान नहीं।

मतिश्रुत इन्द्री मनके अवलम्ब विना होय नाहीं सो इन्द्री मनका तो अभाव ही है जातैं इन्द्रियका विषय मूर्तीक पदार्थ ही है। बहुरि यहां मतिज्ञान है जातैं मनका विषय मूर्तीक अमूर्तीक पदार्थ है, सो यहां मन सम्बन्धी परिणाम स्वरूपविषैं एकाग्र होय अन्य चिन्ताका निरोध करै है तातैं याकों मन द्वार कहिए।

"एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्" ऐसा ध्यानका भी लक्षण है, ऐसा अनुभवदशाविषै संभवै है। तथा नाटकके कवित्तविषै कहा है:–

दोहा।

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रसस्वादित सुख ऊपजै, अनुभव याकौ नाम॥

ऐसे मन विना जुदा परिणाम स्वरूपविषै प्रवर्त्ता नाहीं तातैं स्वानुभवकौं मनजनित भी कहिए। सो अतेन्द्री कहनेमें अरु मनजनित कहनेमें कछु विरोध नहीं, विवक्षा भेद है।

बहुरि तुम लिख्या "जो आतमा अतेन्द्रिय है" सो अतेन्द्रि ही कर ग्रहा जाय सो मन अमूर्तिकका भी ग्रहण करै हैं, जातै मतिश्रुत ज्ञानका विषय सर्व द्रव्य कहे हैं। उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे—

"मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।"

बहुरि तुमने "प्रत्यक्ष परोक्षका प्रश्न लिख्या" सो भाईजी, प्रत्यक्ष परोक्षके तौ भेद हैं नाहीं। चौथे गुणस्थान सिद्धसमान क्षायक सम्यक्त हो जाय है, तातैं सम्यक्त तौ केवल यथार्थ श्रद्धानरूप ही है, सो शुभाशुभ कार्यकर्त्ता भी रहैं हैं तातैं तुमने जो लिख्या था कि "सम्यक्त प्रत्यक्ष है व्यवहार सम्यक्त परोक्ष है" सो ऐसा नाहीं है, सम्यक्तके

तौ तीन भेद हैं—तहाँ उपशम सम्यक्त अरु क्षायक सम्यक्त तो निर्मल है, जातैं मिथ्यात्वके उदयकरि रहित हैं, अर क्षयोपशम सम्यक्त समल है। बहुरि इस सम्यक्तविषैं प्रत्यक्ष परोक्ष भेद तो नाहीं है।

क्षायकसम्यक्तकै शुभाशुभरूप प्रवर्तता वा स्वानुभवरूप प्रवर्तता सम्यक्तगुण तौ सामान्यही है तातैं सम्यक्तके तो प्रत्यक्ष परोक्ष भेद न मानना। बहुरि प्रमाणके प्रत्यक्ष परोक्ष भेद हैं सो प्रमाण सम्यग्ज्ञान है तातैं मतिज्ञान श्रुतज्ञान तौ परोक्ष प्रमाण हैं। अवधि मनःपर्यय केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। "आद्ये परोक्षं प्रत्यक्षमन्यत्" ऐसा सूत्र कहा है तथा तर्कशास्त्रविषै ऐसा लक्षण प्रत्यक्ष परोक्षका कहा है:—

"स्पष्टप्रतिभासात्मकं प्रत्यक्षमस्पष्टं परोक्षं।"

जो ज्ञान अपने विषयकौं निर्मलतारूप नीकै जानै सो प्रत्यक्ष अर स्पष्ट नीकै न जानै सो परोक्ष, सो मतिज्ञान श्रुतज्ञानका विषय तौ घना परंतु एक ही ज्ञेयकौं सम्पूर्ण न जान सकै तातैं परोक्ष है। और अवधि मनःपर्ययके विषय थोरे हैं, तथापि अपने विषयकौ स्पष्ट-नीकै जानैं तातैं एक देश प्रत्यक्ष है, अर केवल सर्व ज्ञेयकौं आप स्पष्ट जानै तातै सर्व प्रत्यक्ष है।

बहुरि प्रत्यक्षके दोय भेद हैं—एक परमार्थप्रत्यक्ष व्यव-हारप्रत्यक्ष है। सो अवधि मनःपर्यय केवल तौ स्पष्ट प्रति-भासरूप है ही तातैं पारमार्थिक है। बहुरि नेत्रादिकतैं वरणादिककौं जानिए है। तातैं इनकौं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहिए, परंतु जो एक वस्तुयें मिश्र अनेक वर्ण है ते नेत्रकर नीकै ग्रहे जाय हैं तातैं याकौं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहिए।

बहुरि परोक्षप्रमाणके पांच भेद हैं—१ स्मृति, २ प्रत्य-भिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान, ५ आगम।

तहां जो पूर्व वस्तु जानीकौं याद करि जानना सो स्मृति कहिये।

दृष्टान्तकरि वस्तु निश्चय कीजिये सो प्रत्यभिज्ञान कहिए।

हेतुके विचारतै लिया जो ज्ञान सो तर्क कहिए।

हेतुतैं साध्य वस्तुका जो ज्ञान सो अनुमान कहिए।

आगमतें जो ज्ञान होय सो आगम कहिए।

ऐसे प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणके भेद किये हैं सोई स्वानु-भव दशामें जो आत्माकौ जानिए सो श्रुतज्ञानकरि जानिए है। श्रुतज्ञान है सो मतिज्ञानपूर्वक ही है। सो मतिज्ञान श्रुतज्ञान परोक्ष कहे तातैं यहां आत्माका जानना प्रत्यक्ष नाहीं।

बहुरि अवधि मनःपर्ययका विषय रूपी पदार्थ ही है अर केवलज्ञान छद्मस्थके है नाहीं तातैं अनुभवविषैं अवधि मनःपर्यय केवलकरि आत्माका जानना नाहीं। बहुरि यहां आत्माकूं स्पष्ट नीके जाने हैं, तातैं पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तौ संभवै नाहीं, बहुरि जैसें नेत्रादिक जानिए है तातैं एक देश निर्मलता लिये भी आत्माके असंख्यात प्रदेशादिक न जानिए है तातैं सांव्यवहारिक प्रत्यक्षपणो भी सम्भवै नाहीं।

तौ आगम अनुमानादिक परोक्षज्ञानकरि आत्माका अनुभव होय है। जैनागमविषैं जैसा आत्माका स्वरूप कहा है ताकूं तैसा जान उस विषै परिणामोंकौं मग्न करै है तातैं आगम परोक्ष प्रमाण कहिए, अथवा मैं आत्मा ही हूँ तातैं मुझविषै ज्ञान है। जहां जहां ज्ञान तहां तहां आत्मा है जैसे सिद्धादिक हैं। बहुरि जहां आत्मा नाहीं तहां ज्ञान भी नाहीं, जैसे–मृतक कलेवरादिक हैं ऐसे अनुमानकरि वस्तुका निश्चयकर उस विषै परिणाम मग्न करै है, तातैं अनुमान परोक्षप्रमाण कहिए। अथवा आगम अनुमानादिककर जो वस्तु जाननेमें आया तिसहीकों याद रखकं उस विषै परिणाम मग्न करै है तातैं स्मृति कहिए, ऐसे इत्यादिक प्रकार स्वानुभवविषैं परोक्षप्रमाण कर ही आत्माका जानना होय है, पाछै जो स्वरूप जाना तिसही विषै परिणाम मग्न हो ताका कछू विशेष जानपना होना नाहीं। बहुरि यहां प्रश्न–

जो सविकल्प निर्विकल्पविषैं जाननेका विशेष नाहीं तो अधिक आनन्द कैसे होय है ?

ताका समाधान=सविकल्प दशाविषैं ज्ञान अनेक ज्ञेयकौं जाननेरूप प्रवर्तै था ते निर्विकल्प दशाविषैं केवल आत्मा ही का जानना है, एक तो यह विशेष है दूसरा यह विशेष जो परिणाम नाना विकल्पविषैं परिणमैं था सो केवल स्वरूप ही सौं तदात्मरूप होय प्रवर्त्या, दूसरा यह विशेष भया। ऐसे विशेष होते कोई वचनातीत ऐसा अपूर्व आनन्द होय है जो विषयसेवनविषैं उसके अंशकी भी जात नाहीं, तातैं उस आनन्दकौं अतेन्द्रिय कहिये। बहुरि यहां प्रश्नः—

जो अनुभवविषैं भी आत्मा परोक्ष ही है तौ ग्रन्थनविषै अनुभवकूं प्रत्यक्ष कैसे कहिए ?

ऊपरकी गाथाविषैं ही कहा है। "पच्चखो अणुहवो जम्हा" ताका समाधान–अनुभवविषै आत्मा तौ परोक्ष ही है, कछू आतमाके प्रदेश आकार तौ भासते नाहीं परन्तु जो स्वरूपविषैं परिणाम मग्न होते स्वानुभव भया, सो वह स्वानुभव प्रत्यक्ष है। स्वानुभवका स्वाद कछू आगम अनुमानादिक परोक्ष प्रमाणादिक कर न जानै हैं। आपही अनुभवके रस स्वादकौं वेदै है। जैसे कोई आंधा पुरुष मिश्रीकौं आस्वादै है, तहां मिश्रीके आकारादिक तो परोक्ष

हैं, जो जिह्वाकरि स्वाद लिया है सो वह - स्वाद प्रत्यक्ष है ऐसा जानना।

अथवा जो प्रत्यक्षकीसी नाईं होय तिसकौं भी प्रत्यक्ष कहिए। जैसे लोकर्मं पैं कहिये है हमने स्वप्नविषै वा ध्यान-विषैं फलाने पुरुषकौ प्रत्यक्ष देखा, सो प्रत्यक्ष देखा नाहीं, परंतु प्रत्यक्षकीसी नाईं प्रत्यक्षवत् यथार्थ देखौ तातैं प्रत्यक्ष कहिए। तैसे अनुभवविषै आत्मा प्रत्यक्षकी नाईं यथार्थ प्रतिभासै है तातैं इम न्यायकरि आत्मा का भी प्रत्यक्ष जानना होय है ऐसे कहिए है सो दोष नाहीं कथन अनेक प्रकार है सो सर्व आगम अध्यात्म शास्त्रनसौं विरोध न होय तैसे विवक्षा भेदकरि कथन जानना। यहां प्रश्नः—

जो ऐसे अनुभव कौन गुणस्थानमें कहें हैं ?

ताका समाधानः—चौथेहीसे होय है परंतु चौथै तो बहुत कालके अन्तरालमैं होय है और ऊपरके गुणठाने शीघ्र २ होय हैं। बहुरि प्रश्नः—

जो अनुभव तो निर्विकल्प है तहां ऊपरके और नीचेके गुणस्थाननिके भेद कहां ?

ताका उत्तर—परिणामनकी मग्नताविषै विशेष है जैसे दोय पुरुष नाव ले छै अर दोही का परिणाम नाव विषैं हैं तहां एककै तो मग्नता विशेष है अर एककैं स्तोक है तैसे जानना। बहुरि प्रश्नः—

जो निर्विकल्प अनुभवविषैं कोई विकल्प नाहीं तो शुक्लध्यानका प्रथम भेद पृथक्त्ववितर्क वीचार कहा तहां पृथक्त्ववितर्क वीचार नाना-प्रकार श्रुत अर वीचार, अर्थ, व्यञ्जन, योग, संक्रमन ऐसे क्यों कहा ?

तिसका उत्तरः—कथन दोय प्रकार है–एक स्थूलरूप है, एक सूक्ष्मरूप है। जैसे स्थूलताकरि तो छटे ही गुण-स्थानै सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत कहा, अर सूक्ष्मताकर नवमें ताईं मैथुन संज्ञा कही तैसे यहां अनुभवविषैं निर्विकल्पता स्थूलरूप कहिये है। बहुरि सूक्ष्मताकरि पृथक्त्ववितर्क वीचारादिक भेद वा दशमा ताईं कषायादि कहैं हैं। सो अब आपके जाननेमें वा अन्यके जाननेमें आवे ऐसा भाव-का कथन स्थूल जानना अर जो आपभी न जानै केवली भगवान ही जानै सो ऐसे भावका कथन सूक्ष्म जानना अर चरणानुयोगादिकविषैं स्थूल कथनकी मुख्यता है अर चरणानुयोगादिकविषैं सूक्ष्म कथनकी मुख्यता है ऐसा भेद और भी ठिकानै जानना। ऐसे निर्विकल्प अनुभवका स्वरूप जानना।

बहुरि भाई जी, तुम तीन दृष्टांत लिखि वा दृष्टांतविषै प्रश्न लिखा सो दृष्टांत सर्वांग मिलता नाहीं सो दृष्टांत है

सो एक प्रयोजनकौं दिखावै है सो यहाँ द्वितीयाका विधु (चन्द्रमा) जलविंदु अग्निकिणका ए तौ एकदेश है अर पूर्णमासीको चन्द्र अग्निकुंड ए सर्वदेश है। तैसे ही चौथे गुणस्थान आत्माकौं ज्ञानादिगुण एकदेश प्रगट भये गए हैं तिनकी अर तेरहैं गुणस्थान आत्माके ज्ञानादिक गुण सर्व प्रगट होय हैं तिनकी एक जाति है तहां तुम प्रश्न लिखाः——

एक जाति है जैसे केवली सर्वज्ञेयकौं प्रत्यक्ष जाने हैं तैसे चौथेवाला भी आत्माकौं प्रत्यक्ष जानता होगा ?

सो भाईजी, प्रत्यक्षताकी अपेक्षा एक जाति नाहीं सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षा एक जाति है। चौथे वालेके मतिश्रुत-रूप सम्यग्ज्ञान है। तेरहैं केवलरूप सम्यग्ज्ञान है। बहुरि एकदेश सर्वदेशका तौ अन्तर 'इतना' ही है जो मतिश्रुत-वाला अमूर्तिक वस्तुकौ अप्रत्यक्ष अमूर्तिक वस्तुकौ भी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष किंचित् अनुक्रमसौं जाने हैं। अर सर्वथा सर्वकौ केवलज्ञान युगपत् जाने है वह परोक्ष जानै यह अप्रत्यक्ष जानै, इतना ही विशेष है अर सर्वप्रकार एक ही जाति कहिए तौ जैसे केवली युगपत् अप्रत्यक्ष अप्रयोजनरूप

निर्विकल्परूप ज्ञेयकौं जानै तैसे ए भी जाने सो तौ है नाहीं, तातैं प्रत्यक्ष परोक्षका विशेष जानना।

उक्तंच अष्टसहस्रीमध्ये–श्लोकः—

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदसाक्षादसाक्षाच्च वाह्यवस्तुतमो भवेत्॥

याका अर्थ–स्याद्वाद जो श्रुतज्ञान अर केवलज्ञान दोय सर्व तत्त्वनके प्रकाशनहारे हैं, विशेष इतना––केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, श्रुतज्ञान परोक्ष है। वहुरि वस्तु है सो और नाहीं। वहुरि तुम लिख्याः—

निश्चय सम्यक्तका स्वरूप अर व्यवहार सम्यक्तका स्वरूप

सो सत्य है, परंतु इतना जानना, सम्यक्तीके व्यवहार सम्यक्तविषै निश्चय सम्यक्त गर्भित है सदैव गमनरूप है। वहुरि लिखीः—

कोई साधर्मी कहै हैं आत्माकौं प्रत्यक्ष जानैं तौ कर्मवर्गणाकौं क्यों न जानैं?

सोई कहा है! आत्माकौं प्रत्यक्ष तौ केवली ही जानैं तौ कर्मवर्गणाको अवधिज्ञान भी जानै है। वहुरि तुम लिखाः—

द्वितीयाके चन्द्रमाकी ज्यौं आत्माके प्रदेश थोरे खुले कहौ ?

सो दृष्टांत प्रदेशनकी अपेक्षा नहीं, यह दृष्टांत गुणकी अपेक्षा है। अर सम्यक्तविषैं अनुभवविषैं प्रत्यक्षादिकके प्रश्न लिखे थे तुमने, तिनका उत्तर मेरी बुद्धि अनुसार लिखा है। तुम हू जिनवानीतैं अपनी परणतिसैं मिलाय लेना अर विशेष कहांताईं लिखिये। जो बात जानिए सो लिखनेमें आवे नहिं। मिलै कछु कहिये भी सो मिलना कर्माधीन, तातैं भला यह है चैतन्यस्वरूपके उद्यमका अनुभवमें रहना वर्तना। सो वर्तमान कालविषै अध्यात्म तत्त्व तो आत्मा छै।

तिस समयसार ग्रंथकी अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीका संस्कृतविषै है अर आगमकी चर्चा गोमटसारविषै हैं। तथा और भी अन्यविषै है, सो जानी है, सो सर्व लिखनेमें आवे नाहिं। तातैं तुम अध्यात्म आगम ग्रंथका अभ्यास रखना अर स्वसुरुपाविषै मग्न रहना अर तुम कोई विशेष ग्रंथ जानै होवे तो मुझकौं लिख भेजना। साधर्मीके तो परस्पर चर्चा ही चाहिए, अर मेरी तौ इतनी बुद्धि है नाहीं। परंतु तुम सारिखे भाइनसौं परस्पर विचार है, सो अब

कहां तक लिखिये ? जेते मिलना नहीं तेतैं पत्र तौ शीघ्र ही लिखा करौ ।

मिति फागुन बदी ५ विक्रम सं० १८११ ।

टोडरमल

श्री स्वानुभव दर्पण

दोहा ।

निर्मल ध्यान लगायके, कर्मकलंक जलाय ।
भये सिद्ध परमात्मा, बन्दों मन वच काय ॥ १ ॥
चार घातिया घाति विधि, लिये अनन्त चतुष्ट ।
तिन जिनवरको प्रणमिके, करों काव्य कछु सुष्ट ॥२॥
भव दुखसे डर मोच्च हित, निज सम्बोध निमित्त ।
भविजन हेतू रचतहों, दोहा दृढ़कर चित्त ॥ ३ ॥
जीव काल संसार ये, कहे अनादि अनन्त ।
गहि मिथ्या श्रद्धान जिय, भ्रमे न सुख लहंत ॥ ४ ॥
जो चउ गति दुखसे डरे, तो तज सब पर भाव ।
कर शुद्धातम चिन्तवन, शिव सुख यही उपाव ॥ ५ ॥
त्रिविधि आतमा जानके, तज बहिरातम भाव ।
अन्तरात्मा होय कर, परमातमको ध्याव ॥ ६ ॥
मिथ्यादर्शन वश फंसे, अहंकार ममकार ।
जिनवर बहिरातम कहे, सो भ्रमि है संसार ॥ ७ ॥

निज पर का अनुभव करे, पर तज ध्यावे आप।
अन्तरात्मा जीवसो, नाश करे त्रय ताप ॥ ८ ॥
निर्मल निकल जिनेन्द्र शिव, सिद्ध विष्णु बुध सन्त।
परमातमके नाम जिन, भाषे एम अनन्त ॥ ९ ॥
देहादिक जो पर कहे, सो जाने निजरूप।
सो बहिरातम जिन कहे, कर भ्रमण भवकूप ॥ १० ॥
देहादिक पुद्गलमयी, सो जड़ हैं परजान।
ज्ञाता दृष्टा आप तू, चेतन निज पहचान ॥ ११ ॥
आप आपने रूपको, जाने सो शिव होय।
परमें अपनी कल्पना, करे भ्रमे जग सोय ॥ १२ ॥
बिन इच्छा शुचि तप करे, लखे आप गुण आप।
निश्चय पावे परमपद, फिर न तपे भवताप ॥ १३ ॥
बन्ध विभाव प्रसाद हो, शिव स्वभावसे जान।
बन्ध मोक्ष परणामसे, कारण और न आन ॥ १४ ॥
स्वातमको जाने नहीं, करे पुण्य बस पुण्य।
तदपि भ्रमे संसारमें, शिवसुख कभी न होय ॥ १५ ॥
निजदर्शन बस एकको, मोक्षहेतु तू जान।
हे योगी ! नहिं और को, निश्चयसे पहिचान ॥ १६ ॥
गुणस्थान वा मार्गणा, कहत दृष्टि व्यवहार।
निश्चय आतम ज्ञान ही, परमेष्ठी पद कार ॥ १७ ॥

गेह कार्य यद्यपि करें, तदपि स्वानुभव दक्ष ।
ध्यावें सदा जिनेश पद, होंय मुक्त प्रत्यक्ष ॥ १८ ॥
जिन सुमरों जिन चिंतवो, जिन ध्यावो मनशुद्ध ।
लहो परमपद क्षणकमें, होकरके प्रतिबुद्ध ॥ १९ ॥
जिनवर अरु शुद्धात्ममें, किंचित् भेद न जान ।
मोक्ष अर्थ हे योगिजन, निश्चयसे यह मान ॥ २० ॥
जो जिन सो आतम लखो, निश्चय भेद न रंच ।
यही सार सिद्धान्तका, छोड़ो सर्व प्रपंच ॥ २१ ॥
जो परमातम सो हि मैं, मैं जो वहि परमात्म ।
ऐसा जान जु योगिजन, करिये कुछ न विकल्प ॥२२॥
अगणित शुद्ध प्रदेशयुत, लोकाकाश प्रमाण ।
सो शुद्धातम अनुभवो, शीघ्र लहो निर्वाण ॥ २३ ॥
निश्चय लोकप्रमाण है, तनु प्रमाण व्यवहार ।
ऐसे आतम अनुभवै, सो पावै भवपार ॥ २४ ॥
चौरासी लख योनि में, भ्रम्यो जु काल अनंत ।
सम्यकदर्शनके बिना, यह जानो निर्भ्रान्त ॥ २५ ॥
शुद्ध सचेतन बुद्ध जिन, केवलज्ञान स्वभाव ।
वह आतम जानों सदा, जो चाहो शिवलाभ ॥ २६ ॥
जब तक आतमज्ञान ना, मिथ्या क्रिया कलाप ।
भटको तीनों लोकमें, शिवसुख लहो न आप ॥ २७ ॥

ध्यावन योग्य त्रिलोकमें, जिन सो आतम जान ।
निश्चय नय जिनवर कहै, यामें भ्रांति न ठान ॥२८॥
जबतक एक न जानता, परम पुनित शुद्ध भाव ।
मूढ़ोंके व्रत तप सभी, शिवकारण न कहाय ॥ २९ ॥
जो शुद्धातम अनुभवै, व्रत संयम संयुक्त ।
कहें जिनेश्वर जीव सो, निश्चय पावे मुक्त ॥ ३० ॥
जबतक एक न जानता, परम पुनित शुद्धभाव ।
व्रत संयम अरु शील तप, निष्फल सारे जान ॥ ३१ ॥
लहै पुण्यसे स्वर्ग सुख, पड़े नर्क कर पाप ।
पुण्य पाप तज आपमें, रमें लहै शिव आप ॥ ३२ ॥
व्रत तप संयम शील जिय, शिव कारण व्यवहार ।
निश्चय कारण मोक्षको, आतम अनुभव सार ॥ ३३ ॥
परख गहे निज भावको, त्याग करे पर भाव ।
सो शिव पावे जिन कहे, वृथा कु अन्य उपाव ॥ ३४ ॥
सप्त तत्त्व षट द्रव्य नव, अर्थ[1] पंच[2] है काय ।
सो यथार्थ व्यवहारयुत, ठीक करो मन लाय ॥ ३५ ॥
एक सचेतन जीव सब, और अचेतन जान ।
सो चेतन ध्यावो सदा, लहो तुरत शिव थान ॥ ३६ ॥
जो शुद्धातम अनुभवे, तजकर सब व्यवहार ।
शीघ्र मुक्त पद सो लहै, यों जिनवर दर्शाव ॥ ३७ ॥

१. पदार्थ । २. पचास्तिकाय ।

जीव अजीवके भेदका, जान वही है ज्ञान।
कहत योगिजन योगि हे! मोक्षहेतु यह ज्ञान ॥ ३८ ॥
कहत योगिजन रे जीव तू, जो चाहे शिव लाभ।
केवलज्ञान स्वभावमय, आत्मतत्त्वको जान ॥ ३९ ॥
कौन किसे मंत्री करे, सेवे पूजे कौन।
किसकी स्पर्शास्पर्शता, ठगे कौनको कौन ॥ ४० ॥
तबतक भ्रमे कुतीर्थ जिय, करे कपटमय खेल।
जबतक सुगुरु प्रसाद बिन, ज्ञान न आतम देव ॥ ४१ ॥
तीर्थ देवालय देव ना, देह दिवालय देव।
जिनवाणी गुरु यों कह्यो, निश्चय[1] जानो एव ॥ ४२ ॥
तन मंदिरमें जीव जिन, जन मंदिर देखंत।
हास्य मुझे दीखत यही, प्रभु भिक्षार्थ भ्रमंत ॥ ४३ ॥
मूढ़[2] दिवालय देव ना, मूर्ति चित्र ना देव।
तन मंदिरमें देव जिय, ज्ञानी जाने भेव[3] ॥ ४४ ॥
तीर्थ दिवालय देव जिन, यों भाषें सब मूढ़।
तन मंदिर जिन देव जिय, ज्ञानी जाने गूढ़ ॥ ४५ ॥
जन्म मरण रुज से डरे, धर्म महौषधि पीव।
अविनाशी तन ज्ञानमय, पाय सुखी हो जीव ॥ ४६ ॥
शास्त्र पढ़ैं बांचैं बसैं, मठ में लुचैं केश।
पिछी कमंडल के रखें, ज्ञान न तो वृष लेश ॥ ४७ ॥

---

१. निश्चय। २. हे मूर्ख। ३. भेद।

रागद्वेष दोनों तजे, निज में करै निवास।
जिनवर भाषित धर्म यह, पंचम गति ले जाय ॥ ४८ ॥
आयु गलै मन ना गलै, इच्छाशा न गलन्त।
तृष्णा मोह सदा बढ़ै, यासे भव भटकन्त ॥ ४९ ॥
ज्यों मन विषयों में रमे, त्यों हो आतम लीन।
क्षणमें शिव सम्पति वरै, क्यों भव भ्रमे न दीन ॥५०॥
नर्कवास सम जर्जरित, जानों मलिन शरीर।
कर शुद्धातम भावना, शीघ्र लहो भवतीर ॥ ५१ ॥
व्यवहारिक धंधों फंसे, करें न आतम ज्ञान।
इस कारण जगजीव वे, पावें नहिं निर्वाण ॥ ५२ ॥
शास्त्र पढ़े भी मूर्ख हैं, जो निजतत्व अजान।
इस कारण वे जीव भी, पावें नहिं निर्वाण ॥ ५३ ॥
मन इन्द्रीसे दूर हो, क्या बहु पूछे बात।
रागप्रसार जु तजत ही, सहज स्वरूप उत्पाद ॥ ५४ ॥
जीव पुद्गल दोउ भिन्न हैं, भिन्न सकल व्यवहार।
तज पुद्गल ग्रहे जीव तो, शीघ्र लहे भवपार ॥ ५५ ॥
जो ना जाने जीव क्या, जो न कहै है जीव।
सो नास्तिक भव २ भ्रमें, जिनवर कहत सदीव ॥५६॥
रत्न दीप रवि दूध दधि, घृत पत्थर अरु हेम।
रजत स्फटिक अरु अग्नि नव, उदाहरण जिय एम ॥५७॥

देहादिक को पर गिनें, जैसे शून्य अकाश।
तो पावे परब्रह्म झट, केवल करे प्रकाश॥ ५८॥
जैसे शुद्ध अकाश है, त्यों ही शुचि है जीव।
जड़ जानो आकाशको, चैतन्य लक्षण जीव॥ ५९॥
ध्यान द्वार अंतर लखे, देह रहित जो जीव।
शर्मजनक जन्म न धरे, पिये न जननी क्षीर॥ ६०॥
ज्ञानमयी चैतन्य तन, पुद्गल तन जड़ जान।
मिथ्या मोह जु दूरकर, तन भी मम नहिं मान॥६१॥
आप आप अनुभव करे, को फल सो न लहंत।
प्रगटत केवलज्ञान अरु, शाश्वत सुख विलसंत॥ ६२॥
जो पर भावहि त्यागकर, आतम भाव लखंत।
केवल ज्ञान सरूप हो, भव २ ना भटकन्त॥ ६३॥
धन्य अहो! भगवंत बुध, जिन त्यागे पर भाव।
लोकालोक प्रकाश कर, जाने विमल स्वभाव॥ ६४॥
अनागार सागार जो, वास करें निज रूप।
शीघ्र मुक्ति सुख पावही, यो भाषत जिन भूप॥६५॥
विरला जानै तत्त्वको, विरला तत्त्व सुनन्त।
विरला ध्यानै तत्त्वको, विरला श्रद्धावन्त॥ ६६॥
पुत्रादिक न कुटुम्ब मम, विषय भोग दुख खान।
ज्ञानीजन इम चिंतकर, शीघ्र करत भवहान॥ ६७॥

इन्द्र नरेन्द्र फनिन्द्र भी, नहीं शरण दातार।
आतम को आतम शरण, बुध मुनि करत विचार ॥६८॥
जनम मरण इकला करै, दुख सुख भोगे एक।
दुर्गति शिव पद एक ले, यह दृढ़ करो विवेक ॥ ६९ ॥
जन्म मरण इकला करै, यह लख तज परभाव।
ध्यावो अपने रूपको, शीघ्र बनो शिवराव ॥ ७० ॥
पापरूप को पाप तो, जानत जग सब कोई।
पुण्य तत्त्व भी पाप है, कहत अनुभवी कोई ॥ ७१ ॥
जैसे बेड़ी लोहकी, त्यों सोने की जान।
करे शुभाशुभ दूर जो, ज्ञानी मर्म जु जान ॥ ७२ ॥
हे जिय जो निर्ग्रन्थ मन, तो तू भी निर्ग्रन्थ।
जहं पावे निर्ग्रंथता, तहाँ लहे शिवपंथ ॥ ७३ ॥
यथा बीजमें वड़ प्रगट, बड़ में बीज सुजान।
तथा देह में जीव है, अनुभव से पहिचान ॥ ७४ ॥
जो जिन वंह मैं, वह हि मैं, कर अनुभव निर्भ्रान्त।
हे योगी ! शिवहेतु ये, अन्य न मंत्र न तंत्र ॥ ७५ ॥
दो त्रय चार रु पांच छह, सप्त छ पंचरु चार।
नवगुण युत परमात्मा, कर तू यह निर्धार ॥ ७६ ॥
दो त्यागी दो गुण सहित, जो आतम रस लीन।
जिनवर भाषें सो लहै, शीघ्र मुक्ति पद लीन ॥ ७७ ॥

तीन रहित त्रयगुण सहित, स्वातम करै निवास।
सो पावै सुख सास्वता, जिनवर कहत प्रकाश ॥ ७८ ॥
कषाय संज्ञा चार बिन, अनंत चतुष्ट सहित।
हे जिव! निजरूप जान यह, होगा परम पवित्र ॥७९॥
संग रहित दश सहित दश, लक्षण दश गुण युक्त।
सो ही निश्चय आत्मा, यों कहते जिनभूप ॥ ८० ॥
आतम दर्शन ज्ञानमय, आतम चारित्रवान।
आतम संयम शील तप, आतम प्रत्याख्यान ॥ ८१ ॥
जो जाने निज आत्मको, पर त्यागे निर्भ्रान्त।
सो ही है सन्यास वर, भाषें जिन बड़ भाग ॥ ८२ ॥
सम्यगदर्शन है यही, आत्म विमल श्रद्धान।
फिर २ ध्यावै आतमा, सो शुचि चारित्रवान ॥ ८३ ॥
रत्नत्रय युत जीव जो, उत्तम तीर्थ पवित्र।
हे योगी! शिवहेतु ये, अन्य न तंत्र न मंत्र ॥ ८४ ॥
जहं चेतन तहां सकल गुण, केवलि जिन भाषंत।
इससे निश्चय योगिजन, शुद्धात्मा जानंत ॥ ८५ ॥
एकाकी इन्द्रिय रहित, करो योग त्रय शुद्ध।
निज आत्मा को जानकर, शीघ्र लहो शिव सुख ॥८६॥
बन्ध मोक्ष की पक्ष से, निश्चय बांधे कर्म।
सहज रमै निज रूपमें, तो पावे शिव शर्म ॥ ८७ ॥

सम्यग्दृष्टि जीवका, दुर्गति गमन न होय।
पूर्व बन्ध वश जाय तो, सम्यक् दोष न कोय ॥ ८८ ॥
निज स्वरूपमें जो रमें, त्याग सर्व व्यवहार।
सम्यग्दृष्टि होय सो शीघ्र लहे भवपार ॥ ८९ ॥
अजर अमर गुणका निलय, सम्यक् श्रद्धावान।
करै न बंध नवीन विधि, पूर्व निर्जरा ठान ॥ ९० ॥
जो सम्यक्त प्रधान बुध, सो हि त्रिलोकप्रधान।
पावे केवलज्ञान झट, साश्वत सौख्य निधान ॥ ९१ ॥
ज्यों जल लिप्त न हो कमल, तैसे सम्यक्वान।
लिप्त न होवे कर्म मल, स्वातम दृढ़ श्रद्धान ॥ ९२ ॥
जो समता रसलीन हो, फिर फिर करत अभ्यास।
अखिल कर्म सो क्षय करे, शीघ्र करे शिववास॥ ९३ ॥
पुरुषाकार पवित्र अति, देखे आतमराम।
निर्मल तेजोमय अरु अनंत गुणगणधाम ॥ ९४ ॥
अशुचि देहसे भिन्न निज, शुद्ध लखै चिद्रूप।
सो ज्ञाता सब शास्त्रका, पावै सुख अनूप ॥ ९५ ॥
स्व पर रूप जानै न जो, नहीं तजै पर भाव।
सकल शास्त्र न जाने तदपि, मिटै न भव भटकाव॥९६॥
छोड़ कल्पना जाल सब, परमसमाधी लीन।
वेदे जिस आनंदको, शिवसुख कहते वीर ॥ ९७ ॥

जो पिंडस्थ पदस्थ अरु, रूपस्थ रूपातीत।
जिन भाषित ये ध्यानचतु, ध्यावो शुचिकर मीत ।९८॥
सर्व जीव हैं ज्ञानमय, जाने समता धार।
सो सामायिक जिन कह्यो, प्रगट करै भवपार ॥ ९९ ॥
रागद्वेष जो त्यागकर, धारै समता भाव।
सामायिक चारित्र सो, तीरथपति दर्शाव ॥ १०० ॥
हिंसादिक तज निज रमैं, आत्मस्थिति कर सोइ।
छेदोपस्थापन चरित है, शिवपथ कारण लोय ॥ १०१ ॥
मिथ्यात्वादिक परिहरण, सम्यग्दर्शन शुद्धि।
सो परिहारविशुद्धि है, शीघ्र लहो शिवसिद्धि ॥ १०२ ॥
सूक्ष्म लोभके नाशसे, जो सूक्ष्म परिणाम।
जीव सूक्ष्म चारित्र है, वह जो सास्वत सुखधाम॥१०३॥
आतमा सो अर्हत है, निश्चय सिद्ध जु सो हि।
आचारज उवझाय अरु, निश्चय साधू सो हि ॥ १०४ ॥
सो शिव शंकर विष्णु अरु, रुद्र बुद्ध जिन सो हि।
ब्रह्मा ईश्वर आदि सो, सिद्ध अनंत भि सोहि ॥ १०५ ॥
ऐसे लक्षण युक्त जो, परम विदेही देव।
तनवासी इम जीवमें, अरु उसमें नहिं फेर ॥ १०६ ॥
जो सीझे जो सीझते, जो होंगे भगवान्।
वे निज आतमदर्शसे यह जानों निर्भ्रान्त ॥ १०७ ॥

भयभित जो संसारसे, योगीन्दू मुनिराज।
एकचित्त दोहा रचे, निज सम्बोधन काज ॥ १०८ ॥
"तिन गुरुचरणसरोज नमि, भाषा दोहा कीन।
लघुमति नाथूराम ने लखि तिस आशय पीन ॥"

❀ इति श्री योगसारका सशोधित हिन्दी पद्यानुवाद सम्पूर्णम् ❀
(सशोधक ब्र० गुलाबचंद जी जैन)

—❀— श्री सामायिकपाठ संस्कृत —❀—

भाषानुवाद सहित।

सिद्धवस्तुवचो भक्त्या, सिद्धान् प्रणमतः सदा।
सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः, सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम् ॥१॥

अर्थ—श्री सिद्धपरमेष्ठी व जगतसिद्ध सभी पदार्थोंके कहने वाले जैन आगमको अथवा आगमके मूलकर्त्ता श्री अरहंत भगवान्को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके तथा जिन्होंने संसार-दुःखका नष्ट करना रूप कार्य सिद्ध कर लिया है, ऐसे जीवनमुक्त अरहन्तदेव व मोक्षप्राप्त सिद्धपरमेष्ठी हमको भी अविनश्वर सिद्धि प्राप्त करावें।

नमोऽस्तु धौतपापेभ्यः सिद्धेभ्यः ऋषिसंसदि।
सामायिकं प्रपद्येऽहं, भवभ्रमणसूदनम् ॥ २ ॥

अर्थ—समस्त कर्मकलङ्कको नष्ट कर देनेवाले श्री सिद्ध-परमेष्ठीको नमस्कार हो। महर्षि पुरुषोंके रहने योग्य पवित्र

स्थानमें स्थित होकर संसार दुखको नाश करनेवाली सामायिकको मैं प्रारंभ करता हूँ अर्थात् उसका प्ररूपण करता हूँ।

साम्यं मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित्।
आशां सर्वां परित्यज्य, समाधिमहमाश्रये ॥ ३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवमात्रमें मेरा समताभाव है। किसी भी जीवके प्रति मेरा वैरभाव नहीं है और समस्त आशाओं (सांसारिक इच्छाओं) को छोड़कर मैं आत्मध्यानमें तल्लीन होता हूँ ॥ ३ ॥

रागद्वेषान्ममत्वाद्वा, हा मया ये विराधिताः।
क्षमंतु जंतवस्ते मे, तेभ्यः क्षमाम्यहं पुनः ॥ ४ ॥

अर्थ—मैंने रागद्वेष व मोहवश जिन जीवोंका घात किया है वे मुझे क्षमा करें। मुझे अपनी इस दुर्बुद्धिका बड़ा खेद है। जिन जीवोंसे मेरे प्रति कुछ अपराध बन गया हो उन्हें मैं सरल हृदयसे क्षमा करता हूँ ॥ ४ ॥

मनसा वपुषा वाचा, कृतकारितसम्मतैः।
रत्नत्रयभवं दोषं, गर्हे निंदामि वर्जये ॥ ५ ॥

अर्थ—मन वचन कायसे व कृत कारित अनुमोदना द्वारा जो मैंने अपने रत्नत्रयमें दोष लगाया है उसकी मैं गर्हणा करता हूँ, निंदा करता हूँ और उस दोषका परित्याग करता हूँ ॥ ५ ॥

तैरश्चं मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना।
कायाहारकषायादीन्, संत्यजामि त्रिशुद्धितः ॥ ६ ॥

अर्थ—सामायिक करते हुए मैं इस समय तिर्यंच, मनुष्य व देवोंद्वारा किये गये उपसर्गको शांतिपूर्वक सहन करनेके लिये तैयार हूँ और सामायिक के कालतक शरीर-से ममत्व, आहार तथा क्रोधादि कषायोंको शुद्ध मन वचन कायपूर्वक त्यागता हूँ ॥ ६ ॥

रागं द्वेषं भयं शोकं, प्रहर्षौत्सुक्यदीनताः।
व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वमरतिं रतिमेव च ॥ ७ ॥

अर्थ—राग, द्वेष, भय, शोक, हर्ष, उत्सुकता, दीनता, रति, अरति आदि सभी दोषोंको मैं मन, वचन कायपूर्वक त्यागता हूँ ॥ ७ ॥

जीवने मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बंधावरौ सुखे दुःखे सर्वदा समता मम ॥ ८ ॥

अर्थ—जीवन मरणमें, लाभ अलाभमें, संयोग वियोगमें, शत्रु मित्रमें व सुख दुःखमें मेरा सदा ही समता भाव बना रहे ॥ ८ ॥

आत्मैव मे सदा ज्ञाने, दर्शने चरणे तथा।
प्रत्याख्याने ममात्मैव, तथा संवरयोगयोः ॥ ९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, व सम्क्

त्यागमें और कर्मोंके रोकने व ध्यान आदि करने में मेरे एक आत्मा ही शरण है । ९ ॥

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा वहिर्भवा भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ १० ॥

अर्थ—ज्ञानदर्शनस्वरूप, एक और नित्य ऐसी आत्मा ही वस्तुतः मेरी निधि है । बाकी सभी क्रोधादि परिणाम व स्त्री-पुत्रादि बाह्य पदार्थ कर्मोंके संयोगसे होनेवाले हैं उनसे मेरा कोई संबंध नहीं है ॥ १० ॥

संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसंबंधं, त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ॥११॥

अर्थ—जीवद्वारा अनादिकालसे प्राप्त दुखपरम्परा संयोगजन्य ही है । अतः अब मैं मन वचन कायपूर्वक सभी संयोगसंबंधको त्यागता हूँ ॥ ११ ॥

एवं सामायिकात्सम्यक्, सामायिकमखंडितम् ।
वर्तते मुक्तिमानिन्या, वशीभूतायते नमः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस प्रकार सामायिक पाठमें कही हुई रीतिके अनुसार जिसके परम अखंडित सामायिक पाई जाती है तथा जो मुक्तिरूपी स्त्रीके वशीभूत हो गये हैं अर्थात् जिनको मुक्ति प्राप्त हो गई है उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१२॥

❀ इति श्रीसमायिकपाठ संस्कृत समाप्त ❀

÷❀: श्री सामायिक पाठ भाषा :❀÷

नित देव ! मेरी आत्मा, धारण करे इस नेमको ।
मैत्री करे सब प्राणियोंसे, गुणिजनोंसे प्रेमको ॥
उन पर दया करती रहे, जो दुःख-ग्राह-ग्रहीत हैं ।
उनसे उदासी सी रहे, जो धर्मके विपरीत हैं ॥ १ ॥

करके कृपा कुछ शक्ति ऐसी, दीजिये मुझमें प्रभो ।
तलवारको जो म्यानसे, करते विलग हैं हे विभो ॥
गतदोष आत्मा शक्तिशाली, है मिली मम अंगसे ।
उसको विलग उस भाँति, करनेके लिए ऋजुढंगसे ॥२

हे नाथ ! मेरे चित्तमें, समता सदा भरपूर हो ।
सम्पूर्ण ममताकी कुमति, मेरे हृदयसे दूर हो ॥
वनमें भवनमें दुःखमें, सुखमें नहीं कुछ भेद हो ।
अरि-मित्रमें मिलने-बिछुड़ने, में न हर्ष न खेद हो ॥ ३

अतिशय घनी तम-राशिको, दीपक हटाते हैं यथा ।
दोनों कमल-पद आपके, अज्ञान-तम हरते तथा ॥
प्रतिबिम्बसम स्थिररूप वे, मेरे हृदयमें लीन हों ।
मुनिनाथ ! कीलित-तुल्य वे, उरपर सदा आसीन हों ॥४॥

यदि एक-इन्द्रिय आदि देही, घूमते फिरते मही ।
जिनदेव ! मेरी भूलसे, पीड़ित हुए होवें कहीं ॥

टुकड़े हुए हों, मिल गये हों, चोट खाये हों कभी।
तो नाथ! वे दुष्टाचरण, मेरे बनें झूठे सभी ॥ ५ ॥

सन्मुक्तिके सन्मार्गसे, प्रतिकूल पथ मैंने लिया।
पंचेन्द्रियों चारों कषायों. में स्वमन मैंने दिया ॥
इस हेतु शुद्ध चारित्रका जो, लोप मुझसे हो गया।
दुष्कर्म वह मिथ्यात्वको, हो प्राप्त प्रभु! करिए दया ॥६॥

चारों कषायोंसे, वचन, मन, कायसे जो पाप है—
मुझसे हुआ हे नाथ! वह, कारण हुआ भव-ताप है॥
अब मारता हूँ मैं उसे, आलोचना-निन्दादिसे।
ज्यों सकल विषको वैद्यवर, है मारता मंत्रादि से ॥ ७ ॥

जिनदेव! शुद्ध चरित्रका मुझसे अतिक्रम जो हुआ।
अज्ञान और प्रमादसे, व्रतका व्यतिक्रम जो हुआ ॥
अतिचार और अनाचरण, जो जो हुए मुझसे प्रभो!
सबकी मलिनता मेटनेको, प्रतिक्रम करता विभो ॥ ८ ॥

मनकी विमलता नष्ट होने, को अतिक्रम है कहा।
औ शीलचर्याके विलंघन, को व्यतिक्रम है कहा ॥
हे नाथ! विषयोंमें लपटने, को कहा अतिचार है।
आसक्त अतिशय विषय में, रहना महाऽनाचार है ॥ ९ ॥

यदि अर्थ, मात्रा, वाक्यमें, पदमें पड़ी त्रुटि हो कहीं।
तो भूलसे ही वह हुई, मैंने उसे जाना नहीं ॥

जिनदेववाणी ! तो क्षमा, उसको तुरत कर दीजिए।
मेरे हृदयमें देवि ! केवल, ज्ञानको भर दीजिए॥ १० ॥
हे देवि ! तेरी वन्दना, मैं कर रहा हूँ इसलिए।
चिन्तामणिप्रभु है सभी, वरदान देनेके लिए॥
परिणामशुद्धि, समाधि मुझमें, बोधिका संचार हो।
हो प्राप्ति स्वात्माकी तथा, शिवसौख्यकी, भवपार हो॥११॥
मुनिनायकोंके वृन्द जिसको, स्मरण करते हैं सदा।
जिसका सभी नर अमरपति, भी स्तवन करते हैं सदा।
सच्छास्त्र वेद-पुराण जिसको, सर्वदा हैं गा रहे॥
वह देवका भी देव बस, मेरे हृदयमें आ रहे॥ १२ ॥
जो अन्तरहित सुबोध-दर्शन, और सौख्य स्वरूप है।
जो सब विकारोंसे रहित जिससे अलग भवकूप है॥
मिलता विना न समाधि जो, परमात्म जिसका नाम है।
देवेश वह उर आ बसे, मेरा खुला हृद्धाम है॥ १३ ॥
जो काट देता है जगतके, दुःख-निर्मित जालको।
जो देख लेता है जगतकी, भीतरी भी चालको॥
योगी जिसे हैं देख सकते, अन्तरात्मा जो स्वयम्।
देवेश वह मेरे हृदय-पुरका निवासी हो स्वयम्॥ १४ ॥
कैवल्यके सन्मार्गको, दिखला रहा है जो हमें।
जो जननके या मरणके, पड़ता न दुख सन्दोह में॥

अशरीर हो त्रैलोक्यदर्शी, दूर है कुकलंकसे।
देवेश वह आकर लगे, मेरे हृदयके अंकसे ॥ १५ ॥

अपना लिया है निखिल तनु-धारी-निवहने ही जिसे।
रागादि दोषव्यूह भी, छू तक नहीं सकता जिसे॥
जो ज्ञानमय है, नित्य है, सर्वेन्द्रियोंसे हीन है।
जिनदेव देवेश्वर वही, मेरे हृदयमें लीन है ॥ १६ ॥

संसारकी सब वस्तुओंमें, ज्ञान जिसका व्याप्त है।
जो कर्म-बंधन हीन, बुद्ध, विशुद्ध, सिद्धि प्राप्त है॥
जो ध्यान करनेसे मिटा, देता सकल कुविकारको।
देवेश वह शोभित करे, मेरे हृदय-आगार को॥ १७ ॥

तम-संघ जैसे सूर्य-किरणों, को न छू सकता कहीं।
उस भाँति कर्म-कलंक दोषा-कर जिसे छूता नहीं॥
जो है निरञ्जन वस्त्वपेक्षा, नित्य भी है एक है।
उस आप्त प्रभुकी शरणमें हूं, प्राप्त, जोकि अनेक है॥१८॥

यह दिवसनायक लोकका, जिसमें कभी रहता नहीं।
त्रैलोक्य-भासक ज्ञान-रवि, पर है वहाँ रहता सही॥
जो देव स्वात्मामें सदा, स्थिर-रूपताको प्राप्त है।
मैं हूँ उसीकी शरणमें, जो देववर है आप्त है॥ १९ ॥

अवलोकने पर ज्ञानमें, जिसके सकल संसार ही-
है स्पष्ट दीखता, एकसे, है दूसरा मिलकर नहीं॥

जो शुद्ध, शिव है, शान्त भी है, नित्यताको प्राप्त है।
उसकी शरणको प्राप्त हूँ, जो देववर है आप्त है॥ २० ॥
वृक्षावली जैसे अनलकी, लपटसे रहती नहीं।
त्यों शोक, मन्मथ, मानको, रहने दिया जिसने नहीं॥
भय, मोह, नींद, विषाद, चिंता, भी न जिसको व्याप्त है।
उसकी शरणमें हूँ गिरा, जो देववर है, आप्त है॥ २१ ॥
विधिवत शुभासन घासका, या भूमिका बनता नहीं।
चौकी, शिलाको ही शुभासन, मानती बुधता नहीं॥
जिससे कषायारीन्द्रियाँ, खटपटमचाती हैं नहीं।
आसन सुधी जनके लिए, है आतमा निर्मल वही॥ २२ ॥
हे भद्र! आसन, लोकपूजा, संघकी संगति तथा।
ये सब समाधिके न साधन, वास्तविक में है प्रथा॥
सम्पूर्ण बाहर-वासनाको, इसलिए तू छोड़दे।
अध्यात्ममें तू हरघड़ी, होकर निरत रति जोड़ दे॥ २३ ॥
जो बाहरी हैं वस्तुयें, वे हैं नहीं मेरी कहीं।
उस भाँति हो सकता कहीं, उनका कभी मैं भी नहीं।
यों समझ बाह्याडम्बरोंको, छोड़ निश्चितरूपसे।
हे भद्र! हो जा स्वस्थ तू, बच जायगा भवकूपसे॥२४॥
निजको निजात्मा-मध्यमें ही, सम्यगवलोकन करे।
तू दर्शन-प्रज्ञानमय है, शुद्ध से भी है परे॥

एकाग्र जिसका चित्त है, तू सत्य इसको मानना।
चाहें कहीं भी हो, समाधि-प्राप्त उसको जानना ॥ २५ ॥
मेरी अकेली आतमा, परिवर्तनोंसे हीन है।
अतिशय विनिर्मल है सदा, सद्ज्ञान में ही लीन है ॥
जो अन्य सब हैं वस्तुयें, वे ऊपरी ही हैं सभी।
निज कर्मसे उत्पन्न हैं, अविनाशिता क्यों हो कभी ॥२६॥
है एकता जब देहके भी, साथमें जिसकी नहीं।
पुत्रादिकोंके साथ उसका, ऐक्य फिर क्यों हो कहीं ॥
जब अंगःभरसे मनुजके, चमड़ा अलग हो जायगा।
तो रोंगटोंका छिद्रगण, कैसे नहीं खो जायगा ॥ २७ ॥
संसाररूपी गहन में है, जीव बहु दुख भोगता।
वह बाहरी सब वस्तुओंके, साथ कर संयोगता ॥
यदि मुक्तिकी है चाह तो, फिर जीवगण ! सुन लीजिये।
मनसे वचनसे कायसे, उसको अलग कर दीजिए ॥२८॥
देही ! विकल्पित जालको, तू दूरकर दे शीघ्र ही।
संसार-वन में डालनेका, मुख्य कारण है यही ॥
तू सर्वदा सबसे, अलग, निज आतमाको देखना।
परमात्माके तत्वमें, तू लीन निजको लेखना ॥ २९ ॥
पहले समयमें आतमाने, कर्म हैं जैसे किए।
वैसे शुभाशुभ फल यहाँ पर, सांप्रतिक उसने लिए ॥

यदि दूसरेके कर्मका फल, जीवको हो जाय तो।
हे जीवगण! फिर सफलता, निज कर्मकी खो-जायतो ॥३०॥
अपने उपार्जित कर्मफलको, जीव पाते हैं सभी।
उसके सिवा कोई किसीको, कुछ नहीं देता कभी॥
ऐसा समझना चाहिए, एकाग्र मन होकर सदा।
'दाता अपर है भोगका, इस बुद्धिको खोकर सदा॥३१॥
सबसे अलग परमातमा है, अमितगतिसे वन्द्य है।
हे जीवगण! वह सर्वदा, सब भाँति ही अनवद्य है॥
मनसे उसी परमातमाको, ध्यानमें जो लायगा।
वह श्रेष्ठ लक्ष्मीके निकेतन, मुक्ति पदको पायगा॥ ३२॥
पढ़कर इन द्वात्रिंश पद्यको, लखता जो परमात्म वन्द्यको।
वह अनन्य मन हो जाता है, मोक्ष-निकेतनको पाता है॥३३॥

❀ इति श्रीसामायिकपाठ भाषा समाप्त ❀

❀ आत्मबोध ❀

(स्व० पं० भागचदजीकृत)

दोहा।

परमजोति चंदों सकल, दर्पणतुल्य त्रिकाल।
युगपत प्रतिबिंबित जहां, सकल पदारथ माल॥

चौपाई।

जो निज रूप न जाने सहीं, परमातम सो जाने नहीं॥
तातें प्रथम स्वरूपहि जान, जातें जानें पुरुष प्रधान॥ १॥

जो निज तत्त्वहि जाने नाहिं, तसु थिरता नाहिं आतम माहिं।
सो तन चेतन भिन्न पिछान, कर न सके मोहित अज्ञान ॥२
निजपर भेद लखे नहिं जोय, आत्मलाभ ताको नहि होय।
ता बिन निज प्रबोध अंकूर, प्रापति स्वप्नमाहिं अति दूर ॥३
तातें शिव अभिलाषी जेह, आतम निश्चय प्रथम करेह।
जो पर पर्यय रूप विकल्प, वर्जित चितगुण सहित अनल्प ॥४
सोहे त्रिविध आतमाराम, सर्व भूतथित निज गुणधाम।
बहिरातम अंतर आतमा, परमातम जानो अनुपमा ॥५
जाकी देहादिक पर मांह, आतमबुद्धि भरम निज छांह।
सो जानो बहिरातम क्रूर, मोहनींद सोवे भरपूर ॥६
परभावनतें होय उदास, आप २ में रुचि है जास।
सो अंतर आतम बुध कहे, जे भ्रम तम हर निजगुण लहे ॥७
निर्मल निकल शुद्ध निष्पन्न, सर्व कल्प वर्जित चैतन्य।
शुद्धातम परमातम सोय, ज्ञानमूर्ति भाषै मुनिलोय ॥८

प्रश्न—

लखके देहादिकते भिन्न, शुद्ध अतीन्द्रिय चेतनचिह्न।
आतमतत्त्व अमूरत तास, कैसे करें ध्यान अभ्यास ? ॥९

उत्तर—

तजके बहिरातमता मित्त, अंतरातमा होय सुचित्त।
ध्यावहु परमातम अति शुद्ध, अव्यय शुद्ध बुद्ध अविरूद्ध ॥१०

तन चेतनको जाने एक, बहिरातम शठ रहित विवेक।
ज्ञानी जीव अनुभवे भिन्न, देहादिकतें निज चित चिन ॥११
आतम तत्त्व विमुख अत्यन्त, करण विषय चल परिणतिवंत।
बहिरातम अज्ञानी जीव, तनको आतम लखै सदीव ॥१२
सुनकर पशु नारक पर्याय, नामकर्मके उदय लहाय।
निजको सुन नर पशु नारकी, जाने मूढ़ अविद्या थकी ॥१३
स्वसंवेद्य निजरूप चिदंक, जो भाषो जिनवर निकलंक।
सो नहिं जानें अक्षातीत, सदा अमूरत देव पुनीत ॥१४
च्युत चेतन निज तनमें जेम, माने सठ आपो कर प्रेम।
त्योंहीं देख पराई देह, पर आतम मानें भ्रम गेह ॥१५
इम निज तनमें निज जिय जान, पर तनमें पर जीव पिछान।
याही बुद्धि ठगो संसार, जड़में चेतन तत्त्व निहार ॥१६
ताहितें निज भिन्न अत्यंत. पर सुत दारादिक बहु भंत।
मानत मूढ तिनहि आपने, मोह ज्वर व्याकुल मति घने ॥१७
चेतन और अचेतन द्रव्य, तिन मानीके अपने सर्व।
विनसन उपजनादि पर रूप, निज ही के जानें भ्रम कूप ॥१८
यह अज्ञान विषम ग्रह क्रूर, लगो अनादि जीवके भूर।
जातैं देहादिकको मूढ़, आप रूप जानें अतिरूढ़ ॥१९
जो तनमें आतम बुधि अंध, सो ही रचै देह संबंध।
चिदगुणमें आतम बुधि जोय, करत सो भिन्न देहते सोय ॥२०
तनमें अहं बुद्धि ही जनें, बंधु धनादि विकल्प सु घनें।

तिनको लख अपने सउ जीव, आप ठगान सकल सदीव ॥२१
आतम भाव देहमें जोय, स्थिति भववृक्ष वर्धक सोय ।
तातैं थावहु अंतर इष्ट, तज इन्द्रिय रज बाहिज दिष्ट ॥२२
तातैं इन्द्रिय वश निज त्याग, मैं विषियनमैं कीनो राग ।
सो मैं इनहीके परसंग, जानों नहिं निज रूप अभंग ॥२३
तज बाहिज दृग विषय अनिष्ट, अंतरात्मा होय सुद्रिष्ट ।
यो ही योग करे परकास, परम जोग निर्मल गुण राश ॥२४
जो कछु रूप देखवे योग, सो मों ते पर बिन उपयोग ।
ज्ञानरूप दीसत नहि नैंन, तो कासोंमें भाखों वैन ॥२५
जो मैं परकी शिक्षा लेंउ, वा मैं परको शिक्षा देउँ ।
सो है यह भ्रम बुद्धि असार, मैं तो स्वयं बुद्धि अविकार ॥२६
जो निज चिद्गुण ही को ग्रहे, निजतैं भिन्न न परगुण बहें।
सो मैं विज्ञानी अविकल्प, स्वसंवेद्य कैवल्य अनल्प ॥२७
जो साँकलको सर्प पिछान, करे क्रिया भ्रम कोय अजान ।
तैसे मेरी पूरव क्रिया, देहादिकमें निज भ्रमधिया ॥२८
ज्यों साँकलमें अहि बुधि नशे, भ्रमविन क्रिया सकल तव लसे ।
त्यों देहादिक माहीं अबै, अहं बुद्धि विनशी मम सबै ॥२९
लिंग पुरुष नारी पुन क्लीव, एक दोय बहु वचनन जीव ।
जातैं मैं अवाच गुन धाम, ज्ञाता निजकर निजमें राम ॥३०
मैं सोयो जाके विनज्ञान, जग्यो ततक्षण जाहि पिछान ।
मो स्वरूप मम अक्षातीत, स्वसंवेद्य चैतन्य पुनीत ॥३१

परम ज्योति निज तत्व रसाल, जाहि विलोकित ही ततकाल।
विनशै रागादिक अति घोर, तातैं अरि प्रिय कोऊ न मोर॥३२
मो स्वरूप देखो नहिं जोय, सो जन मम अरि प्रिय नहिं होय।
जिहि स्वरूप देखो मम सही, सो भी शत्रु-मित्र मो नहीं ॥३३
पूर्व अज्ञान क्रिया जे सवै, नानाविध सो भासत अवै।
इन्द्रजालवत मिथ्यारूप, जानो हम जिय चिह्न चिद्रूप ॥३४
शुद्ध प्रसिद्ध आतमा जोय, ज्योति स्वरूप सनातन सोय।
सो ही मैं तातैं निज धाम, अवलोकों अच्युत निज राम ॥३५
वहिरातमता तजके वीर, अन्तर दृगतें ध्यावे धीर।
रहित कल्पना जाल विशुद्ध, परमातम ज्ञानी अविरुद्ध ॥३६
बन्ध मोक्ष ये दोई तत्त्व, है भ्रम अभ्रम कारण तत्व।
बंध जान पर संगति दोष, भेद ज्ञानतें उपजे मोक्ष ॥३७
चरन अलौकिक ज्ञानी तनों, अद्भुत कापै जातसु भनों।
अज्ञानी जिहि बांधे कर्म, तहँ ज्ञानी साधे शिव शर्म ॥३८
जो भव वनमें भ्रमत अत्यंत, मैं पूरव दुख लहो अनंत।
सो निजपरको भेद विज्ञान, पाये विन यह निश्चय जान॥३
जो मैं ज्ञान प्रदीपक सार, लोकालोक प्रकाशन हार।
तो क्यों जगवासी जन दीन, डूबे भव कर्दममें हीन ॥४
निजमें निजकर आपस्वरूप, अनुभव करिये सदा अनूप।
तातेनिज को जानन हेत, परमें विफल प्रयास समेत ॥४१
सो ही मैं मैं सो ही शुद्ध; इम अभ्यासत सदा सुबुद्ध।

कर विकल्प वासना तास, पावे आप आपमें वास ॥४२
करत अज्ञानी जहँ जहँ प्रीत, सो सो आपद धाम सभीत।
जा पद ते पुनि यह डर खाय, निजानंद मन्दिर सो आय ॥४३
इंद्रिय चपल चित्तको रोक, होय प्रसन्न अनुभवी लोक।
ततक्षण स्वसंवेद्य चिद्रूप, भासै सो परमेष्ठि स्वरूप ॥४४
जो सिद्धातम मैं हूँ सोय, जो मैं सो परमेश्वर होय।
मों को पर न उपासन जोग, पर कर मैं न उपासन योग ॥४५
करण विषय हरिमुखतें खेंच निजको निजकर विन भ्रम पेंच।
मैं निजमें थिर भयो अटल्ल, चिदानंदमय विषै असल्ल ॥४६
यम प्रकार तनतें जो भिन्न, लखै न भ्रम विन चेतन चिह्न।
सो अति तीव्र कोटि तप करै, तो भी तसु विधि बंधन झरै॥४७
जो आपा पर भेद विज्ञान, सुधापान आनन्दित वान।
देहिजनित क्लेशनते सोय, तपमें खेद खिन्न नहिं होय ॥४८
रागादिक कलंकको धोय, जाको चित अति निर्मल होय।
सो ही लखै आपकों आप अन्य हेतु है नाहिं कदापि ॥४९
तत्वरूप निर्विकल्पचित्त, सहित विकल्प अतत्व सुमित्त।
तातैं तत्वसिद्धिके अर्थ, निर्विकल्पचित करहु समर्थ ॥५०
जो निज चित्त अज्ञान समेत, सो नाहीं निज अनुभव हेत।
सो ही ज्ञान वासनालीन, लखै परमपद आप प्रवीन ॥५१
जो मन होय मोहमें मग्न, चंचल रागादिकतें भग्न।
तो मुनि सो मन निजमें थाप, ततक्षण हनें राग संताप॥५२

मूरख प्रीति धाम तन जोय, तातैं भिन्न सुबुद्धिते होय।
चिदानंद सागरमें मग्न, करे रागसंतति सब भग्न ॥५३
निज भ्रमते उपजो दुख जोय, सो सुज्ञान ही ते चय होय।
जो निज ज्ञान रहित जन दीन, ते तपहू तें करे न छीन ॥५४
बल रूपायु धनादिक तनी, प्राप्ती चहे अज्ञानी घनीं।
ज्ञानी तिनते विरकत दशा, चाहत प्रगट आपमें वसा ॥५५
परमें अहं बुद्धि कर रूढ़, निजको बांधे निजच्युत मूढ।
आप माहिं आपा बुधि धार, ज्ञानी करहि बंध विध छार ॥५६
सहित त्रिलिंग देह मूर्तीक, ताहि अजान माने आत्मीक।
ज्ञानी पुनि माने निज रूप, लिंग संग वर्जित चिद्रूप ॥५७
अभ्यासे जानो पुन ठीक, निर्णय कियो तत्त्व आत्मीक।
सो अनादि भ्रमकारण पाय, मुनिहू के जु स्खलित हो जाय ॥५८
जो दिखाय सो चेतनो नाहिं, चेतन नहि आवे द्रग माहिं।
तातें विफल अन्य रागादि, ध्याऊँ मैं स्वरूप आल्हादि ॥५९
त्यजन ग्रहण बाहिज सठ करैं, ज्ञानी अन्तरतें अनुसरैं।
त्यजन ग्रहण बहिरंतर दोय, शुद्धातम न करै कछु सोय ॥६०
वचन कायते न्यारा जान, मनसे करै आत्म का ध्यान।
वचन देहसे कारज और, करै नहीं पुनि मनसे दौर ॥६१
अज्ञानी जनको संसार, भासै सुख प्रतीत भंडार।
तिनहि कहाँ सुख कहा विश्वास, भासै जिन पायो निज वास ॥६२
निजविवेकबिन अन्य विचार, ज्ञानी करै न छिन मन मार।

जो विवेक कछु कारज करै, सो वच तनतें विन आदरै ॥६३
अक्षविषय मय जो मूर्तीक, सो स्वरूपते पर यह ठीक।
निजानंद निर्भय चैतन्य, जोतिमई मम रूप न अन्य ॥६४
अन्तर दुख बाहिज सुख तिन्है योगाभ्यास उद्यमी जने।
इनते उल्टी तिनकी चाल, निज पायो निज योग रसाल॥६५
सो जाने सोई उच्चरे, सोई सुने ध्यान तसु धरै।
जातैं होय भरम तम नाश, पावे आप आपमें वास ॥६६
विषयनमें कछु नाहीं सोय, जाते स्वहित जीवके होय।
तो पुनि प्रीति करै तिन माहिं, अज्ञानी उर समता नाहिं॥६७
भल्यो भी विन भाखो जेम, मूरख तत्त्व न जाने केम।
तातैं पर समझावन काज, उद्यम वृथा हमारे साज ॥६८
जो उपदेश नहीं मैं सोय, मो स्वरूप पर ग्राह्य न होय।
ताते पर संबोधन तनों, आग्रह वृथा हमारो भनो ॥६९
अज्ञानी अन्तर द्रग बिना, परमें तुष्ट होत निशदिना।
रहित बाह्य भ्रम ज्ञानी जीव, तुष्ट आपमें आप सदीव ॥७०
यावत मन वच तनमें धार, आत्मबुद्धि तावत संसार।
इनतें भेदज्ञान जब करै, तब ही संसारार्णव तरै ॥७१
जीरन रक्त पुष्ट सुच जोय, वस्त्र होत जिमि पुरुष न होय।
त्यों जीर्णादि होत वपु रूप, नहि पुन आतम चिद गुन भूप॥७२
चल भी अचल तुल्य भासंत, जाके ज्ञान माहिं अत्यन्त।
ज्ञान योग चालत बिन सोय, शिवपद पावै निश्चयहोय॥७३

औदारिक तैजस कार्माण, इन त्रय लखैं रूप निज ज्ञान।
जोलों भिन्न न जानो सोय, तोलों बंध अभाव न होय ॥७४
पूरन गलन स्वभावी अणू, तिन बहु स्कन्ध रचित सब तनू।
ताहि अनादि भरमते मूढ़, जाने तत्व न आगम गूढ़ ॥७५
नियत लहे मुनि सो शिव धाम, जाकी थिति ध्रुव आतम राम।
ताको मुक्ति न कबहुँ होय जाको आतम थिति नहिं जोय ॥७६
मृदु कठोर थिर दीरघ थूल, जीरण शीरण लघु गुरु थूल।
इमं तन रूप लखै सठ आप, लखत न आतम ज्ञानकलाप ।७७
लौकिक जन संगतें वच कहे, चपल चित्त तहं मनभ्रम वहे।
ताते ज्ञानीजन सर्वंग, त्यागो लौकिक जन परसंग ॥७८
नग्र कंदर पुर मन्दिर बीच, निज २ राज होय जन दीच।
ज्ञानी सर्व अवस्था विषैं, जिन निवास निज ही में दिखै ॥७९
देह माहि जो आतम आन, तन संततिको कारण जान।
जो चिद गुणमें निज बुध सोय, तन संतति नाशन मलधोय ॥८०
निज कर निजको बंधन करै, निज ही निजको शिव सुख भरे।
तातें आप आपको होय, रिपु गुरु, अन्य नहीं पुन कोय ।८१
जान आपते न्यारी काय, तनते भिन्न लखैं चिद्राय।
तब निर्मल होय त्यागे अंग, जैसे वस्त्र विनाशन रंग ॥८२
अन्तरंग निजरूप निहार, पुन शरीरको बाह्य विचार।
तिनके भेद ज्ञानमें मग्न, तिगै सो निज निश्चय निज लग्न ॥८३
जिनके निकट लागो निजनन्द, अगम लगे ते जगके फिंद।

तातें जब शांतामृत चखे, लोष्ठ समान भाखे तब सबै ॥८४
तनते भिन्नहि आतमराम, जो यै सुनतं कहत बसु जाम ।
तो पै तन ममत्व नहि तजै, यावत भेदज्ञान नहि भजै ॥८५
तनसे भिन्न जान निजरूप, ऐसे अनुभव करहु अनूप ।
जैसे फेरहु स्वप्नेमाहिं, तनमें निजमति उपजे नाहिं ॥८६
किया शुभाशुभ दोई अंध, कारण पुण्य पाप विधि बंध ।
तिन विन निजपरणति शिव हेत, ताते त्यागो क्रिया सुचेत ॥८७
प्रथम असंयम त्यागहु बुद्ध, संयम चरण होय तब शुद्ध ।
फिर स्वरूपको पाय अनल्प, त्यागे संयम चरण विकल्प॥८८
जातलिंग मुनि श्रावकद्वंद, देहाश्रित वरते भ्रम इंद ।
तनु संतति भव ताते मुनी, द्रव्यलिंगमें ममता धुनि॥८९
पंगुल अंध कंध आरूढ़, सनयन ताहि लखै जिमि मूढ़ ।
त्यों सठ आतमके संयोग, अंगमाहि जाने उपयोग ॥९०
पंगुल नेत्र अंधके माहिं, लखे भेद ज्ञानी जिमि नाहिं ।
त्यों ज्ञानी तनमें निज ज्ञान, जाने नाहिं भिन्न पहिचान॥९१
मत्तोन्मत्त अवस्था वीच, भूले निज स्वरूप जिमि चनी ।
त्यों ज्ञानी कहुँ भूलै नाहिं, आपा सकल अवस्थामाहिं ॥९२
वहिरातम जन मोक्ष न लहै, जो पै जगै पाठ श्रुत कहै ।
ज्ञानी सुप्त तथा उन्मत्त, शिव पावे जाने जो तत्व ॥९३
आप आपको सिद्धस्वरूप, आराधे हुव सिद्ध अनूप ।
वाती ज्यों दीपकको पाय, अपहि दीपरूप हो जाय ॥९४

आप आप ही को आराधि, होय परम आतम निरुपाधि।
घिसत बांस आपको जेम, अग्निस्वरूप होय यह नेम ॥९५
ऐसे बचन अगोचररूप, जो अनुभवै परम गुण भूप।
पावै अचल सिद्धपद सोय, जहं ते फेर खलित नहिं होय ॥९६
जो यह आतम आपा माहिं, चाहे ज्ञान मात्र पर नहिं।
तो विन जतन परम पद धनी, ज्ञानी होय नियत हम मनी ॥९७
स्वप्नेमें निज मरनो वृथा, माने मूढ़ भरमतें यथा।
त्यों जाग्रत निज माने नाश, निश्चय आप परम गुण राश॥९८
अगोचर वैन, मूरत विन कल्पना न एन।
चिदानंदमय जान सुजान, निजमें कर निज सो गुनवान ॥९९
आगम ज्ञानी शिव नहि लहै, जो तनमें आतम बुधि वहै।
आतममें आतम बुधि जास. तो श्रुत शून्य लहै शिव वास ॥१००
पराधीन सुख स्वाद विरक्त, जो तू होय स्वरूपासक्त।
तो तू ही अखंड सुखरूप, आप अनुभवै चेतन भूप ॥१०१
जो अभ्यासै सुखतें ज्ञान, दुख कर सो नश जाय निदान।
दुख कारणमें तत्पर होय, तातै मु न स्वरूप निज लोय ॥१०२

गीताछन्द।

अखिल भुवन पदार्थ अब प्रकाशनेक प्रदीप है।
आनंद सीमारूढ़ आप उपाधिके न समीप है ॥
परम साधु-सुबुद्धि लखवे जोग्यका पर्यन्त है।
इम शुद्ध निज कर निज विलोकहु जो सदा जयवंत है ॥१०२

यह ध्येय साधारण कहो, धर्म शुक्ल सुध्यानकों ।
तिन शुद्ध स्वामि विशेष जानो देख सूत्र बखानकों ॥
अधिकार शुद्धोपयोगरूप विचार यह निज हित भनों ।
कछु भागचंद विचारके अनुसार ज्ञानार्णव तनों ॥१०४॥

❀ इति ❀

श्रीमद्राजचन्द्रकृत श्रीआत्मसिद्धिशास्त्र के कतिपय पद ।

(श्री सद्गुरुचरणाय नमः)

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत ।
समजाव्युं[1] ते पद नमुं, श्रीसद्गुरु भगवंत ॥ १ ॥
वर्त्तमान आ कालमां[2], मोक्षमार्ग बहु लोप ।
विचारवा आत्मार्थिने[3], भाख्यो अत्र अगोप्य[4] ॥ २ ॥
कोई क्रियाजड़ थइ रह्या[5], शुष्कज्ञानमां कोई ।
माने मारग मोक्षनो[6], करुणा उपजे जोइ[7] ॥ ३ ॥
बाह्य क्रियामां राचतां, अंतर्भेद न कांइ[8] ।
ज्ञानमार्ग निषेधतां, तेह[9] क्रियाजड़ आंहिं[10] ॥ ४ ॥

---

१. समझाया । २. इस वर्तमानकालमें । ३. आत्मार्थी जीवोंके विचारने के लिये । ४. स्पष्टरूपसे । ५. हैं । ६. मोक्षका । ७. देखकर । ८. कोई । ९. वे । १०. यहाँ ।

बंध मोक्ष छे[1] कल्पना, भाखे वाणीमांहि ।
वर्त्ते मोहावेशमां[2] शुष्कज्ञानी ते आंहि ॥ ५ ॥
वैराग्यादि सफल तो, जो सह आतमज्ञान ।
तेम[3] ज आतमज्ञाननी, प्राप्तितणां[4] निदान ॥ ६ ॥
त्याग विराग न चित्तमां, थाय[5] न तेने[6] ज्ञान ।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान ॥ ७ ॥
ज्यां[7] ज्यां जे[8] योग्य छे, तहाँ समजवु तेह ।
त्यां[9] त्यां ते[10] ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥८॥
सेवे सद्गुरु चरणने, त्यागी दई निजपक्ष ।
पामे[11] ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष ॥ ९ ॥
आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग ।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरुलक्षण योग्य ॥ १० ॥
प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार ।
एवो लक्ष थया[12] विना, उगे न आत्मविचार ॥११॥
सद्गुरुना उपदेशवण[13], समजाय न जिनरूप ।
समज्यावण उपकार शो[14] ? समज्ये जिनस्वरूप॥१२॥
आत्मादि अस्तित्वनां, जेह निरूपक शास्त्र ।
प्रत्यक्ष सद्गुरुयोग नहीं, त्यां आधार सुपात्र ॥१३॥

---

१. है । २ मोहके आवेशमें । ३. वे । ४ प्राप्तिके । ५. होता । ६. उसे । ७ जहाँ । ८. जो । ९. तहां । १०. उसे । ११. पाता है । १२. हुए । १३. उपदेशके विना । १४. क्या ? ।

अथवा सद्गुरुए[1] कह्यां, जे अवगाहन काज।
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज ॥ १४ ॥
रोके जीव स्वछंद तो, पामे अवश्य मोक्ष।
पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष ॥१५॥
प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगथी, स्वछंद ते रोकाय।
अन्य उपाय कर्या थकी[2], प्राये बमणो[3] थाय॥१६॥
स्वच्छंद मत आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी[4] प्रत्यक्ष ॥१७॥
मानादिक शत्रु महा, निजछंदे न मराय[5]।
जातां सद्गुरुशरणमां, अल्प प्रयासे जाय ॥१८॥
होय मतार्थी तेहने, थाय न आतमलक्ष।
तेह मतार्थिलक्षणो, अहीं[6] कह्यां निर्पक्ष ॥ १९ ॥
बाह्य त्याग पण[7] ज्ञान नहीं, ते माने गुरु सत्य।
अथवा निजकुलधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व ॥२०॥
जे जिनदेहप्रमाणने, समवसरणादि सिद्धि।
वर्णन समजे जिननुं, रोकी रहे निजबुद्धि ॥ २१ ॥
प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां, वर्त्ते दृष्टि विमुख।
असद्गुरुने दृढ करे निजमानार्थे[8] मुख्य ॥ २२ ॥

---

१. सद्गुरुने। २ करने पर भी। ३. दुगुना। ४. गिनकर (समझकर) ५. अपनी चतुराईसे चलनेसे नाश नही होते। ६. यहाँ। ७. परंतु। ८. अपने मानको।

देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान ।
माने निज मतवेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान ॥ २३ ॥
लह्यं स्वरूप न वृत्तिनु, ग्रह्यु व्रत अभिमान ।
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान ॥ २४ ॥
अथवा निश्चयनय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय ।
लोपे सद्‌व्यवहारने, साधनरहित थाय ॥ २५ ॥
ज्ञानदशा पाम्यो नहीं, साधनदशा न कांइ ।
पामे तेनो संग जे, ते बुडे[1] भव मांहि ॥ २६ ॥
ए पण जीव मतार्थमां, निजमानादि काज ।
पामे नहीं परमार्थने, अनअधिकारिमां ज[2] ॥ २७ ॥
नहीं कषाय उपशांतता, नहीं अंतर्वैराग्य ।
सरलपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य ॥२८॥
लक्षण कह्यां मतार्थीनां, मतार्थ जावा[3] काज ।
हवे[4] कहुं आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥२९॥
आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय ।
बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय ॥३०॥
प्रत्यक्ष सद्‌गुरुप्राप्तिनो, गणे[5] परम उपकार ।
त्रणे योग एकत्वथी[6], वर्ते आज्ञाधार ॥ ३१ ॥

---

१. डूब जाता है । २. अनधिकारी (ज्ञान प्रवेश होने योग्य नहीं) जीवोमें गिना जाता है । ३. दूर करनेके लिये । ४. अब । ५. समझता है । ६. मन, वचन और कायाकी एकतासे ।

एक होय त्रण कालमां, परमारथनो पंथ ।
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत[1] ॥ ३२ ॥
एम विचारी अंतरे, शोधे सद्गुरुयोग ।
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहिं मनरोग ॥ ३३ ॥
कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष ।
भवे खेद[2] प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥३४॥
दशा न एवी[3] ज्यांसुधी[4], जीव लहे नहिं जोग्य ।
मोक्षमार्ग पामे नहीं, मटे न अंतरोग ॥ ३५ ॥
आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय ।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥ ३६ ॥
ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान ।
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण ॥ ३७ ॥
उपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय ।
गुरुशिष्यसंवादथी[5], भाखुं षट्पद आंहिं ॥ ३८ ॥

षट्पदनामकथन—

आत्मा छे, ते नित्य छे, छे कर्ता निजकर्म ।
छे भोक्ता, वली मोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म ॥३९॥
षट्स्थानक संक्षेपमां षट्दर्शन पण तेह ।

---

१. मान्य रखना चाहिए। २. संसारसे वैराग्य। ३. ऐसी।
४. जबतक। ५. गुरु शिष्यके संवादरूपमें।

समजावा[1] परमार्थने, कह्यां ज्ञानीए एह ॥ ४० ॥

१ शंका-शिष्य उवाच—

नथी[2] दृष्टिमां आवतो, नथी जणातुं रूप ।
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीवस्वरूप ॥४१॥
अथवा देह ज आतमा, अथवा इन्द्रिय प्राण ।
मिथ्या जूदो[3] मानवो, नहीं जूदुं एंधाण[4] ॥ ४२ ॥
वली जो आतमा होय तो, जणाय ते नहीं केम[5] ।
जणाय जो ते होय तो, घटपट आदि जेम[6] ॥४३॥
माटे[7] छे नहीं आतमा, मिथ्या मोक्षउपाय ।
ए अंतर शंकातणो, समजावो सदुपाय ॥ ४४ ॥

समाधान-सद्गुरु उवाच—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्माका अस्तित्व है:—

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान ।
पण ते बन्ने[8] भिन्न छे, प्रगटलक्षणे भान ॥ ४५ ॥
भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥ ४६ ॥
जे दृष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप ।
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥ ४७ ॥

---

१. समझनेके लिये । २. नहीं । ३. भिन्न । ४. भिन्न चिह्न दिखाई नहीं देता । ५. वह मालूम क्यों नहीं होती ? ६. जैसे । ७. अतएव । ८. दोनों ।

छे इन्द्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनुं ज्ञान।
पाँच इन्द्रिना विषयनुं, पण आत्माने भाण ॥४८॥
देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्रिय प्राण।
आत्मानी सत्तावडे[१], तेह प्रवर्ते जाण ॥ ४९ ॥
सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय।
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एंधाणे सदाय ॥ ५० ॥
घट पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान।
जाणनार[२] ते मान नहीं, कहिये केवुं ज्ञान? ॥ ५१ ॥
परमबुद्धि कृष देहमां स्थूल देह मति अल्प।
देह होय जो आतमा, घटे न आम विकल्प ॥५२॥
जड़ चेतननो भिन्न छे, केवल प्रगट स्वभाव।
एक पणुं पामे नहीं, त्रणे[३] काल द्वय भाव ॥५३॥
आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते[४] आप।
शंकानो[५] करनार[६] ते, अचरज एह अमाप[७] ॥५४॥

२ शङ्का–शिष्य उवाच—

शिष्य-कहता है कि आत्मा नित्य नही है:—

आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार।
संभव तेनो थाय छे, अंतर् कर्ये विचार[८] ॥ ५५ ॥

१. सत्तासे ही। २. जानने वाला। ३. तीनो। ४. स्वयं। ५. शंकाका। ६. करने वाला। ७. असीम। ८. अतरंगमें विचार करने से।

बीजी[1] शंका थाय त्यां, आत्मा नहीं अविनाश।
देहयोगथी[2] ऊपजे, देहवियोगे नाश ॥ ५६ ॥
अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय।
ए अनुभवथी पण नहीं आत्मा नित्य जणाय ॥५७॥

समाधान—सद्गुरु उवाच—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्मा नित्य है:—

देह मात्र संयोग छे, वली जडरूपी दृश्य।
चेतननां उत्पत्ति लय[3], कोना[4] अनुभव वश्य[5]? ॥५८॥
जेना[6] अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लयनुं[7] ज्ञान।
ते तेथी जूदा विना, थाय न केमें[8] भान ॥५९॥
जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभव दृश्य।
उपजे नहीं संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥६०॥
जडथी चेतन ऊपजे, चेतनथी जड थाय।
एवो अनुभव कोईने[9], क्यारे कदी[10] न थाय ॥६१॥
कोइ संयोगोथी नहीं, जेनी[11] उत्पत्ति थाय।
नाश न तेनो[12] कोईमां[13], तेथी नित्य सदाय ॥६२॥
क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय।

१. दूसरी। २. देहके संयोगसे। ३. उत्पत्ति और नाश। ४. किसके। ५. आधीन। ६. जिसके। ७. नाशका। ८. किसीके भी। ९. किसीको। १०. कभी भी। ११. जिसकी। १२. उसका। १३. किसीके साथ।

पूर्वजन्म-संस्कारं ते, जीव नित्यता त्यांय ॥ ६३ ॥
आत्मा द्रव्ये नित्य छे;, पर्याये पलटाय ।
बालादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय ॥ ६४ ॥
अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणी वदनार[1] ।
वदनारो ते क्षणिक नहीं; कर अनुभव निर्धार ॥६५॥
क्यारे कोई वस्तुनो; केवल[2] होय न नाश ।
चेतन पामे नाश तो, केमां[3] भले तपास[4] ॥ ६६ ॥

३ शंका-शिष्य उवाच: —

शिष्य कहता है कि आत्मा कर्मका कर्त्ता नहीं है:—

कर्त्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्त्ता कर्म ।
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म ॥६७॥
आत्मा सदा असंगने, करे प्रकृति बंध ।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबंध ॥ ६८ ॥
माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय ।
कर्मतणुं कर्त्तापणुं, कां नहीं कां नहीं जाय ॥६९॥

समाधान-सद्गुरु उवाच:-

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्मा कर्मका कर्त्ता किस तरह है—

होय न चेतन प्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ?
जड़स्वभाव नहीं प्रेरणा, जुओ विचारी धर्म[5] ॥७०॥

१. जानने वाला । २. सर्वथा । ३. किसमें; किस प्रकारके । ४. खोज कर । ५. जड़ और चेतन दोनोंके धर्मोंको विचार करके देखो ।

जो चेतन करतुं नथी, थतां नथी तो कर्म ।
तेथी सहज स्वभाव नहीं, तेमज नहीं जीवधर्म ॥७१॥
केवल होत असंग जो, भासत तने न केम ?
असंग छे परमार्थथी, पण निजभाने तेम ॥ ७२ ॥
कर्त्ता ईश्वरको नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव ।
अथवा प्रेरक ते गणये, ईश्वर दोषप्रभाव ॥ ७३ ॥
चेतन जो निजभानमां, कर्त्ता आप स्वभाव ।
वर्त्ते नहीं निजभानमां, कर्त्ता कर्मप्रभाव ॥ ७४ ॥

४ शङ्का—शिष्य उवाच:—

जीव कर्मकर्त्ता कहो, पण भोक्ता नहीं सोय ।
शुं समजे जड़ कर्मके, फलपरिणामी[1] होय ? ॥७५॥
फलदाता ईश्वर गणये, भोक्तापणुं सधाय ।
एम कहे ईश्वरतणुं[2], ईश्वरपणुं[3] ज जाय ॥७६॥
ईश्वर सिद्ध थया विना, जगत् नियम नहीं होय ।
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहीं कोय ॥७७॥

समाधान—सद्गुरु उवाच:—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि जीव अपने किये हुए कर्मको भोगता है—

भावकर्म निजकल्पना[4], माटे चेतनरूप ।
जीववीर्यनी स्फुरणा, ग्रहण करे जडधूप ॥ ७८ ॥

१.फल देनेकी शक्ति । २.ईश्वरको । ३ ईश्वरत्व । ४.अपनी भ्रांतिसेही ।

झेर सुधा[1] समजे नहीं, जीव खाय फल थाय।
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ॥ ७९ ॥
एक रांकने एक नृप, ए आदि जे भेद।
कारण विना न कार्य ते, ए ज शुभाशुभ वेद्य ॥८०॥
फलदाता ईश्वरतणी, एमां नथी जरूर।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर ॥ ८१ ॥
ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव।
गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव ॥ ८२ ॥

शङ्का—शिष्य उवाच:—

शिष्य कहता है कि जीवको उस कर्मसे मोक्ष नहीं है.—

कर्त्ता भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहीं मोक्ष।
वीत्यो काल अनंत पण, वर्त्तमान छे दोष ॥ ८३ ॥
शुभ करे फल भोगवे, देवादि गति मांय।
अशुभ करे नरकादि फल, कर्मरहित न क्यांय[2] ॥८४॥
जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफल प्रमाण।
तेम निवृत्ति सफलता, माटे मोक्ष सुजाण ॥ ८५ ॥
वीत्यो काल अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव।
तेह शुभाशुभ छेदतां, उपजे मोक्ष सुभाव ॥ ८६ ॥
देहादि संयोगनो, आत्यंतिक वियोग।
सिद्ध मोक्ष शाश्वतपदे, निज अनंत सुखभोग ॥८७॥

१. जहर और अमृत। २. किसीभी जगह।

६ शङ्का-शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि मोक्षका उपाय नहीं है:—

होय कदापि मोक्षपद, नहीं अविरोध उपाय।
कर्मों काल अनंतनां, शाथी[1] छेद्यां जाय? ॥८८॥
अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक।
तेमां मत साचो कयो[2]? बने न एह विवेक ॥८९॥
तेथी एम जणाय छे, मले[3] न मोक्ष-उपाय।
जीवादि जाण्यातणो[4], शो उपकार ज थाय[5]॥९०॥
पांचे उत्तरथी थयुं[6], समाधान सर्वांग।
समजुं मोक्ष-उपाय तो, उदय उदय सद्भाग(ग्य)॥९१॥

समाधान-सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि मोक्षका उपाय है:—

पांचे उत्तरनी थई, आत्मा विषे प्रतीत।
थाशे[7] मोक्षोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत ॥ ९२ ॥
कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास[8]।
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञानप्रकाश ॥ ९३ ॥
जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ।
ते कारण छेदक दशा, मोक्षपंथ भवअंत ॥ ९४ ॥

---

१. कैसे। २. कौनसा। ३. प्राप्त होता है। ४. जानने से भी। ५. हो सकता है। ६. जो पांच उत्तर कहे हैं। ७. इसी तरह। ८. आत्मस्वरूपमें स्थित होना।

राग द्वेष अज्ञान ए; मुख्य कर्मनी ग्रंथ ।
थाय निवृत्ति जेहथी[1], ते ज मोक्षनो पंथ ॥ ९५ ॥
आत्मा सत् चैतन्यमय; सर्वाभासरहित ।
जेथी केवल पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥ ९६ ॥
कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ ।
तेमां मुख्ये मोहिनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥ ९७ ॥
कर्म मोहनीय भेद बे[2], दर्शन चारित्र नाम ।
हणे बोध वीतरागता; अचूक उपाय आम ॥ ९८ ॥
कर्मबंध क्रोधादिथी; हणे क्षमादिक तेह ।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो सन्देह[3]? ॥ ९९ ॥
छोड़ी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प ।
कह्यो मार्ग आ साधशे[4], जन्म तेहना अल्प ॥१००॥
षट्पदना षट्प्रश्न तें; पूछ्यां करी विचार ।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥१०१॥
कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष ।
भवे खेद[5] अंतर दया, ते कहिये जिज्ञास ॥१०२॥
तें जिज्ञासु जीवनें, थाय सद्गुरुबोध ।
तो पामे समकीतनें[6], वर्त्ते अंतशोध ॥१०३॥

---

१. जिससे। २ दो। ३. तो इसमें फिर क्या संदेह करना ? ४. साधन करेगा। ५. संसारके भोगोंके प्रति उदासीनता। ६. तो वह समकितको पा जाता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष ।
लहे शुद्ध समकीत ते, जेमां भेद न पक्ष ॥१०४॥
वर्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत ।
वृत्ति वहे[1] निजभावमां, परमार्थे समकीत ॥१०५॥
वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास ।
उदय थाय चारित्रनो[2] वीतरागपद वास ॥१०६॥
केवल निजस्वभावनुं अखंड वर्ते ज्ञान ।
कहिये केवलज्ञान ते, देह छतां[3] निर्वाण ॥१०७॥
कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय[4] ।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय॥१०८॥
छूटे देहाध्यास[5] तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म ।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज[6] धर्मनो मर्म ॥१०९॥
एज[7] धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप ।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥११०॥
शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंजोति सुखधाम ।
बीजुं कहिये केटलुं[8]? कर विचार तो पाम[9]॥१११॥

---

१. प्रवाहित होती है। २. स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका। ३. देहके विद्यमान रहनेपर भी (अर्हंत दशारूप मोक्ष) ४. जाग्रत होने पर तुरत ही शांत हो जाता है। ५. देह मे आत्मबुद्धि। ६. यही। ७. इसी। ८. अधिक कितना कहे? ९. पावेगा।

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र शमाय[1] ।
धरी मौनता एम कही, सहजसमाधि मांय ॥११२॥

शिष्य-बोधबीज-प्राप्ति कथनः—

अब सद्गुरु आत्मज्ञानकी प्राप्तिके मूलकारणका वर्णन करते है—

सद्गुरुना उपदेशथी, आव्यु[2] अपूर्व भान ।
निजपद निज मांही लह्युं, दूर थयु[3] अज्ञान ॥११३॥
भास्युं निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप ।
अजर अमर अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप ॥११४॥
कर्त्ता भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्त्ते ज्यांय[4] ।
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्त्ता त्यांय[5] ॥११५॥
अथवा निजपरिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप ।
कर्त्ता भोक्ता तेहनो, निर्विकल्पस्वरूप ॥११६॥
मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ ।
समजाव्यो संक्षेपमां, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ ॥११७॥
अहो ! अहो ! श्रीसद्गुरु, करुणासिंधु अपार ।
आ पामरपर प्रभु कर्यो, अहो ! अहो ! उपकार ॥११८॥
शुं प्रभु चरणकने धरूं[6] ! आत्माथी सौ हीन[7] ।
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तु चरणाधीन ॥११९॥

१. इसीमें आकर समा जाता है । २ हुआ । ३. दूर हो गया । ४. जहाँ । ५. तहाँ । ६. मैं प्रभुके चरणोंके समक्ष क्या रक्खूं ? ७. वे सब आत्माकी अपेक्षासे तो मूल्यहीन ही हैं ।

आ देहादि आजथी[1] वर्त्तो प्रभुआधीन।
दास दास हुँ दास छुं, तेह प्रभुनो दीन ॥१२०॥
षट् स्थानक समजावीने, भिन्न बताव्यो आप।
म्यानथकी तरवारवत्[2], ए उपकार अमाप[3] ॥१२१॥

परमपद-प्राप्तिकी भावना

(अन्तर्गत)

अपूर्व अवसर (श्रीमद्राजचन्द्र विरचित)

अपूर्व अवसर एवो[1] क्यारे[2] आवशे[3] ? क्यारे थइशु[4] बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो ? सर्व संबंधनु[5] बंधन तिक्ष्ण छेदीने,[6] विचरशु[7] कब महत्पुरुषने पंथ जो ? अपूर्व० ॥ १ ॥

सर्व भावथी[8] औदासीन्यवृत्ति करी, मात्र देह ते[9] संयमहेतु होय जो; अन्य कारणे[10] अन्य कशुं[11] कल्पे नहीं, देहे पण[12] किंचित् मूर्छा नव[13] जोय[14] जो। अपूर्व० ॥२॥

दर्शनमोह व्यतीत थई[15] उपज्यो बोध जे, देह भिन्न

---

१. इस देहादि शब्दसे जो कुछ मेरा माना जाता है। २. तलवारके समान। ३. असीम।

१. ऐसा। २. कब। ३. आवेगा। ४. होवूंगा। ५. संबधका ६. छेदकर। ७. विचरण करूंगा। ८. भावोंसे। ९. भी। १० कारणसे। ११. कुछ भी। १२. भी। १३. नहीं। १४. रहे। १५. होने से।

केवल चैतन्यनुं[1] ज्ञान जो; तेथी[2] प्रक्षीण चारितमोह विलोकिये, वर्त्ते एवुं[3] शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो। अपूर्व० ॥३॥

आत्मस्थिरता त्रण[4] संक्षिप्त योगनी, मुख्यपणे तो वर्त्ते देहपर्यंत जो; घोर परिषह के उपसर्गभये करी, आवी शके नहीं ते[5] स्थिरतानो अंत जो। अपूर्व० ॥ ४ ॥

संयमना हेतुथी[6] योगप्रवर्त्तना, स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो; ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां[7], अंते थाये[8] निजस्वरूपमां लीन जो। अपूर्व० ॥ ५ ॥

पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता, पंच प्रमादे न मले[9] मननो क्षोभ जो; द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव प्रतिबंधवण,[10] विचरवुं उदयाधीनपण वीतलोभ[11] जो। अपूर्व० ॥ ६ ॥

क्रोधप्रत्ये[12] तो वर्त्ते क्रोधस्वभावता, मानप्रत्ये तो दीनपणानुं[13] मान जो; मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी, लोभप्रत्ये नहीं लोभ समान जो। अपूर्व० ॥ ७ ॥

बहु उपसर्ग-कर्त्ताप्रत्ये[14] पण क्रोध नहीं, वंदे चक्रि तथापि न मले मान जो; देह जाय पण माया थाय[15] न रोममां, लोभ नहीं छो[16] प्रबल सिद्धि निदान जो। अ०॥८॥

---

१. चैतन्यका। २. उससे। ३. ऐसा। ४. तीनों। ५. उस। ६. हेतुसे। ७. स्थितिमें। ८. होवे। ९. होवे। १०. प्रतिबंध बिना ही। ११. लोभरहित। १२. क्रोधके प्रति। १३. सरलपनेका। १४. उपसर्ग करनेवालेके प्रति। १५. होवे। १६. है।

नग्नभाव, मुंडभाव सह अस्नानता, अंदतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो; केश, रोम, नख के अंगे[1] शृङ्गार नहीं, द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो। अपूर्व० ॥ ९ ॥

शत्रु मित्रप्रत्ये वर्त्ते समदर्शिता, मान अमाने वर्त्ते ते ज स्वभाव जो; जीवितके मरणे नहीं न्यूनाधिकता, भव[2] मोत्ते पण शुद्ध वर्त्ते समभाव जो। अपूर्व० ॥ १० ॥

एकाकी विचरतो वली स्मशानमां, वली पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो; अडोल आसन, ने[3] मनमां नहीं चोभता, परम मित्रनो जाणे पाम्या[4] योग जो। अपूर्व० ॥ ११ ॥

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं, सरस[5] अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो; रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी[6], सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो। अपूर्व० ॥१२॥

एम[7] पराजय करीने[8] चारितमोहनो, आवुं त्यां[9] ज्यां[10] करण अपूर्व भाव जो, श्रेणी चपकतणी करीने[11] आरूढता, अनन्यचिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो। अपूर्व०॥ १३ ॥

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी[12] स्थिति त्यां ज्यां चीणमोह गुणस्थान जो; अंत समय न्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थइ, प्रगटावुं निज केवलज्ञान निधान जो। अपूर्व०॥१४॥

---

१. शरीरका। २. संसार। ३. से। ४ प्राप्त हुआ। ५. स्वादिष्ट। ६. देवोंकी। ७. इस तरह। ८. करके। ९. वहाँ। १०. जहाँ। ११. आरूढ़ होकर। १२. स्वयंभूरमणरूपी मोहसमुद्रको पार करके।

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां, भवनां[1] बीज-
तणो आत्यंतिक नाश जो; सर्वभाव ज्ञाता दृष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो। अपूर्व० ॥ १५ ॥

वेदनीयादि चार कर्म वर्त्ते जहां, बली सींदरीवत्[2] आकृति
मात्र जो; ते देहायुष्[3] आधीन जेनी[4] स्थिति छे[5], आयुष्
पूर्णे, मटिये[6] दैहिकपात्र जो। अपूर्व० ॥ १६ ॥

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा, छूटे जहाँ सकल
पुद्गल संबंध जो; एवु[7] अयोगि गुणस्थानक त्यां वर्त्तु[8],
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो। अपूर्व० ॥ १७ ॥

एक परमाणु मात्रनी मले न स्पर्शता, पूर्ण कलंकरहित
अडोलस्वरूप जो; शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु, अमूर्त्त सहजपदरूप जो। अपूर्व० ॥ १८ ॥

पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी, ऊर्ध्वगमन सिद्धालय
प्राप्त सुस्थित जो; सादि अनंत अनंत समाधि सुखमां[9],
अनंतदर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो। अपूर्व० ॥ १९ ॥

जे पद श्रीसर्वज्ञे दीठु[10] ज्ञानमां, कही शक्या नहीं पण
ते श्रीभगवान जो; तेह[11] स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं[12] कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो। अपूर्व० ॥२०॥

---

१. संसारके। २. जली हुई रस्सीकी आकृतिके समान।
३. देहकी आयुके। ४ जिसकी। ५. है। ६. नाश हो जाता है।
७. ऐसा। ८. है। ९ समाधिसुखमे। १०. दीखा। ११. उस। १२. क्या।

एह परमपदप्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में, गजावगर[1] ने हाल[2] मनोरथरूप जो; तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो, प्रभुआज्ञाए[3] थाशुं[4] ते[5] ज स्वरूप जो। अपूर्व० ॥ २१ ॥

❀ इति ❀

परमपूज्य आचार्योंके अध्यात्ममय पद्योंका संकलन

श्री कुंदकुंदाचार्य समयसारमें कहते हैं:—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सया रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं वि ॥१॥

अर्थ—मैं एक अकेला हूँ, निश्चयसे शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमई हूँ, सदा अरूपी हूँ तथा अन्य एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥ २ ॥

अर्थ—परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मामें स्थित न होकर जो तप और व्रतको धारण करता है उस सबको श्रीसर्वज्ञदेवने बालतप (अज्ञानतप) और बालव्रत (अज्ञानव्रत) कहा है। क्योंकि ज्ञान विना इन दोनोंसे कर्मोंका बंध होता है।

---

1. शक्ति बिना। 2. इस समय। 3. प्रभुकी आज्ञासे। 4. होऊँ। 5. वह।

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदत्था ।
जाणंति णिच्छयेण दु णय इह परमाणुमित्तमम किंचि ॥३॥

अर्थ—जिन्होंने यथार्थ तत्त्वको नहीं जाना है वे पुरुष व्यवहारके कहे हुए वचनोंको लेकर कहते हैं कि परद्रव्य मेरा है और जो निश्चयकर यथार्थ तत्त्वके ज्ञाता हैं वे कहते हैं कि परमाणुमात्र भी कुछ मेरा नहीं है ।

अण्णदवियेण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो ।
तह्मा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥ ४ ॥

अर्थ—अन्य द्रव्यसे अन्य द्रव्यके गुणका विघात नहीं किया जा सकता । अतः यह सिद्धान्त है कि सभी द्रव्य अपने अपने स्वभावसे उपजते हैं ।

णिंदिदसंथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति वहुगाणि ।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदिय अहं पुणो भणिदो ॥५॥

अर्थ—निंदा व स्तुतिके वचनरूप बहुत प्रकारके पुद्गल परिणमन करते हैं । उनको सुनकर अज्ञानी जीव यह समझता है कि वे वचन मुझे कहे गए ऐसा जान क्रोध करता है तथा खुश होता है ।

पोग्गलदव्वं सदुत्तह परिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो ।
तह्मा ण तुमं भणिदो किंचिवि किं रूससे अवुहो ॥६॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्य शब्दरूप परिणमन होता है यदि

उसका गुण आत्मासे भिन्न है तब वह शब्द तुम्हें कुछ भी नहीं कहा गया। यह अज्ञानी जीव क्यों क्रोध करता है?

विशेष—पुद्गल द्रव्यका गुण शुद्ध आत्माके स्वरूपसे भिन्न जड़रूप है तो फिर इस जीवका क्या बिगड़ा? कुछ भी नहीं बिगड़ा। अतः क्रोध नहीं करना चाहिये।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकायमें कहते हैं:—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥ १ ॥

अर्थ—जिसके परिणामोंमें राग, द्वेष मोह नहीं है और न मन, वचन, कायकी क्रिया है, उसीके परिणाममें शुभ तथा अशुभ भावोंको दग्ध करनेवाली स्वात्मानुभवरूपी ध्यानमई अग्नि पैदा हो जाती है।

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरोवि ॥२॥

अर्थ—जिसके हृदयमें परमाणुमात्र भी (जरासा भी) राग परद्रव्यमें है वह सर्व आगमको जानता हुआ भी अपने आत्माको नहीं जानता है। आत्मा तो सबसे भिन्न एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव है, उसमें रागद्वेष मोहका रंच मात्र भी लेश नहीं है।

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं ।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥ ३ ॥

अर्थ–आत्माके अपने ही रागादि परिणाम होते हैं उनका निमित्त पाकर कर्म पुद्गल अपने स्वभावसे ही आकर कर्मरूप होकर आत्माके प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाह संबंधरूप होकर ठहर जाते हैं, जीव उनको बांधता नहीं है ।

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ॥ ४ ॥

अर्थ–जिसमें सदा ही सुख व दुःखका ज्ञान, हितमें प्रवृत्ति व अहितसे भय नहीं पाया जाता है उसीको मुनियोंने अजीव कहा है ।

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं पि गुरुणं पसत्थरागोत्ति वुच्चंति ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रशस्त या शुभराग (पुण्य) उसको कहते हैं जहाँ अरहंत, सिद्ध व साधुकी भक्ति हो, धर्म साधनका उद्यम हो व गुरुओंकी आज्ञानुसार वर्तन हो ।

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥ ६ ॥

अर्थ–योगके निमित्तसे कर्मवर्गणाओंका ग्रहण होता है, वह योग मन, वचन, कायके द्वारा होता है । अशुद्ध

भावके निमित्तसे कर्मका बंध होता है। वह भाव-रति, राग, द्वेष, मोह सहित होता है।

तह्मा णिव्वुदिकामो रागं सवत्थ कुणदि मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि ॥ ७ ॥

अर्थ–राग मोक्षमार्गमें बाधक है; अतः सर्व इच्छाओंको दूर करके जो समस्त पदार्थों में किंचित् भी राग नहीं करता है वही वीतराग भव्यजीव संसारसागरको तर जाता है।

श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधनामें कहते हैं।

दंसणणाणचरित्तं, तवो य ताणं च होइ सरणं च।
जीवस्स कम्मणासण, हेदुं कम्मे उदिण्णम्मि॥ १ ॥

अर्थ—जीवके कर्मकी उदीरणा या तीव्र उदय होते हुए कर्मके नाश करनेको सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप ही परम शरण हैं और कोई अन्य रक्षक नहीं है।

रोगादिवेदणाओ, वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं।
पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से णिअया ॥२॥

अर्थ—अपने कर्मका फल रोगादि वेदना है उसको भोगते हुए जीवको कोई दुःख दूर नहीं कर सकता। कुटुम्ब परिवारके लोग सामने बैठे देखते रहते हैं तो भी वे कुछ नहीं कर सकते हैं तब और कौन दुख दूर करेगा।

णीया अत्था देहा, दिया य संगा ण कस्स इह होंति।
परलोगं मुयिंणता, जदि वि दइत्तंति ते सुट्ठु ॥ ३ ॥

अर्थ—परलोकको जाते हुए जीवके साथ स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, देहादिक परिग्रह कोई नहीं जाते हैं, यद्यपि इसने उनके साथ बहुत प्रीति करी है तो भी वे निरर्थक हैं, साथ नहीं रहते।

होऊण अरी वि पुणो, मित्तं उवकारकारणा होइ।
पुत्तो वि खणेण अरी, जायदि अवयारकरणेण ॥ ४ ॥

तम्हा ण कोइ कस्सइ, सयणो व जणो व अत्थि संसारे।
कज्जं पडि हुंति जगे, णीया व अरी व जीवाणं ॥५॥

अर्थ—वैरी भी हो, परन्तु यदि उसको उपकार करो, तो मित्र हो जाता है। अपना पुत्र भी अपकार किये जाने-पर क्षणमें अपना शत्रु हो जाता है। अतः इस संसारमें कोई किसीका मित्र व शत्रु नहीं है। स्वारथके वश ही संसारमें मित्र व शत्रु होते हैं।

वयरं रदणेसु जहा, गोसीसं चंदणं च गंधेसु।
वेरुलियं व मणीणं, तह झाणं होइ खवयस्स ॥६॥

अर्थ—जैसे रत्नोंमें हीरा प्रधान है, सुगंध द्रव्योंमे गोसीर चंदन प्रधान है, मणियोंमें वैडूर्यमणि प्रधान है उसी प्रकार साधुके सर्व व्रत व तपोंमें आत्मध्यान प्रधान है।

झाणं कसायपरच,-क्कभए बलवाहणड्ढओ राया ।
परचक्कभए बलवा,-हणड्ढओ होइ जह राया ॥ ७ ॥

अर्थ—जैसे परचक्रके भयसे बलवान वाहनपर चढ़ा हुआ राजा प्रजाकी रक्षा करता है उसी प्रकार कषायरूपी परचक्रके भयसे समताभावरूपी वाहनपर चढ़ा आत्मध्यान-रूपी राजा रक्षा करता है।

णगरस्स जह दुवारं, मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ।
तह जाण सुसम्मत्तं, णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ८ ॥

अर्थ—जैसे नगरकी शोभा द्वारसे है, मुखकी शोभा चक्षुसे है, वृक्षकी स्थिरता मूलसे है उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यकी शोभा सम्यग्दर्शनसे है।

सम्मत्तस्स य लंभो, तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ।
सम्मदंसणलंभो, वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥ ९ ॥
लद्धूण ये तेलोक्कं, परिवडदि परिमिदेण कालेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं, अक्खयसोक्खं लहदि मोक्खं ॥१०॥

अर्थ—एक तरफ सम्यग्दर्शनका लाभ होता हो दूसरी तरफ तीन लोकका राज्य मिलता हो तो तीन लोकके लाभसे सम्यग्दर्शनका लाभ श्रेष्ठ है। तीन लोकका राज्य पा करके भी नियतकाल पीछे वहांसे पतन होगा। और यदि सम्यग्दर्शनका लाभ हो जायेगा तो अविनाशी मोक्षके सुखको पाएगा।

कोहि डहिज्ज जह चं,-दणं णरो दारुगं च बहुमोल्लं ।
णासेइ मणुस्सभवं, पुरिसो तह विसयलोभेण ॥ ११ ॥

अर्थ—जैसे कोई मानव बहुमूल्य चंदनके वृक्षको लकड़ी या ईंधनके लिये जला डाले तैसे ही अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय विषयोंके लोभसे इस मनुष्य भवको नाश कर देता है।

गंतूण णंदणवणं, अमियं छंडिय विसं जहा पियइ ।
माणुसभवे वि छंडिय, धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा ॥१२॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष नंदनवनमें जाकर अमृतको छोड़ विष पीवे वैसे ही अज्ञानी इस मनुष्य भवमें धर्मको छोड़-कर भोगोंकी अभिलाषा करता है।

छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं अण्णाणियस्स जा सोधी ।
तत्तो बहुगुणदरिया, होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥१३॥

अर्थ—शास्त्रज्ञानके मनन विना जो अज्ञानीको बेला, तेला, चौला आदि उपवासके करनेसे शुद्धता होती है उससे बहुतगुणी शुद्धता सम्यग्ज्ञानीको आत्मज्ञानको मनन करते हुए जीमते रहनेपर भी होती है।

अक्खेविणी कहा सा, विज्जाचरण उवदिस्सदे जत्थ ।
ससमयपरसमयगदा, कहा दु विक्खेविणी णाम ॥१४॥
संवेयणी पुण कहा, णाणचरित्ततवविरियइड्ढिगदा ।
णिव्वेयणी पुण कहा, सरीरभोगे भउघेए ॥ १५ ॥

अर्थ—सुकथा चार प्रकारकी होती हैं—१. आक्षेपिणी जो ज्ञान व चारित्रका स्वरूप बताकर दृढ़ता करानेवाली हो। २- विक्षेपिणी जो अनेकांत मतकी पोषक व एकांत मतको खंडन करनेवाली हो। ३ संवेजिनीकथा जो ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्यमें प्रेम बढ़ानेवाली व धर्मानुराग करानेवाली हो। ४. निर्वेदिनी जो संसार, शरीर भोगोंसे वैराग्य बढ़ानेवाली हो।

वाहिरतवेण होदि हु, सव्वा सुहसीलता परिचत्ता।
सल्लिहिदं च सरीरं, ठविदो अप्पा य संवेगे॥ १६॥
दंताणि इंदियाणि य, समाधिजोगा य फासिया होंति।
अणिगूहिदवीरियदा, जीविदतण्हा य वोछिण्णा॥१७॥

अर्थ—अनशन, ऊनोदर आदि बाहरी तपके साधन करनेसे सुखिया रहनेका स्वभाव दूर होता है। शरीरमें कृषता होती है। संसार, देह, भोगोंसे वैराग्यभाव आत्मामें होता है। पाँचों इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। समाधि योगाभ्यासकी सिद्धि होती है। अपने आत्मबलका प्रकाश होता है। जीवन की तृष्णाका छेद होता है।

णत्थि अणूदो अप्पं, आयासादो अणूणयं णत्थि।
जह तह जाण महल्लं, ण वयमहिंसासमं अत्थि॥१८॥
जह पव्वएसु मेरू, उच्चाओ होइ सव्वलोयम्मि।
तह जाणसु उच्चायं, सीलेसु वदेसु य अहिंसा॥ १९॥

अर्थ—जैसे परमाणुसे कोई छोटा नहीं है और आकाशसे कोई बड़ा नहीं है उसी प्रकार अहिंसाके समान महान व्रत नहीं है। जैसे लोकमें सबसे ऊँचा मेरु पर्वत है उसी प्रकार सर्व शीलोंमें व सर्व व्रतोंमें अहिंसाव्रत ऊँचा है।

सव्वग्गंथविमुक्को, सीदीभूदो पसण्णचित्तो य।
जं पावइ पीइसुहं, ण चक्कवट्टी वि तं लहदि॥ २०॥

रागविवागसतण्हा, इंगिद्धिअवितित्ति चक्कवट्टिसुहं।
णिस्संगणिव्वुसुह–, स्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि॥२१॥

अर्थ—जो महात्मा सर्व परिग्रह रहित है, शांतचित्त है, व प्रसन्नचित्त है, उसको जो सुख और प्रेम प्राप्त होता है वह चक्रवर्ती भी नहीं पा सकता है। चक्रवर्तीका सुख रागसहित तृष्णासहित व बहुत गृद्धतासहित है तथा तृप्तिरहित है जबकि असंग महात्माओंको जो स्वाधीन आत्मीक सुख है उसका अनन्तवाँ भाग भी सुख चक्रीको नहीं है।

इंदियकसायवसगो, बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि।
पक्खी व छिण्णपक्खो, ण उप्पददि इच्छमाणो वि॥२२॥

अर्थ—यदि बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता भी है परंतु पाँच इन्द्रियोंके विषयोंके और कषायोंके आधीन है तो वह सम्यक्चारित्रका उद्यम नहीं कर सकता है। जैसे पंखरहित पक्षी इच्छा करते हुए भी उड़ नहीं सकता है।

णासदि य सगं वहुगं, पि णाणमिदियकसायसम्मिस्सं।
विससम्मिसिदं दुद्धं, णस्सदि जध सक्राकढिदं ॥२३॥

अर्थ—इन्द्रिय-विषय और कषायोंसे मिला हुआ बहुत बड़ा ज्ञान भी नाश हो जाता है। जैसे मिश्री मिलाकर औंटाया हुआ दूध भी विषके मिलनेसे नष्ट हो जाता है।

श्रीपूज्यपादस्वामी समाधिशतकमें कहते हैं:—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा! हतं जगत् ॥ १ ॥

अर्थ—शरीरमें आत्मबुद्धि करनेसे ही पुत्र, स्त्री आदि की मान्यताएँ हो जाती हैं। हा! अज्ञानी जगत् उन्हीं स्त्री पुत्रादिको अपना मानता हुआ नष्ट हो रहा है।

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२॥

अर्थ—जिस स्वरूपसे मैं अपनेमें अपनेद्वारा अपनेको अपने समान ही अनुभव करता हूँ, वही मैं हूँ। न मैं पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ, न नपुंसक हूँ, न मैं एक हूँ, न दो हूँ और न मैं बहुवचन हूँ।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ ३ ॥

अर्थ—जब मैं वस्तुतः अपने ज्ञान स्वरूपको अनुभव

करता हूँ तब मेरे रागादिभाव सब नाश हो जाते हैं। अतः इस संसारमें न कोई मेरा शत्रु है, न कोई मित्र है।

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥४॥

अर्थ—जो परमात्मा है वही मैं हूँ, जो मैं हूं वही परमात्मा है अतः मैं ही अपने द्वारा उपासना करने योग्य हूँ, अन्य कोई नहीं।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्वं नेतरो जनः ॥५॥

अर्थ—रागद्वेष, मोहादिकी लहरोंसे जिसका अन्तःकरणरूपी जल चंचल नहीं हुआ है, वही साधक आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करता है। अन्य लोग उस तत्त्वको नहीं जानते हैं।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानंदं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥ ६ ॥

अर्थ—मैं जो कुछ इन्द्रियोंसे देखता हूँ वह मेरा नहीं है। जब मैं इन्द्रियोंको रोककर अपने भीतर देखता हूँ तो वहाँ परमानन्दमई उत्तम ज्ञानज्योतिको पाता हूँ। वही मैं हूँ।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७॥

अर्थ—जो योगी लोक व्यवहारमें सोता है वही-आत्माके अनुभवमें जागता है। परंतु जो इस लोक व्यवहारमें जागता है वह आत्माके मननमें सोता रहता है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ८ ॥

अर्थ—यदि आत्मा अपनेसे भिन्न सिद्ध परमात्माको लक्ष्यमें लेकर ध्यान करे तो भी वह दृढ़ अभ्याससे आत्मानुभव प्राप्त करके परमात्माके समान परमात्मा हो जायेगा। जैसे बत्ती अपनेसे भिन्न दीपककी सेवा करके स्वयं दीपक हो जाती है।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥ ९ ॥

अर्थ—अथवा यह आत्मा अपने ही आत्माकी आराधना करके परमात्मा हो जाता है। जैसे वृक्ष स्वयं लड़कर आप ही अग्निरूप हो जाते हैं।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ १० ॥

अर्थ—आत्मज्ञानके अतिरिक्त और कार्यको बुद्धिमें चिरकाल तक धारण न करे। यदि प्रयोजनवश कुछ दूसरा काम करना भी पड़े तो वचन और कायसे अतत्पर होता हुआ कर डाले, मनको उसमें आसक्त न करे।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें कहते हैं—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥१॥

अर्थ—शांत भाव, ज्ञान, चारित्र, तप इन सबका मूल्य सम्यक्तके बिना कंकड़ पत्थरके समान है। परंतु यदि ये सम्यग्दर्शन सहित हों तो इनका मूल्य महामणिके समान अपार है।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥२॥

अर्थ—जैसे रत्न अग्निमें पड़कर विशुद्ध हो जाता है व शोभता है वैसे रुचिवान भव्यजीव शास्त्रमें रमण करता हुआ विशुद्ध होकर मुक्त हो जाता है। परंतु जैसे अङ्गार अग्निमें पड़कर कोयला हो जाता है या राख हो जाता है वैसे दुष्ट पुरुष शास्त्रको पढ़ता हुआ भी रागी, द्वेषी होकर कर्मोंसे मैला हो जाता है।

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो।
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ॥
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः।
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—सर्व शास्त्रोंको पढ़कर तथा दीर्घ कालतक घोर

तप साधनकर यदि तू शास्त्रज्ञान और तपका फल इस लोकमें लाभ, बड़ाई आदि चाहता है तो तू विवेकशून्य होकर सुन्दर तपरूपी वृक्षके पुष्पको ही तोड़ डालता है, तब तू उस वृक्षके मोक्षरूपी पके फलको कैसे पा सकेगा?

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च बाह्यार्थसम्बन्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ॥ ४ ॥

अर्थ—रागद्वेष होना ही प्रवृत्ति है। उन्हींका न होना निवृत्ति है। ये रागद्वेष बाहरी पदार्थोंके संबंधसे होते हैं इसलिये बाहरी पदार्थोंको छोड़ देना ही योग्य है।

सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्,
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत् ।
उदासीनस्तस्य प्रगलितपुराणं न हि नवं,
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥ ५ ॥

अर्थ—अपने ही किये हुए कर्मोंके उदयके वशसे जब सुख या दुःख होता है तब उनमें हर्ष या विषाद करना किसलिये? ऐसा विचारकर, जो रागद्वेष न करके उदासीन रहते हैं उनके पुरातन कर्म झड़ जाते हैं और नए नहीं बँधते हैं। ऐसे ज्ञानी, तपस्वी मणिके समान प्रकाशमान रहते हैं।

श्री अमितिगति आचार्य तत्त्व भावनामें कहते हैं—

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो,
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः।
तत्र स्वं निजकर्मपूर्ववशगाः केषां भवन्ति स्फुटं,
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता ॥१॥

अर्थ—अनेक प्रकारके उपायोंसे बढ़ाने पर भी यह देह भी जहाँ इस आत्माकी नहीं हो सकती तो पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, जमाई, बंधु आदि जो अपने२ पूर्वकर्मके वश आए हैं व जायेंगे, अपने कैसे हो सकते हैं? ऐसा जानकर बुद्धिमानको अपनी बुद्धि सदा ही आत्माके हितमें करनी योग्य है।

माता मे मम गेहिनी मम गृहं मे बांधवा मेऽगजाः।
तातो मे मम संपदो मम सुखं मे सज्जना मे जनाः।
इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः,
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीस्रस्यते ॥२॥

अर्थ—मेरी माता है, मेरी स्त्री है, मेरा घर है, मेरे बंधु हैं, मेरा पुत्र है, मेरा भाई है, मेरी सम्पदा है, मेरा सुख है, मेरे सज्जन हैं, मेरे नौकर हैं, इस तरह घोर ममताके वशसे तत्त्वज्ञानमें ठहरनेको असमर्थ होकर परम सुख देनेवाले आत्महितसे यह प्राणी दूर खिसकता चला जाता है।

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा, न कांता न माता

न भृत्या न भूपाः । यमालिंगितुं रक्षितुं संति शक्ता, विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस शरीरको आत्मासे जुदा होते हुए न तो वैद्य बचा सकते हैं, न पुत्र, न ब्राह्मण, न इन्द्र, न स्त्री, न माता, न नौकर, न राजागण। ऐसा जानकर आर्य पुरुषोंको आत्माके हितको करना चाहिये। शरीरके मोहमें आत्महितको न भूलना चाहिये।

विचित्रैरुपायैः सदा पाल्यमानः, स्वकीयो न देहः समं यत्र याति। कथं बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र, प्रबुद्धयेति कृत्यो न कुत्रापि मोहः ॥ ४ ॥

अर्थ—नाना उपायोंसे सदा पालते रहते भी जहाँ यह अपना देह साथ नहीं जा सकता तब बाहरी पदार्थ किस तरह हमारे हो सकते हैं? ऐसा जानकर किसी भी पर पदार्थमें मोह करना उचित नहीं है।

विविधसंग्रहकल्मषमंगिनो विदधतेऽगकुटुंबकहेतवे ।
अनुभवंत्यसुखं पुनरेकका, नरकवासमुपेत्य सुदुस्सहम् ॥५॥

अर्थ—प्राणी, शरीर व कुटुम्बके लिये नाना प्रकारके पापोंको बांधता है परंतु उनका फल उस अकेलेको ही नरकमें जाकर असहनीय दुःख भोगना पड़ता है।

यो बाह्यार्थं तपसि यतते बाह्यमाप्यतेऽसौ ।
यस्त्वात्मार्थं लघु स लभते पूतमात्मानमेव ॥

न प्राप्यंते क्वचन कलमाः कोद्रवै रोप्यमाणै-
विज्ञायेत्थं कुशलमतयः कुर्वते स्वार्थमेव ॥ ६ ॥

अर्थ—जो बाहरी इन्द्रिय भोगोंके लिये तप करता है वह बाहरी ही पदार्थोंको प्राप्त करता है। जो आत्मपदकी प्राप्तिके लिये तप करता है वह शीघ्र पवित्र आत्माको ही पाता है। कोदवोंके बोनेसे कभी भी चावल नहीं प्राप्त हो सकते, ऐसा जानकर प्रवीण बुद्धिवालोंको आत्माके हितमें ही उद्यम करना योग्य है।

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम्,
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः संपदम्।
तच्चित्रं परमं यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो,
दत्तेऽसौ यदनेकदुःखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ॥७॥

अर्थ—चक्रवर्ती तप करनेके लिये सुदर्शन चक्रका त्याग कर देते हैं इसमें सत्पुरुषोंको कोई आश्चर्य नहीं होता है क्योंकि वह तप वीर साधुओंको अविनाशी अनुपम मोक्षकी संपदाको देता है। किंतु परम आश्चर्यकी बात तो यह है कि जो कोई तपको छोड़कर इन्द्रिय-विषयको ग्रहण कर लेता है, वह इस महाभयानक संसारसमुद्रमें पड़कर अनेक दुःखोंमें अपनेको पटक देता है।

श्री योगेन्द्राचार्य योगसारमें कहते हैं:—

सागारु वि णागारुहु वि जो अप्पाणि वसेइ ।
सो पावइ लहु सिद्धिसुहु जिणवरु एम भणेइ ॥६४॥

अर्थ—गृहस्थ हो या साधु हो, जो कोई आत्मस्वरूपमें रमण करेगा वह तुरन्त सिद्धसुख प्राप्त करेगा ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ।

तत्त्वज्ञानी विरले होते हैं ।

विरला जाणहिं तत्तु बुह विरला णिसुणहिं तत्तु ।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहि तत्तु ॥६६॥

अर्थ—विरले ही पंडित आत्मतत्त्वको जानते हैं, विरले ही श्रोता तत्त्वको सुनते हैं, विरले जीव ही तत्त्वको ध्याते हैं और विरले ही तत्त्वकोधारण करके स्वानुभवी होते हैं ।

संसारमें कोई अपना नहीं है ।

इंद-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति ।
असरणु जाणिवि मुणि धवला अप्पा अप्प मुणंति ॥६८॥

अर्थ—इन्द्र, धरणेन्द्र व चक्रवर्ती कोई भी संसारी कोई भी संसारी प्राणियोंके रक्षक नहीं हो सकते । उत्तम मुनि अशरण जानकर अपने आत्मा द्वारा आत्माका अनुभव करते हैं ।

जीव सदा अकेला है ।

इक उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु भुंजइ इक्कु ।

णरयहँ जाइ-वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहँ इक्कु ।।६९।।

अर्थ—जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दुःख और सुख भोगता है, अकेला ही नरकमें जाता है तथा अकेला ही जीव निर्वाणको प्राप्त होता है।

निर्मोही होकर आत्माका ध्यान कर।

एक्कुलउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि ।
अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव-सुक्ख लहेहि ।।७०।।

अर्थ—यदि तू अकेला ही जायगा तो रागद्वेष मोहादि परभावोंको त्याग दे। ज्ञानमय आत्माका ध्यान कर तो शीघ्र ही मोक्षका सुख पाएगा।

भावनिर्ग्रंथ ही मोक्षमार्गी है।

जइया मणु णिग्गंथु जिय तइया तुहुँ णिग्गंथु ।
जइया तुहुँ णिग्गंथु जिय तो लब्भइ सिवपंथु ।। ७२ ।।

अर्थ—हे जीव! जब तेरा मन निर्ग्रंथ है तब तू सच्चा निर्ग्रंथ है। हे जीव! जब तू निर्ग्रन्थ है तो तूने मोक्ष-मार्ग पा लिया।

श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वार्थसारमें कहते हैं:—

कस्याऽपत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी ।
एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ।। १ ।।

अर्थ—किसका पुत्र, किसका पिता, किसकी माता,

किसकी स्त्री ? यह जीव स्वयं अकेला ही इस दुस्तर संसार-समुद्रमें भ्रमता रहता है।

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम् ।
हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ॥ २ ॥

अर्थ—चेतनस्वरूप जीव अन्य है और अचेतन (जड़-रूप) शरीर अन्य है। खेद है ! कि तो भी संसारी प्राणी इन दोनोंके भेदको नहीं समझते हैं।

शुद्धद्रव्यनिरुपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो,
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः,
किं द्रव्यान्तरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥३॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिसे तत्त्वका यह स्वरूप है कि एक द्रव्यके भीतर दूसरा द्रव्य कदापि भी नहीं झलकता है। ज्ञान जो पदार्थोंको जानता है वह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका प्रकाश है, फिर क्यों मूढ़ जन परद्रव्यके साथ राग-भाव करते हुए आकुलव्याकुल होकर अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होते हैं ?

श्री अमितिगति आचार्य सामायिकपाठमें
कहते हैं:—

न संति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै॥१॥

अर्थ—आत्मासे भिन्न बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं न मैं उनका कदापि होता हूँ, ऐसा निश्चय करके सभी बाह्य पदार्थोंसे ममत्वबुद्धि त्यागकर, हे भद्र! सदा तू अपने स्वरूपमें स्थिर हो जिससे कि मुक्तिका लाभ हो।

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥२

अर्थ—मेरा आत्मा सदा ही एक, अविनाशी एवं निर्मल ज्ञान स्वभावी है, अन्य सभी रागादि भाव, जो अपने २ कर्मोंके उदयसे भए हैं, मेरे आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं एवं नश्वर हैं।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतो हि तिष्ठंति शरीरमध्ये॥३॥

अर्थ—जिस आत्माका शरीरके भी साथ एकपना नहीं है तो फिर पुत्र, स्त्री, मित्र आदिके साथ कैसे संभव हो सकता है? यदि शरीरका ऊपरका चमड़ा पृथक् कर दिया जाये तो फिर उसमें रोमोंके छिद्र कैसे पाए जा सकते हैं? अर्थात् नहीं।

संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्॥४॥

अर्थ—इस शरीरके संयोगसे ही यह शरीरधारी, संसाररूपी वनमें अनेक दुःखोंको भोगता है। अतः जो

अपने आत्माकी मुक्ति चाहता है उसे मन, वचन, कायसे इस शरीरमें ममत्व बुद्धिका त्याग कर देना चाहिये ।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकांतारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे॥५॥

अर्थ—संसाररूपी वनमे भ्रमण करानेके कारणभूत सर्व ही मनके विकल्पोंको दूर करके और सबसे भिन्न अपने आत्माको अनुभव करते हुए तू अपने ही परमात्म-स्वरूप में लय हो ।

श्रीसमन्तभद्राचार्य रत्नकरण्डश्रावकाचारमें कहते हैं—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ १ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वरूपी अंधकारके मिटजानेसे और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानके लाभ हो जानेपर मुनि राग-द्वेषको दूर करनेके लिये चारित्रको पालते हैं ।

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा परिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ २ ॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाच पाप कर्मके आनेकी नालियोंसे विरक्त होना—त्याग करना सम्यग्ज्ञानीका चारित्र कहलाता है ।

श्रीदेवसेनाचार्य तत्त्वसारमें कहते हैं—

जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च।
तं णाऊण विसुद्धं झायह होऊण णिग्गंथो ॥ १ ॥

अर्थ—जो निर्विकल्प आत्मतत्त्व है वही सार है, वही मोक्षका कारण है। उसीको जानकर और निर्ग्रंथ होकर उसी निर्मल तत्त्वका ध्यान कर।

रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छइ णा हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥२॥
सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियंपि जह रयणं।
मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसका मनरूपी जल रागादि विभावपरिणामों द्वारा चंचल नहीं होता है वही निजात्म तत्त्वका अनुभव कर सकता, है उससे विपरीत आत्मा स्वात्मानुभव नहीं कर सकता। जब सरोवरका पानी स्थिर होता है तब उसके भीतर पड़ा हुआ रतन जैसे साफ साफ दिख जाता है उसी प्रकार निर्मल मनरूपी जलके स्थिर होनेपर आत्माका साक्षात्कार हो जाता है।

परदव्वं देहाई कुणई ममत्तिं च जाम तस्सुवरिं।
परसमयरदो तावं वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ ४ ॥

अर्थ—शरीर आदि परद्रव्य हैं। जबतक यह जीव

उनके ऊपर ममता करता है तब तक वह पर पदार्थमें रत बहिरात्मा है और नाना प्रकारके कर्मोंसे बंधता है।

णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं।
तह णिहयमोहराए गलंति णिस्सेसघाइणि ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसे राजाके मरनेपर राजाकी सेना प्रभारहित होकर स्वयं भाग जाती है उसी प्रकार मोह राजाके नाश होनेपर अवशिष्ट घातिया कर्म नाश हो जाते हैं।

श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासनमें कहते हैं—

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनां ॥ १ ॥

अर्थ—जो सुख यहाँपर चक्रवर्तियोंको है व स्वर्गमे देवोंको है वह परमात्माके सुखकी तुलनामें अंशमात्र भी नहीं है।

ममकारका लक्षण

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥ २ ॥

अर्थ—जो आत्मासे सदा भिन्न है ऐसे कर्मजनित अपने शरीर आदि (स्त्री, पुत्र, मकान आदि) पदार्थोंमें आत्मीय भावना हो जाना सो ममकार (ममत्व बुद्धि) है। जैसे अपने शरीरमें, जो कि आत्मासे पृथक् है, "यह मेरा है," ऐसी बुद्धि होना।

अहंकारका लक्षण ।

ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः ।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥ ३ ॥

अर्थ–कर्मोंद्वारा किये गये विभाव परिणामोंमें, निश्चयनयसे जो आत्मासे भिन्न हैं, अपनेपनकी भावना करना सो अहंकार बुद्धि है। जैसे, "मैं राजा हूँ"।

मोक्षका मार्ग ।

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा ।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ॥४॥

अर्थ–"जो आत्मा आत्माके द्वारा आत्माको आत्मामें स्वयं अवलोकन करती है, परिज्ञान करती है, आचरण करती है और मध्यस्थ हो जाती है ऐसी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप आत्मा ही निश्चयसे मोक्षका मार्ग है।" ऐसा जिनेन्द्रदेवका कथन है।

षट्कारकमयी आत्माका ही नाम ध्यान है ।

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षटकारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ ५ ॥

अर्थ–निश्चयनयकी अपेक्षा इस आत्माके द्वारा आत्माके लिये अपनी ही आत्मासे अपनी आत्मामें आत्माका

चिंतवन किया जाता है अतः छह कारकरूप जो आत्मा है उसका ही नाम ध्यान है।

इन्द्रियोंको जीतनेका उपाय।

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें मन ही समर्थ है अतः मनको ही वशमें करना चाहिये। मनपर विजय प्राप्त कर लेनेपर आत्मा जितेन्द्रिय सहज ही हो जाता है।

ज्ञानवैराग्यरज्जूभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रियवाजिनः ॥ ७ ॥

अर्थ—मनविजेता प्राणीके द्वारा नित्यही कुमार्गकी ओर मुड़ने वाले इन्द्रियरूपी घोड़े, ज्ञान और वैराग्यरूपी लगामके द्वारा वशमें किये जा सकते हैं। अर्थात् मनके जीतने वाला पुरुष ही ज्ञान व वैराग्यकी सहायतासे इन्द्रियोंको अपने वशमें कर सकता है।

मनको वशमें करनेका उपाय।

स चिंतयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ॥ ८ ॥

अर्थ—स्पर्शनादि इन्द्रियोंके विषयोंसे उदासीन हुआ

साधु; अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करता हुआ व नित्य ही स्वाध्यायमें तत्पर होता हुआ, मनको अवश्य ही वशमें कर लेता है।

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पंचनमस्कृतेः।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥ ९ ॥

अर्थ—एकाग्र मनसे पंच णमोकार मंत्रका जप करना सबसे बड़ा स्वाध्याय है। अथवा जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोंका पढ़ना सो भी परम स्वाध्याय कहलाता है।

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ १० ॥

अर्थ—स्वाध्यायको समाप्त कर लेनेपर ध्यान करना चाहिये और ध्यान करनेसे भी ऊब जानेपर स्वाध्याय करनेमें लग जाना चाहिये। ध्यान और स्वाध्याय करते रहनेसे ही कर्ममलरहित शुद्ध आत्मा (परमात्मा) प्रकाशित होने लगता है।

स्वसंवेदनका स्वरूप।

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥ ११ ॥

अर्थ—योगियोंको जो स्वयंके द्वारा, जो स्वयंका वेद्यत्व व वेदकत्व होता है वही स्वसंवेदन कहलाता है। उसीको आत्माका अनुभव या दर्शन कहते हैं।

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितिं ।
विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ॥ १२ ॥

अर्थ—ध्याता आत्मा और परका यथार्थ स्वरूप जान करके श्रद्धानमें लावे फिर परको अकार्यकारी समझकर छोड़दे और अपनेको ही देखे व जाने ।

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१३॥

अर्थ—आत्मज्ञानी जिस भावसे जिस स्वरूपका ध्यान करता है उसी भावसे उसी तरह तन्मय हो जाता है । जैसे स्फटिकमणिके साथ जिस प्रकारके रंगकी उपाधि होती है उसीसे वह तन्मय हो जाती है ।

श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः ।
पराधीनं तु यत्सौख्यं दुःखमेव न तत्सुखं ॥ १ ॥

अर्थ—आत्माधीन जो सुख है उसीको ज्ञानियोंने सुख कहा है । पराधीन जो सुख है वह दुःख ही है, वह सुख नहीं है ।

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम् ।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥ २ ॥

अर्थ— दुःखरूपी रोगको नाश करनेवाले धर्मरूपी अमृ-

तका पान सदा ही करना चाहिये । जिसके पीनेसे जीवोंको सदा ही उत्तमसुखकी प्राप्ति होती है ।

धर्म एव सदा त्राता जीवानां दुःखसंकटात् ।
तस्मात्कुरूत भो यत्नं यत्रानन्तसुखप्रदे ॥ ३ ॥
यत्त्वया न कृतो धर्मः सदा मोक्षसुखावहः ।
प्रसन्नमनसा येन तेन दुःखी भवानिह ॥ ४ ॥

अर्थ—जीवोंको धर्म ही सदा दुःख संकटोंसे रक्षा करनेवाला है । अतः अनन्तसुख देनेवाले धर्ममें प्रयत्न करना चाहिये । तूने प्रमुदित मन होकर अबतक मोक्षसुखको देनेवाले धर्मका साधन नहीं किया, इसीसे तू दुःखी हो रहा है ।

नो संगाज्जायते सौख्यं मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
संगाच्च जायते दुःखं संसारस्य निबन्धनम् ॥ ५ ॥

अर्थ—मोक्षका कारणभूत उत्तमसुख परिग्रहकी ममतासे उत्पन्न नहीं होता है । क्योंकि परिग्रहसे तो संसारके कारणभूत दुःखकी ही प्राप्ति होती है ।

ज्ञानदर्शनसम्पन्न आत्मा चैको ध्रुवो मम ।
शेषा भावाश्च मे बाह्या सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ ६ ॥
संयोगमूलजीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसंबंधं त्रिविधेन परित्यजेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—मेरा आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभावसे पूर्ण है, एक है,

अविनाशी है और समस्त रागादि भाव मेरे स्वभावसे बाहर-कर्मके संयोगजन्य हैं। शरीर और कर्मके संयोगसे जीव-बराबर दुःख उठा रहे हैं, अतः इस संयोग संबंधको मन, वचन, कायसे मैं त्यागता हूँ।

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥ ८ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानरूपी जलसे नित्य ही आत्माको स्नान कराना चाहिये, जिससे जन्म जन्मके पाप धुल जाते हैं।

आत्मानं भावयेन्नित्यं ज्ञानेन विनयेन च।
मा पुनर्म्रियमाणस्य पश्चात्तापो भविष्यति ॥ ९ ॥

अर्थ—हे भव्यजीव! नित्य ही आत्माके शुद्ध स्वरूपकी भावना ज्ञानके साथ विनयपूर्वक करो, नहीं तो मरनेपर बहुत पश्चाताप होगा कि कुछ न कर सके। यानी मरणका समय निश्चित नहीं है इससे आत्मज्ञानकी भावना सदा करनी योग्य है।

नृजन्मनः फलं सारं यदेतज्ज्ञानसेवनम्।
अनिगूहितवीर्यस्य संयमस्य च धारणम् ॥ १० ॥

अर्थ—मानव जन्मका सार फल यही है जो सम्यग्ज्ञा-नकी भावना की जावे और अपनी शक्तिको न छिपाकर संयमको धारण किया जावे।

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन ।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ॥ ११ ॥
अधुनातत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम् ।
प्रमादं मा पुनः कार्षीर्विषयास्वादलालसः ॥ १२ ॥

अर्थ—आत्मज्ञान महारत्न है उसको अबतक कभी भी तूने इस अनेक दुःखोंसे भरे हुए भयानक संसारमें भ्रमते हुए नहीं पाया । उस महारत्नको आज तूने सम्यग्दर्शन सहित प्राप्त कर लिया है तब आत्मज्ञानका अनुभव कर, विषयोंके स्वादकी लालसामें पड़कर प्रमादी मत बन ।

शुद्धे तपसि सद्वीर्यं ज्ञानं कर्मपरिक्षये ।
उपयोगिधनं पात्रे यस्य याति स पंडितः ॥ १३ ॥

अर्थ—वही पंडित है जिसका आत्माका वीर्य शुद्ध तपमें खर्च होता है, जो ज्ञानको कर्मोंके क्षयमें लगाता है तथा जिसका धन योग्य पात्रोंके काम आता है ।

नियतं प्रशमं याति कामदाहः सुदारुणः ।
ज्ञानोपयोगसामर्थ्याद्विषं मंत्रपदैर्यथा ॥ १४ ॥

अर्थ—भयानक भी कामका दाह आत्मध्यान व स्वाध्यायमें ज्ञानोपयोगके बलसे नियमसे शांत हो जाता है । जैसे मंत्रके पदोंसे सर्पका विष उतर जाता है ।

सत्येन शुद्ध्यते वाणी मनो ज्ञानेन शुद्ध्यति ।
गुरुशुश्रूषया कायः शुद्धिरेष सनातनः ॥ १५ ॥

अर्थ—वाणीकी शुद्धि सत्य वचनसे रहती है, मन सम्यग्ज्ञानसे शुद्ध रहता है और गुरुसेवासे शरीर शुद्ध रहता है, यह सनातनसे शुद्धिका मार्ग है।

विषयोरगदष्टस्य कषायविषमोहितः।
संयमो हि महामंत्रस्त्राता सर्वत्र देहिनाम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो इन्द्रिय-विषयरूपी सर्पसे डसा हो व जिसको कषायरूप विषसे मूर्च्छा आ गई हो उसके लिये संयम ही महामंत्र है, यही सर्वत्र प्राणियोंका रक्षक है।

धर्ममाचर यत्नेन मा भवस्त्वं मृतोपमः।
सद्धर्म चेतसां पुंसा जीवितं सफलं भवेत् ॥ १७
मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिणः।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पापकारिणः ॥१८॥

अर्थ—भो प्राणी! तू यत्नपूर्वक धर्मका आचरण कर, मृतकसमान मत बन। जिन मानवोंके चित्तमें सच्चा धर्म है उनहीका जीवन सफल है। जो धर्माचरण करनेवाले हैं वे मरनेपर भी अमर हैं परंतु जो मानव पापके मार्गमें जानेवाले हैं वे जीते हुए भी मृतकके समान हैं।

चित्तसंदूषकः कामस्तथा सद्गतिनाशनः।
सद्वृत्तध्वंसनश्चासौ कामोऽनर्थपरम्परा ॥ १९ ॥
दोषाणामाकरः कामो गुणानां च विनाशकृत्।
पापस्य च निजो बन्धुः परापदां चैव संगमः ॥२०॥

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥ २ ॥

अर्थ—वीतरागी महात्माको ऐसी कोई परमानन्दकी प्राप्ति होती है जिसके सामने तीन लोकका अचिंत्य ऐश्वर्य भी तृणके समान भासता है ।

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बंधविश्लेषः समत्वं यस्य योगनः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस योगीके समता भाव है उसीके ही निश्चल सहज सुख है, उसीके ही बंधका नाश है और उसीको ही अविनाशी पद प्राप्त होता है ।

अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मकोऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मैं अनन्तवीर्य, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुखरूप ही हूँ, क्या मै अपने प्रतिपक्षी कर्मरूपी विषके वृक्षको आज उखाड़ न डालूंगा ?

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः ।
न देवः किंतु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ॥ ५ ॥

अर्थ—न मैं नारकी हूँ, न तिर्यंच हूँ, न मानव हूँ, न देव हूँ, किंतु सिद्धस्वरूप हूँ । ये सब नारकी आदि अवस्थाएँ कर्मोंके उदयसे होती हैं ।

यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम् ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञानी अपनेको ही ग्रहण करता है अपनेसे भिन्न परको नहीं ग्रहण करता है । ऐसा मैं आत्मा हूँ, उसमें कोई विकल्प नहीं है, ज्ञानमय है, केवल एक अकेला है और वह स्वानुभवगम्य ही है ।

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्रैव मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ॥ ७ ॥

अर्थ—यह आत्मा आत्माके द्वारा आत्मामें ही स्वयमेव अनुभव किया जाता है. अतः इसे छोड़कर अन्य स्थानमें आत्माके जाननेका जो खेद है सो निष्फल है ।

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम् ।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥ ८ ॥

अर्थ—वही मैं परमात्मा हूँ, वही मैं परमात्मा हूँ, इस प्रकार निरंतर अभ्यास करता हुआ पुरुष इस वासनाको दृढ़ करता हुआ आत्मामें स्थिरताको पाता है । आत्मध्यान जग उठता है ।

अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं,
जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं,
पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥९॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! तुम सम्यग्दर्शनरूपी अमृतको पीओ, यह अनुपम अतीन्द्रिय सहज अतुल सुखका भंडार है, सर्व कल्याणका बीज है, संसाररूपी समुद्रसे तारनेके लिये जहाज है, इसको धारण करनेका एक मात्र पात्र भव्य जीव ही है, यह पापरूपी वृक्षको काटनेको कुठार है, पवित्र तीर्थोंमें यही प्रधान है तथा अपने विपक्षी मिथ्यात्वरूपी शत्रुको जीतनेवाला है। अतः भव्यजीवोंको सर्व प्रथम इसे ही धारण करना चाहिये।

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ॥ १० ॥

अर्थ—आत्मध्यान मेंलवलीन श्री मुनिमहाराजके समताभावके प्रभावसे उनके पास परस्पर वैर करनेवाले क्रूर जीव भी शांत हो जाते हैं।

अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्रवेरपि ।
तद्दुर्बोधोद्धतं ध्वान्तं ज्ञानभेद्यं प्रकीर्त्तितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस दुर्बोधके अंधकारको चंद्रमा नहीं मेट सकता, सूर्य नहीं भेद सकता उस अज्ञानांधकारको सम्यग्ज्ञान नष्ट कर देता है ऐसा कहा गया है।

दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं,
मदनभुजगमंत्रंचित्तमातङ्गसिंहं ।

व्यसनयनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं,

त्रिषयशफरजालं ज्ञानमाराध्य त्वं ॥ १२ ॥

अर्थ—हे भव्यजीव!. सम्यग्ज्ञानकी आराधना करो। यह सम्यग्ज्ञान पापरूपी अंधकारके नष्ट करनेको सूर्यसमान है, मोक्षलक्ष्मीके निवासके लिये कमलसमान है, कामसर्पके कीलनेको मंत्रसमान है, मनरूपी हाथीके वश करनेको सिंहसमान है, आपदारूपी मेघोंको उड़ानेके लिये पवनसमान है, समस्त तत्त्वोंको प्रकाश करनेके लिये दीपकसमान है, तथा पाँचोंइन्द्रियोंके विषयोंको पकड़नेके लिये जालसमान है।

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः।

मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥१३॥

अर्थ—देखो! इन जीवोंकी प्रवृत्ति कैसी आश्चर्यकारक है कि, शरीर तो प्रतिदिन छीजता जाता है और आशा नहीं छीजती है; किंतु बढ़ती जाती है। तथा आयुर्बल तो घटता जाता है और पापकार्योंमें बुद्धि बढ़ती जाती है। मोह तो नित्य स्फुरायमान् होता है और यह प्राणी अपने हित वा कल्याण मार्गमें नहीं लगता है। सो यह कैसा अज्ञानका माहात्म्य है?

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपंचं,

विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम्।

कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं,
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥ १४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन्! तू परिग्रहसे विरक्त हो, विरक्त हो, जगतके प्रपंच (मायाशल्य) को छोड़ छोड़, जगतके मोहको दूर कर दूर कर, आत्मतत्त्वको समझ समझ, चारित्रका अभ्यास कर अभ्यास कर, अपने आत्मस्वरूपको देख देख तथा मोक्षके सुखके लिये पुरुषार्थको बार बार कर। अर्थात् इस प्रकार दो दो बारकहनेसे आचार्य महाराजने अत्यंत प्रेरणा की है, क्योंकि श्रीगुरु महाराज बड़े दयालु हैं सो बारंबार हितके लिये प्रेरणा करते हैं।

आशा जन्मोग्रपङ्काय शिवायाशाविपर्ययः।
इति सम्यक्समालोच्यं यद्धितं तत्समाचर ॥ १५ ॥

अर्थ—भो प्राणी! देखो, संसारके पदार्थोंकी आशा संसाररूपी कर्दममे फँसानेवाली है, जबकि आशाका त्याग मोक्षको देनेवाला है। इन दोनों बातोंका भले प्रकार विचार कर, जिसमें अपना हित समझे उसी प्रकार आचरण कर।

श्रीज्ञानभूषण भट्टारक तत्त्वज्ञान-तरंगिणीमें कहते हैं—

स कोऽपि परमानंदश्चिद्रूपध्यानतो भवेत्।
तदंशोऽपि न जायेत त्रिजगत्स्वामिनामपि ॥ १ ॥

अर्थ—शुद्ध चैतन्य स्वरूपके ध्यानसे कोई ऐसा ही सहज परमानंद प्राप्त होता है उसका अंश भी इन्द्रादिको प्राप्त नहीं होता।

ये याता यांति यास्यंति योगिनः शिवसंपदः।
समासाध्यैव चिद्रूपं शुद्धमानंदमंदिरं ॥ २ ॥

अर्थ—जो योगी मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त कर चुके, कर रहे हैं और करेंगे उसमें शुद्ध चिद्रूपका ध्यान ही प्रधान कारण है, वही परमानंदका धाम है।

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचिंतनं।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादीहामुत्र सौख्यकृत् ॥ ३ ॥

अर्थ—सब ही कार्योंमें शुद्ध चिद्रूपका चिंतवन सुख-साध्य है क्योंकि यह अपने ही आधीन है और इसके द्वारा इस लोक तथा परलोकमें सुखकी प्राप्ति होती है।

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत्।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥ ४ ॥

अर्थ—विषयोंके भोगनेमें प्राणियोंको दुःख ही होता है क्योंकि वहाँ आकुलता है। किंतु शुद्ध चिद्रूपके अनुभवसे सुख ही प्राप्त होता है क्योंकि वहाँ निराकुलता है।

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानंदमये सदा।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं कथ्यते परमार्थतः ॥ ५ ॥

अर्थ—केवल शुद्ध, नित्य सहजानंदमई शुद्ध चिद्रूप-स्वरूप जो अपना स्वभाव उसमें जो सदा ठहरता है वही निश्चयसे स्वस्थ कहा जाता है।

रंजने परिणामः स्याद् विभावो हि चिदात्मनि।
निराकुले स्वभावः स्यात् तं विना नास्ति सत्सुखं ॥६॥

अर्थ—चिदात्मामें रँजायमान परिणामको विभाव कहते हैं। किंतु जो आकुलता रहित शुद्ध चिद्रूपमें भाव हो तो वह स्वभाव है। इस स्वभावमें तन्मय हुए विना सच्चा सहज सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

वाह्यसंगतिसंगस्य त्यागे चेन्मे परं सुखं।
अंतःसंगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकं ॥ ७ ॥

अर्थ—वाह्य स्त्री पुत्रादिकी संगतिके त्यागनेसे ही जब सहजसुख होता है तो अंतरंगमें सर्व रागादि व विकल्पोंके त्यागसे और भी अधिक सुख क्यों नहीं प्राप्त होगा?

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥ ८ ॥

अर्थ—मैंने वहुत वार विकल्पमय सांसारिक सुखको भोगा है, वह कोई अपूर्व नहीं है। इसलिये उस सुखकी तृष्णा छोड़कर अब मेरी इच्छा निर्विकल्प सहज सुख पानेकी है।

क्व यांति कार्याणि शुभाशुभानि, क्व यांति संगाश्चिद्‌-चित्स्वरूपाः । क्व यांति रागादय एव शुद्धचिद्रूपकोऽहं स्मरणे न विद्मः ॥ ९ ॥

अर्थ—मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ ऐसा स्मरण करते ही न जाने कहाँ शुभ व अशुभ कार्य चले जाते हैं, न जाने कहाँ चेतन व अचेतन परिग्रह चले जाते हैं तथा न जाने कहाँ रागादि विला जाते हैं ।

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकं विना ।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ॥ १० ॥

अर्थ—शुद्ध चिद्रूपको छोड़कर न मैं और कुछ हूँ न कुछ और मेरा है । अतः दूसरेकी चिंता करना वृथा है, ऐसा जानकर मैं एक शुद्ध चिद्रूपमें ही लय होता हूँ ।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजं ।
तस्माद् बंधस्ततो दुःखं मोह एव ततो रिपुः ॥ ११ ॥

अर्थ—शुद्ध चिद्रूपके ध्यानके सिवाय जितने कार्य हैं वे सब मोहसे होते हैं । उस मोहसे कर्मबंध होता है, बंधसे दुःख होता है, इससे जीवका वैरी मोह ही है ।

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिर्न जायते ।
यथर्द्धिस्तपसः पुत्री पितुर्वृष्टिर्वलाहकात् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस तरह तपके बिना शुद्धि नहीं होती, पिताके

विना पुत्री नहीं होती, मेघ विना वृष्टि नहीं होती उसी प्रकार शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्ति विना रत्नत्रयके नहीं होती है।

ममेति चिंतनाद् बंधो मोचनं न ममेत्यतः।
बंधनं द्वयक्षराभ्यां च मोचनं त्रिभिरक्षरैः ॥ १३ ॥

अर्थ—पर पदार्थ मेरा है ऐसे चिंतनसे बंध होता है तथा पर पदार्थ मेरा नहीं है ऐसे चिंतनसे मुक्ति होती है 'मम' इन दो अक्षरोंसे बंध है और 'न मम' इन तीन अक्षरोंसे मुक्ति है।

अर्थान् यथास्थितान् सर्वान् समं जानाति पश्यति।
निराकुलो गुणी योऽसौ शुद्धचिद्रूप उच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो सर्व पदार्थोंको, जैसा उनका स्वरूप है उसी रूपसे, एक ही साथ देखता है व जानता है तथा जो निराकुल है और गुणोंका भण्डार है उसे शुद्ध चैतन्य प्रभु परमात्मा कहते हैं।

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारकः।
ततोऽपि दुर्लभं शास्त्रं चिद्रूपप्रतिपादकं ॥ १५ ॥
ततोऽपि दुर्लभो लोके गुरुस्तदुपदेशकः।
ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञानं चिंतामणिर्यथा ॥१६॥

अर्थ—इस लोकमें शुद्ध चैतन्यके स्वरूपकी रुचि रखने वाला मानव दुर्लभ है, उससे भी दुर्लभ चैतन्य स्वरूपके

बतानेवाले शास्त्रका मिलना है। उससे भी दुर्लभ उसके उपदेशक गुरुका लाभ होना है। वह भी मिल जाय तो भी चिन्तामणि रत्नके समान भेदविज्ञानका प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि कदाचित् भेदविज्ञान हो जाये तो आत्मकल्याणमें प्रमाद न करना चाहिये।

ज्ञेयावलोकनं ज्ञानं सिद्धानां भविनां भवेत्।
आद्यानां निर्विकल्पं तु परेषां सविकल्पकं ॥१७॥

अर्थ—जानने योग्य पदार्थोंका देखना व जानना सिद्ध और संसारी दोनोंके होता है। सिद्धोंके वह ज्ञानदर्शन निर्विकल्प है, निराकुल स्वाभाविक समभावरूप है जबकि संसारी जीवोंके ज्ञानदर्शन सविकल्प है, आकुलतासहित है।

सत्पूज्यानां स्तुतिनुतियजनं षट्कर्मावश्यकानां,
वृत्तादीनां दृढतरधरणं सत्तपस्तीर्थयात्रा।
संगादीनां त्यजनमजननं क्रोधमानादिकाना-
माप्तैरुक्तं वरतरकृपया सर्वमेतद्धि शुद्ध्यै ॥१८॥

अर्थ—परमपूज्य देव, शास्त्रकी स्तुति, वन्दना और पूजन करना, सामायिक प्रतिक्रमण आदि छह प्रकारके आवश्यकोंका आचरण करना, सम्यक्चारित्रका दृढ़ रूपसे धारण करना, उत्तम तप और तीर्थयात्रा करना, बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना, और

क्रोध मान माया आदि कषायोंको उत्पन्न न होने देना; ये सभी उपाय श्रीजिनदेवने अत्यंत कृपा करके आत्माकी शुद्धिके लिये ही करने योग्य कहे हैं। अर्थात् जो अपने आत्माकी विशुद्धताके अभिलाषी हैं वे उपर्युक्त बातोंको जीवनमें उतार अपनी आत्माको शुद्ध बनावें।

श्रीपद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृतमें कहते हैं:—

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो भेदः समुत्पद्यते।
सानंदा कृतकृत्यता च सहसा स्वांते समुन्मीलति॥
यस्यैकस्मृतिमात्रतोपि भगवानत्रैव देहांतरे।
देवः तिष्ठति मृग्यतां स रभसादन्यत्र किं धावति॥१४६॥

अर्थ—जब मोहरूपी अंधकार नष्ट हो जाता है तभी ज्ञानज्योति उदीयमान होती है और आनंददशा व कृतकृत्यता सहसा ही अन्तःकरणमें झलकती है। जिसकी स्मृति-मात्रसे ही आत्मा परमात्मा हो जाता है वह आत्मा देव शरीरके भीतर ही है। उसको तू शीघ्र ही खोज, बाहर और कहाँ दौड़ता है?

भिन्नोऽहं वपुषो बहिर्मलकृतान्नानाविकल्पौघतः।
शब्दादेश्च चिदेकमूर्तिरमलः शांतः सदानंद भाक्॥
इत्यास्था स्थिरचेतसो दृढतरं साम्यादनारंभिणः।
संसाराद् भयमस्ति किं यदि तदप्यन्यत्र कः प्रत्ययः॥१४८॥

अर्थ–मैं बहिर्मलकृत शरीर व नानाविकल्पसमूहसे भिन्न हूँ और शब्दादिसे भी भिन्न हूँ। मैं एक चैतन्यमात्र मूर्ति, निर्मल, शांत और सदानंदधारी हूँ। यदि शांत, आरंभरहित और स्थिरचेताके ऐसी दृढ़ श्रद्धा है तब उसको संसार से क्या भय ? और क्या अन्यत्र आस्था ?

सतताभ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम् ।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्त्ववित् ॥१५०॥

अर्थ–सदैव अभ्यासमें आए हुए इन्द्रियभोगोंका सुख असत्य है, किंतु आत्मजन्य सुख ही अपूर्व सुख है ऐसी जिसके चित्तमें श्रद्धा है वही तत्त्वज्ञानी है।

एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽथवा ।
कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्डैकवस्तुनि ॥१५॥

अर्थ–शुद्ध निश्चयनयसे एक चैतन्य ही मोक्षमार्ग है। एक, अखंड वस्तु आत्मामें विकल्प उठानेको अवकाश ही कहाँ ?

साम्यं निश्शेषशास्त्राणां सारमाहुर्विपश्चितः ।
साम्यं कर्ममहादावदाहे दावानलायते ॥ ६८ ॥

अर्थ—समता भाव ही सर्व शास्त्रोंका सार है ऐसा विद्वानोंने कहा है। समताभाव ही कर्मरूपी महावृक्षके जलानेको दावानलके समान है॥

अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु लोकभक्त्या, मोहं कृशी कुरुत किं वपुषा कृशेन। एतद्द्वयं यदि न किं बहुभिर्नियोगैः, क्लेशैश्च किं किमपरैः प्रचुरैस्तपोभिः ॥५०॥

अर्थ—हे मुने! अपने भीतर शुद्ध ज्ञानानंद स्वरूपका अभ्यास करो, लोगोंके रिझानेसे क्या लाभ? मोह भावको कृष करो, शरीरको कृष करनेसे क्या लाभ? यदि मोहकी कमी और आत्मानुभवका अभ्यास ये दो बातें न हों तो बहुत भी नियम, व्रत, संयमसे व कायक्लेशरूप भारी तपोंसे क्या लाभ?

श्रीपद्मनंदि मुनि एकत्वसप्ततिमें कहते हैं—

केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः।
तत्र ज्ञाने न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥ १ ॥

अर्थ—यह आत्मा अनंतज्ञान, अनंतदर्शन अनन्तसुख और अनंतवीर्यधारी है। उसको जान लेने पर क्या नहीं जाना, उसको देख लेने पर क्या नहीं देखा और उसका आश्रय लेने पर क्या नहीं आश्रय किया?

साम्यं-सद्बोधनिर्माणं शश्वदानन्दमन्दिरम्।
साम्यं शुद्धात्मनोरूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥ २ ॥

अर्थ—समताभाव ही सम्यग्ज्ञानका निर्माता है. समताभाव ही शाश्वत आनन्दका मन्दिर है, समताभाव ही शुद्धात्मस्वरूप है, समताभाव ही मोक्षमहलका एकमात्र द्वार है।

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम् ।
पश्यत्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं नित्यानन्दमय, शुद्ध, चित्स्वरूप, सनातन, परमज्योति, अनुपम व अविनाशी हूँ, ऐसे ज्ञानी आत्मामें अपनेको लखता है ।

संयोगेन सदा यातं मत्तस्तत्सकलं परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो जो वस्तु या अवस्था परके संयोगसे आई है वह सब मुझसे भिन्न है । उस सबको त्याग कर देनेसे मैं मुक्त ही हूँ, ऐसी मेरी बुद्धि है । ऐसा ज्ञानी जीव विचारता है ।

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः ।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभो भवेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—क्रोधादि कर्मोंके संयोग होनेपर भी वह उत्कृष्ट आत्मज्योति विकारी नहीं होती है। जैसे विकार करनेवाले मेघोंसे आकाश विकारी नहीं होता है । यथार्थतः ऐसा आत्माका स्वरूप है ।

किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ ।
रागद्वेषपरित्यागमोहमन्त्रेण कीलितौ ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मैंने रागद्वेषके त्याग-

रूप साम्यभाव महामंत्रसे शुभ व अशुभ कर्मरूपी दुष्ट राक्षसोंको कील दिया है तब वे बिचारे मेरा क्या बिगाड़ कर सकते हैं ?

श्रीपद्मनंदि मुनि धम्मरसायण में कहते हैं—

ण वि अत्थि माणुसाणं आदसमुत्थं चिय विषयातीदं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं अणोवमं जं च सिद्धाणं ॥१९०॥

अर्थ—आत्मासे समुत्पन्न, विषयातीत, अविनाशी, अनुपम सुख जैसा सिद्धभगवानको है वैसा मनुष्योंको भी नहीं है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपायमें कहते हैं—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥ १ ॥

अर्थ—जितने अश सम्यग्दर्शन होता है उतने अंशसे बंध नहीं होता है । परंतु उसीके साथ जितना अंश रागका होता है उसी रागके अंशसे बंध होता है ।

योगात्प्रदेशबंधः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु ।
दर्शनबोधचारित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥ २ ॥

अर्थ—योगोंसे प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध होता है, कषायोंसे स्थितिबंध व अनुभागबंध होता है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र न योगरूप हैं, न कषायरूप हैं । अतः रत्नत्रय बंधका कारण नहीं है ।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ ३ ॥

अर्थ—निश्चयनय वह है जो सत्यार्थ मूल पदार्थको कहे । व्यवहारनय वह है जो असत्यार्थ पदार्थको कहे । प्रायः सभी ही संसारी प्राणी सत्यार्थ वस्तुके ज्ञानसे विमुख हो रहे हैं ।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोंको जानकर मध्यस्थ हो जाता है वही शिष्य जिनवाणीके उपदेशका पूर्ण फल पाता है ।

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्यपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ ५ ॥

अर्थ—सर्व पापसंबंधी मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका त्याग व्यवहारसम्यक्चारित्र है और सर्व कषायोंसे रहित, वीतरागमय, निर्मल आत्माके स्वरूपका अनुभव निश्चय-सम्यक्चारित्र है, वह आत्मरूप ही है ।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥६॥

अर्थ—अपने परिणामोंमें रागादि भावोंका प्रगट न

होने देना ही अहिंसा है और उन्हींका प्रगट होना सो ही हिंसा है। यह जिनागमका सार है।

श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचंद्रोदयमें कहते हैं—

तत्त्वमात्मगतमेव निश्चितं योऽन्यदेशनिहितं समीक्षते।
वस्तु मुष्टिविधृतं प्रयत्नतः कानने मृगयते स मूढधीः ॥ १ ॥

अर्थ—आत्मतत्त्व निश्चयसे आत्मामें ही है। जो कोई उस तत्त्वको अन्य स्थानमें खोजता है वह ऐसा मूढ है जो अपनी मुट्ठीमें धरी वस्तुको वनमें ढूंढता है।

संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत्।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥२॥

अर्थ—शुद्ध परमात्माकी भावना शुद्ध पदका कारण है। अशुद्ध आत्माकी भावना अशुद्ध पदका कारण है। जैसे सुवर्णसे सुवर्णके पात्र बनते हैं और लोहेसे लोहेके पात्र बनते हैं।

श्रीपद्मनंदि मुनि उपासक-संस्कारमें कहते हैं—

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥ १ ॥

अर्थ—दूध और पानीके समान एक क्षेत्रमें स्थित शरीर और आत्मामें ही जब भेद है तब अन्य स्त्री आदि की तो कथा ही क्या है? वे तो जुदे हैं ही।

कर्मबंधकलितोप्यबंधनो द्वेषरागमलिनोऽपि निर्मलः ।
देहवानपि न देहवर्जितश्चित्रमेतदखिलं चिदात्मनः ॥२॥

अर्थ—यह आत्मा कर्मबंध सहित होनेपर भी कर्मबंधसे रहित है, रागद्वेषसे मलीन होनेपर भी निर्मल है, देहवान होनेपर भी देह रहित है। आत्मा का सर्व माहात्म्य ही आश्चर्यकारी है।

व्याधिनाङ्गमभिभूयते परं तद्गतोऽपि न पुनश्चिदात्मकः ।
उच्छ्रितेन गृहमेव दह्यते वह्निना न गगनं तदाश्रितम् ॥३॥

अर्थ—रोगोंसे शरीरको पीड़ा होती है परंतु उस शरीरमें व्याप्त चैतन्य प्रभुको पीड़ा नहीं होती है। जैसे अग्निकी ज्वालासे घर जलता है परंतु घरके भीतरका आकाश नहीं जलता है। अर्थात् आत्मा आकाशके समान निर्लेप तथा अमूर्तीक है, जल नहीं सकता।

बोधरूपमखिलरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः ।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ॥४

अर्थ—सर्व रागादि उपाधियोंसे रहित जो कोई एक ज्ञानस्वरूप है सो ही हमारा है। अन्य कुछ भी परमाणु मात्र भी हमारा नहीं है। मोक्षका कारण यही एक तत्त्व है, यही योगियोंका निश्चित मत है।

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं, स्नानमत्रकुरुतोत्तमं बुधाः ।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः, क्षालयत्यपि मलंतदन्तरम् ॥५॥

अर्थ—आत्मज्ञान ही एक पवित्र अद्‌भुत तीर्थ है। इसी तीर्थरूपी नदीमें ज्ञानीजन उत्तम स्नान करो। जो अंतरङ्गका कर्ममल करोड़ों नदियोंके स्नानसे नहीं नाश होता है, उसे यह तीर्थ धो देता है।

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥ ६ ॥

अर्थ—देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम तप और दान ये गृहस्थोंके नित्य प्रतिदिन करनेके षट कर्म हैं।

श्रीपद्मनदि मुनि सिद्धस्तुतिमें कहते हैं:—

यः सिद्धे परमात्मनि, प्रविततज्ञानैकमूर्तौकिल,
ज्ञानी निश्चयतः स एव सकलप्रज्ञावतामग्रणी।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो,
यद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्बाणमावर्ण्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जो विस्तीर्ण ज्ञानाकार श्री सिद्ध परमात्माको जानता है वही सर्व बुद्धिमानोंमें शिरोमणि है। यदि सिद्ध परमात्माके ज्ञानसे शून्य है तो तर्क, व्याकरण आदि शास्त्रोंको जाननेसे क्या प्रयोजन? बाण तो उसे ही कहते हैं जो निशानीको वेध सके, अन्यथा व्यर्थ है। अर्थात् आत्मज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, उसके विना अनेक विद्याओंका ज्ञान भी आत्महितकारी नहीं है।

श्री पद्मनंदिमुनि निश्चयपंचाशत्‌में कहते हैंः—

व्याधिस्तुदति शरीरं न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम्।
अग्निर्दहति कुटीरं न कुटीरासक्तमाकाशम् ॥ १ ॥

अर्थ—रोग शरीरको पीड़ा करता है, न कि अमूर्तीक शुद्ध ज्ञानमयी मेरी आत्माको। जैसे अग्नि कुटीको जलाती है परंतु कुटीके भीतरके आकाशको नहीं।

नैवात्मनो विकारः क्रोधादिः किंतु कर्मसंबंधात्।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्वमाश्रितात्पुष्पतो रक्तात् ॥ २ ॥

अर्थ—निश्चयसे क्रोध आदि आत्माके स्वाभाविक विकार नहीं हैं, परंतु कर्मके संबंधसे हैं। जैसे स्फटिक मणि स्वयं लाल नहीं है परंतु लालपुष्पके संबंधसे लाल दीखती है। आत्मा तो स्फटिकमणिके समान स्वच्छ ही है।

कुर्यात् कर्म विकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य।
मुखसंयोगजविकृतेर्न विकारी दर्पणो भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—कर्मोंके द्वारा विकल्प होवें परंतु परम शुद्धस्वरूप मुझे उससे क्या? अर्थात् मैं उन विकल्पोंके द्वारा विकारी नहीं होता हूँ। जैसे विकारयुक्त मुखका दृश्य दर्पणमें दिखनेपर भी दर्पण स्वयं विकारी नहीं होता है।

आस्तां बहिरुपधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम्।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥ ४ ॥

अर्थ—कर्मोदयसे उत्पन्न बाहरी उपाधिकी बात तो दूर ही रहे। शरीर, वचन और मनके विकल्पोंका समूह भी मुझसे भिन्न है। क्योंकि मैं तो परम विशुद्ध हूँ, मेरा शरीरादि कैसे हो सकता है ?

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—कर्म भिन्न हैं और उसके कार्य सुख व दुःख भी भिन्न हैं। उसमें मोही जीव हर्ष-विषाद करता है, निर्मोही ज्ञानी जीव नहीं।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं-

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं व ॥ १ ॥

अर्थ—जैसे सुवर्ण धातु अग्निसे धौंके जानेपर मल-रहित सुवर्णमें परिणत हो जाती है वैसे ही यह जीव आत्मामें तपतरूप तपके द्वारा कर्ममलसे छूटकर शुद्ध हो जाता है।

णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो।
दहइ तवो भवबीयं तणकट्ठादी जहा अग्गी ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे अग्नि तृण व काष्टको जला देती है ऐसे ही आत्मध्यानरूपी तपकी अग्नि उत्तम आत्मज्ञानरूपी पव-

नके द्वारा बढ़ती हुई तथा शील समाधि और संयमके द्वारा जलती हुई संसारके बीजभूत कर्मोंको जला देती है।

श्रीवट्टकेरस्वामी मूलाचारबृहत्प्रत्याख्यानमें कहते हैं—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झं ण केणवि।
आसा वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥ १ ॥

अर्थ—मैं सर्व प्राणियोंपर समभाव रखता हूँ, मेरा किसीसे वैरभाव नहीं है, मैं सब आशाओंको त्यागकर आत्माकी समाधिको धारण करता हूँ।

खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झं ण केणवि ॥ २ ॥

अर्थ—मैं सब जीवोंपर क्षमाभाव लाता हूँ। सर्व प्राणी भी मुझपर क्षमा करो। मेरा सर्व जीव मात्रसे मैत्री भाव है, मेरा वैरभाव किसीसे भी नहीं है।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं ममताको त्यागता हूँ, निर्ममत्व भावसे तिष्ठता हूँ, मैं मात्र एक आत्माका ही अवलम्बन लेता हूँ और सब आलम्बनों को त्यागता हूँ।

इंदियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं।
रज्जूहिं णिग्घिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया ॥ ४॥

अर्थ—जैसे कुमार्गमें जानेवाले घोड़े लगामोंसे रोक लिये जाते हैं उसी प्रकार तप, ज्ञान और विनयके द्वारा इन्द्रिय व कषायके दोष नष्ट कर दिये जाते हैं।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरयणं अमिदभूदं।
जरामरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं॥ ५॥

अर्थ—यह जिनवाणीका पठन, पाठन, मनन एक ऐसी औषधि है जो इन्द्रियविषयके सुखसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाली है, अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृतको पिलाने वाली है, जरा, मरण व रोगादिसे उत्पन्न होनेवाले सर्व दुःखोंको क्षय करनेवाली है।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार समयसार अधिकारमें कहते हैं:—

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि॥ १॥

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवं होदि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं॥ २॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञानसे सर्व पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है। जिसको पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है वह हितकर व अहितकर भावोंको ठीक २ जानता है। जो श्रेय व कुश्रेयको पहचानता है व कुआचा-

रको छोड़ देता है, शीलवान हो जाता है। शीलके फलसे संपूर्ण चारित्र को पाता है। पूर्णचा रत्रको पाकर निर्वाणको प्राप्त कर लेता है।

सज्झायं कुव्वंतो पंचंदियसंपुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥ ३ ॥

अर्थ—शास्त्र स्वाध्याय करनेवालेके स्वाध्याय करते हुए पाँचों इन्द्रिय वशमें होती हैं, मन, वचन, काय स्वाध्यायमें रत हो जाते हैं, ध्यानमें एकाग्रता होती है, विनय गुणसे युक्त होता है, स्वाध्याय परमोपकारी है।

बारसविधह्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठं।
ण वि अत्थि ण वि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं ॥४॥

अर्थ—तीर्थंकरोंद्वारा प्रतिपादित बाहरी, भीतरी बारह प्रकार तपमें स्वाध्याय तपके समान कोई तप नहीं है न होवेगा। अतः स्वाध्याय सदा करना योग्य है।

थोवह्मि सिक्खदे जिणइ बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ॥ ५ ॥

अर्थ—अल्प शास्त्रज्ञ हो या बहु शास्त्रज्ञ हो जो चारित्रसे पूर्ण है वही संसारको जीतता है। जो चारित्र रहित है उसके बहुत शास्त्रोंके जाननेसे क्या लाभ है? मुख्य सच्चे सुखका साधन आत्मानुभव है।

श्रीवट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगारभावनामें कहते हैं:—

अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं ।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं ॥ १ ॥

अर्थ—जैसे गाड़ीके पहियेमें तेल देकर रक्षा की जाती है वैसे मुनिगण प्राणोंकी रक्षार्थ भोजन करते हैं, प्राणोंको धर्मके निमित्त रखते हैं, धर्मको मोक्षके अर्थ आचरण करते हैं।

श्रीवट्टकेरिस्वामी मूलाचार-पंचाचार अधिकारमें कहते हैं:—

विणएण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥ १ ॥

अर्थ—जो विनयपूर्वक शास्त्रोंको पढ़ा हो और प्रमादसे कालातरमें भूल भी जावे तो भी परभवमें शीघ्र ही याद हो जाता है तथा विनयसहित शास्त्र पढ़नेका फल केवल ज्ञान होता है।

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ॥ २ ॥

अर्थ—जो ज्ञानी होकर दूसरेको सिखाता है, ज्ञानका पुनः पुनः मनन करता रहता है, ज्ञानसे दूसरोंको धर्मोपदेश

करता है तथा ज्ञानपूर्वक चारित्र पालता है वही सम्यग्ज्ञा-
नकी विनय करता है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड़में कहते हैं—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥ १ ॥

अर्थ—जो योगी जगतके व्यवहारमें सोता है वही अपने आत्माके कार्यमे जागता है और जो लोक व्यवहारमें जागता है वह अपने आत्माके कार्यमें सोता है।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥२॥

अर्थ—चारित्र आत्माका धर्म है। धर्म है वही आत्माका समभाव है। और समभाव उसे कहते हैं जो रागद्वेषरहित आत्माका अपना अनन्य परिणाम है।

परदव्वादो दुग्गइ सद्दव्वादो हु सग्गई होई।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरय इयरम्मि ॥ ३ ॥

अर्थ—पर द्रव्यमें रति करनेसे दुर्गति होती है किंतु स्वद्रव्यमें रति करनेसे सुगति होती है ऐसा जानकर पर-द्रव्यसे विरक्त होकर स्वद्रव्यमें प्रेम करो।

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥ ४ ॥

अर्थ–मिथ्याज्ञानी घोर तप करके जिन कर्मोंको बहुत जन्मोंमें क्षय करता है उन कर्मोंको आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि मन, वचन, कायको रोक करके ध्यानके द्वारा एक अंतर्मुहूर्तमें क्षय कर डालता है।

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण हु अण्णाणी णाणी एत्तो हु विवरीओ ॥५॥

अर्थ–शुभ पदार्थोंके संयोग होनेपर जो कोई साधु रागभावसे पर पदार्थमें प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है। जो सम्यग्ज्ञानी है वह शुभ संयोग होने पर भी राग नहीं करते हैं, समभाव रखते हैं।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥ ६ ॥

अर्थ–तपरहित जो ज्ञान है और सम्यग्ज्ञान रहित जो तप है सो दोनों ही मोक्षसाधनमें अकार्यकारी हैं अतः जो ज्ञानसहित तप है उससे ही निर्वाण प्राप्त होता है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य दर्शनपाहुड़में कहते हैं:–

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ १ ॥

अर्थ–जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे ही भ्रष्ट हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जीवको कभी भी निर्वाणका लाभ नहीं

हो सकता है। जो चारित्रसे भ्रष्ट हैं परंतु सम्यक्त्वसे भ्रष्ट नहीं हैं वे पुनः ठीक चारित्र पालकर सिद्ध हो सकेंगे परंतु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे कभी भी सिद्धि न प्राप्त करेंगे।

जीवादिसद्दहणं सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥ २ ॥

अर्थ—व्यवहारनयसे जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है परंतु निश्चयनयसे आत्मरुचि ही सम्यग्दर्शन है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड़में कहते हैं:—

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥१॥

अर्थ—जिन महात्माओंके भावोंमें शुद्धात्माका अनुभव नहीं है उनका बाहरी परिग्रहका त्याग, पर्वत, गुफा, नदीतट, कंदरा आदि स्थानोंमें तप करना तथा सर्व ध्यान व आगमका पढ़ना निरर्थक है।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥ २ ॥

अर्थ—बाहरी परिग्रह का त्याग भावोंकी शुद्धताके निमित्त किया जाता है। यदि भीतर परिणामोंमें कषाय है या ममत्व है तो बाहरी त्याग निष्फल है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं—

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥ १ ॥

अर्थ—यह प्राणी विषयोंके लिये तीव्र लोभी होकर अकेला ही पाप बांधता है, वही जीव नारकी व तिर्यंच होकर अकेला ही उस पापकर्मका फल भोगता है ।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो ।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा ॥ २ ॥

अर्थ—वस्तुतः मै एक अकेला हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है, मैं शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला हूँ तथा शुद्ध भावकी एकतासे ही अनुभव करने योग्य हूँ, ऐसा ज्ञानी सदा चिंतवन करता है ।

जाइजरमरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा ।
तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥ ३ ॥

अर्थ—जन्म, जरा, मरण, रोग व भयसे आत्मा ही अपनी रक्षा आप कर सकता है । अतः बन्ध, उदय, सत्त्वरूप कर्मोंसे मुक्त शुद्ध आत्मा ही अपना रक्षक है ।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं ।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायंत्ति य हवे चेट्ठा ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन वचनोंसे संसारके छेदका साधन बताया जावे

वे शुभ वचन हैं ऐसा जिनेंद्रने कहा है। श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, सामायिक, संयम तथा दान आदिमें चेष्टा व उद्यम सो शुभ काम है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसारमें कहते हैं—

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो ॥१॥

अर्थ—निश्चयसे चारित्र धर्म है। जो धर्म है वह समभावरूप है ऐसा (शास्त्रोंमें) कहा है मोहक्षोभरहित जो आत्माका स्वभाव है सो ही समभाव है।

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ २ ॥

अर्थ—रागी जीव कर्मोंको बांधता है और रागरहित (वीतरागी) जीव कर्मोंसे छूटता है। यह जीवोंके बंध तत्त्वका संक्षेपस्वरूप निश्चयनयसे जानो। अर्थात् रागद्वेष संसारके कारण हैं और वीतरागभाव मोक्षका कारण है।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥३॥

अर्थ—न मैं किन्हीं पर पदार्थोंका हूँ न पर पदार्थ मेरे हैं। मैं एक अकेला ज्ञानमय हूँ। इस प्रकार जो ध्याता ध्यानमें ध्याता है वही आत्माका ध्यानी है।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोवि ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसकी मूर्च्छा देह आदि पर पदार्थोंमें परमाणुमात्र भी है वह सर्व शास्त्रको जानता हुआ भी सिद्धिको नहीं पा सकता है।

णाणं अप्पत्ति मदं, वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा, अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥५॥

अर्थ–ज्ञान गुण आत्मरूप कहा गया है। आत्माको छोड़कर ज्ञानगुण और कहीं नहीं रहता है अतः ज्ञानगुण आत्मरूप है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है, तो भी गुण गुणीके भेदकी अपेक्षासे नामादि भेदसे ज्ञान अन्य है आत्मा अन्य है परंतु प्रदेश भेद नहीं है। जहाँ आत्मा है वहीं ज्ञान सर्वांग व्यापक है।

णाणी णाणसहावो अत्था णेयावगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं, णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञानी आत्मा ज्ञान स्वभावको रखने वाला है तथा सब पदार्थ उस ज्ञानीद्वारा ज्ञेयरूप हैं-जानने योग्य हैं। यह ज्ञानी ज्ञेयोंको इसी तरह जानतेहैं जिस तरह आँख रूपी पदार्थोंको जानती है। अर्थात् आँख पदार्थोंमें नहीं जाती पदार्थ आँखमें नहीं प्रवेश करते हैं उसी तरह केवल-

ज्ञानीका ज्ञान, ज्ञेय पदार्थोंमें नहीं जाता और ज्ञेय पदार्थ, ज्ञानमें आकर प्रवेश नहीं कर जाते हैं। आत्मा अपने स्थान पर है, पदार्थ अपने स्थानपर रहते हैं। ज्ञेयज्ञायक संबंधसे आत्माका शुद्ध ज्ञान सर्व ज्ञेयोंको जान लेता है।

आचार्यकल्प पंडितप्रवर आशाधरजी धर्मामृतमें कहते हैं:—

यति और श्रावकका लक्षण।

सुदृग्बोधो गलद्-वृत्तमोहो विषयनिःस्पृहः।
हिंसादेर्विरतः कार्त्स्न्या-द्यतिः स्याच्छ्रावकोंऽशतः ॥ १ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टी पुरुष चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशम होनेपर विषयोंसे निस्पृह होता हुआ हिंसादिक पाँच पापोंका सर्वदेश त्याग करता है वह मुनि कहलाता है तथा जो एकदेश त्याग करता है वह श्रावक कहलाता है।

सागार धर्मको धारण करनेके योग्य श्रावकके १४ आवश्यक गुण।

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज-
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥२॥

अर्थ—१. न्यायसे धन कमाना—स्वामिद्रोह, मित्र-द्रोह, विश्वासघात, ठगना, चोरी करना आदि धन कमानेके निंदित उपायोंसे रहित धन कमानेका उपायभूत अपने २ वर्णके अनुकूल जो सदाचार है उसको न्याय कहते हैं और उस न्यायके द्वारा उपार्जन किये गये धनको न्यायोपार्जित धन कहते हैं। धार्मिक बननेमें न्याय्य आजीविकाका करना प्रधान गुण है।

२. गुणकी, गुरुओंकी और गुण गुरुओंकी पूजा करना—अपना तथा परका उपकार करनेवाले गुणोंका, इन गुणोंसे युक्त व्यक्तियोंके बहुमान, प्रशंसा और नाना प्रकारसे उनकी सहायता आदि करनेके द्वारा आदर, प्रशंसा आदि करना गुणपूजा कहलाती है। माता, पिता और आचार्यकी त्रिकाल वंदना सेवा करना गुरुपूजा कहलाती है तथा सम्यक्त्व, ज्ञान, संयमादिक गुणोंसे शोभायमान पूज्य गुरुओंकी वैयावृत्य करना, उनको हाथ जोड़ना, उनके सामने आनेपर आसनसे उठना आदि उपचार विनयके द्वारा उनकी विनय करना गुणगुरुपूजा कहलाती है। इस प्रकार गुण, गुरु तथा गुणयुक्त गुरुओंकी पूजन करना, उपासना करना अपनेमें गुण विकाशके लिये साधक गुण है।

३. सद्गी—दूसरेकी झूठी निंदा और कठोरता आदि

वचनोंके दोषोंसे रहित प्रशस्त तथा उत्कृष्ट वचन बोलना।

४. परस्परमें अविरोधभावसे त्रिवर्गको सेवन करना—धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको त्रिवर्ग कहते हैं। इनमेसे कामका कारण अर्थ है अर्थका कारण धर्म है और जो जीवोंको संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुख देवे उसे धर्म कहते हैं। बुद्धि, श्रम और जमीनको अर्थोत्पादक होनेसे अर्थ कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा ऐहिक कार्योंकी सिद्धि होती है उसको अर्थ कहते हैं। तथा पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंको काम कहते हैं इनमें स्पर्शन व रसना इन्द्रियके विषयको भोग और शेष इन्द्रियोंके विषयको काम कहते हैं। धर्मके विना अर्थकी और अर्थके विना कामकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक गृहस्थको परस्परमे अविरोध भावसे ही धर्म, अर्थ, और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका सेवन करना चाहिये।

५. योग्य स्त्री, स्थान तथा आलय—त्रिवर्गके सेवन करनेमें बाह्यकारणभूत कुलीनता आदि गुणोंसे युक्त योग्य स्त्री, धर्म तथा अर्थोपार्जनप्रधान स्थान और योग्य मकान होना चाहिये।

६. लज्जाशील होना। ७. योग्य शास्त्रविहित आहार तथा विहार करनेवाला। ८. आर्यपुरुषोंकी

सङ्गनि करने वाला। ९ हिनाहिन विचार करनेवाला। १०. दूसरेके द्वारा अपने ऊपर किये गये उपकारोंको जानने व माननेवाला। ११. इन्द्रियोंको वशमें करने वाला। १२. धर्मकी विधिको सुननेवाला। १३. दुःखी प्राणियोंपर दया करनेवाला और १४. पापोंसे डरनेवाला।

इस प्रकार उपर्युक्त चौदह गुणोंके द्वारा युक्त पुरुष ही सागारधर्मको धारण करनेके योग्य माना गया है।

श्रावकोंका सम्पूर्ण धर्म।

सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम्॥ ३॥

अर्थ—शंकादिक दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन, निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत और मरण समयमें विधि-पूर्वक सल्लेखना करना, इस प्रकार यह श्रावकोंका सम्पूर्ण धर्म है।

मद्यपानसे हानि।

यदेकविन्दोः प्रचरन्ति जीवा—
श्चेत्त् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति।
यद्विक्लवाश्चेममम्मुं च लोकं,
यस्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत्॥ ४॥

अर्थ—यदि मद्यकी एक बूंदके जीव फैलें तो वे जीव

तीनों लोकोंको भी पूर्ण कर देते हैं और जिस मद्यके द्वारा मूर्च्छित हुए पुरुष इसलोकको तथा परलोकको भी बिगाड़ देते हैं उस मद्यको अपने कल्याणको चाहनेवाला पुरुष अवश्य ही छोड़े।

मांस खानेसे हानि।

हिंस्रः स्वयम्मृतस्यापि स्यादश्नन् वा स्पृशन्पलम्।
पक्वापक्वा हि तत्पेश्यो निगोदौघसुतः सदा ॥ ५ ॥

अर्थ—अपने आप मरे हुए जीवोंके भी मांसको खानेवाला अथवा छूनेवाला पुरुष हिंसक होता है क्योंकि पके अथवा कच्चे दोनों ही प्रकारके मांसके छोटे २ टुकड़ेखंड सदैव अनंत निगोदिया जीवोंको उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

मधु (शहद) के दोष

मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिन्दुशः।
खादन् बध्नात्यघं सप्त ग्रामदाहांहसोऽधिकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—मधुको करनेवाले प्राणियोंके समूहके नाशसे उत्पन्न होनेवाली और अपवित्र केवल एक बूंद भी मधुको खानेवाला पुरुष सात ग्रामोंके जलानेके पापसे अधिक पापको बांधता है।

मक्खन (नवनीत) के दोष।

मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः।
द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्संसजन्त्यंगिराशयः ॥ ७ ॥

अर्थ—धार्मिक पुरुष मधुकी तरह मक्खनको भी छोड़े, क्योंकि मक्खनमें भी दो मुहूर्तके बादमें निरंतर बहुतसे प्राणियोंके समूह उत्पन्न होते रहते हैं।

पंच उदुम्बर फल के दोष

पिप्पलोदुम्बरप्लक्ष-वटफल्गुफलान्यदन्।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः ॥८॥

अर्थ—गीले अथवा सूके भी पीपर, ऊमर, पाकर बड़ तथा कठूमर इन पाँच उदम्बर आदि फलोंको खानेवाला पुरुष त्रस जीवोंको और रागके संबंधसे अपनी आत्माको भी नष्ट करता है।

श्रावकके अष्ट मूलगुण

मद्योदुम्बरपञ्चकामिषमधुत्यागाः कृपा प्राणिनां।
नक्तं भुक्तिविमुक्तिराप्तविनुतिस्तोयं सुवस्त्रस्नुतम् ॥
एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैरागारिणां कीर्तिता।
एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद् भूतो न गेहाश्रमी ॥ ९ ॥

अर्थ—मद्य, पाँच उदुम्बर, माँस और मधुका त्याग, जीवोंपर दया, रात्रिभोजनत्याग, आप्तस्तुति, और छानकर पानी पीना ये श्रावकोंके आठ मूलगुण गणधरोंने बताये हैं। ये सभी गुण श्रावकमें रहना चाहिये। इनमेंसे यदि एक भी गुण न हो तो वह श्रावक नहीं हो सकता।

पूजामें द्रव्य चढ़ानेका लौकिक फल

वार्धारा रजसः शमाय पदयोः सम्यक्प्रयुक्ताऽर्हतः ।
सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षताः ॥
यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्त्विषे ।
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः ॥१०॥

अर्थ—पूजन करनेवालेको श्री अर्हन भगवानके दोनों चरणकमलोंमे विधिपूर्वक चढ़ाई गई जलकी धारासे पापोंकी शान्ति, उत्तम चन्दनसे शरीरकी सुगंधि, अक्षतसे विभूति निरंतर बने रहनेकी, पुष्पसे स्वर्गीय मन्दारवृक्षकी पुष्पमालाकी, नैवेद्यसे लक्ष्मीके स्वामीपनेकी, दीपसे कान्तिकी, धूपसे उत्कृष्ट सौभाग्यकी, फलसे मनोवांछित फलकी और अर्घसे संसारमें विशेष मान तथा प्रतिष्ठाकी प्राप्ति होती है।

पूजाका लोकोत्तर फल

चैत्यादौ न्यस्य शुद्धं निरुपरमनिरौपम्यतत्तद्गुणौघ-
श्रद्धानात्सोऽयमर्हन्निति जिनमनघैस्तद्विधोपाधिसिद्धैः ।
नीराद्यैश्चारुकाव्यस्फुरदनणुगुणग्रामरज्यन्मनोभि-
र्भव्योऽर्चन् दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु यया कल्पते तत्पदाय॥११

भावार्थ—भक्तिपूर्वक पूजन करनेसे दर्शनविशुद्धिकी प्राप्ति और उसके प्रतापसे कालान्तरमें तीर्थंकर पदवीकी प्राप्ति होती है।

श्रुतपूजक परमार्थसे जिनपूजक ही हैं

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम् ।
न किञ्चिदन्तरं प्राहु-राप्ता हि श्रुतदेवयोः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक शास्त्रकी पूजा करते हैं वे पुरुष परमार्थरीतिसे जिनेंद्रभगवानकी पूजा करते हैं क्योंकि सर्वज्ञदेव, शास्त्र और परमात्मामें कुछ भी अन्तर नहीं है ऐसा कहते हैं। अर्थात् भक्तिभावसे जिनवाणीकी पूजाका आदरभाव रखना ही सच्ची जिनपूजा है। कारण, आप्तपरमेष्ठीने परमार्थसे जिन और जिनवाणीमें अन्तर नहीं बताया है।

ज्ञान और तप पूज्य हैं

ज्ञानमर्च्यं तपोऽङ्गत्वात्तपोऽर्च्यं तत्परत्वतः ।
द्वयमर्च्यं शिवाङ्गत्वात्तद्वन्तोऽर्च्या यथागुणम् ॥ १३ ॥

अर्थ—अनशनादिक तपोंका कारण होनेसे ज्ञान पूज्य है, तप ज्ञानके माहात्म्यका बढ़ानेवाला होनेसे पूज्य है तथा मोक्षके कारण होनेसे दोनों पूज्य हैं और अपने२ गुणोंके अनुसार ज्ञानसे युक्त, तपसे युक्त तथा ज्ञान और तप दोनोंसे युक्त पुरुष भी उत्तरोत्तर अधिक पूज्य हैं।

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वृत्तपञ्चनमस्कृतिः ।
कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—ब्राह्म मुहूर्तमें उठ करके पढ़ा है पंच नमस्कार मंत्रको जिसने ऐसा श्रावक, मैं कौन हूँ, मेरा कौनसा धर्म है, और मेरा क्या व्रत है इस प्रकारसे चिन्तवन करे।

श्रीमंदिरजीमें निषिद्ध कर्म

मध्ये जिनगृहं हासं विलासं दुःकथां कलिम्।
निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत्॥ १५॥

अर्थ—श्रावक मंदिरजीमें हँसीको, चित्तको कलुषित करनेवाली शृंगारकी चेष्टाएँ, काम क्रोधको बढ़ानेवाली कथाएँ, कलहको, निद्राको, थूकना आदि और चारों प्रकारके आहारको न करे।

आत्महितकारी फुटकर पद्य

प्रशमका लक्षण

रागादिषु च दोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम्।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समन्ताद्व्रतभूषणम्॥ १॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी पुरुष रागद्वेषादिक दोषोंमें चित्तके नहीं जानेको प्रशम कहते हैं और यह प्रशम सब व्रतोंका भूषण है।

संवेगका लक्षण

शारीरमानसा-गन्तुवेदनाप्रभवाद्भवात्।
स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते॥ २॥

अर्थ—शारीरिक रोगादिरूप व्याधिको, मानसिक चिंतारूप आधिको और आगंतुक आकस्मिक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले तथा स्वप्न और इंद्रजालके समान अस्थिर संसारसे भय होनेको संवेग कहते हैं।

अनुकम्पाका लक्षण

सत्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः।
धर्मस्य परमं मूल- मनुकम्पां प्रचक्षते ॥ ३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियोंपर चित्तकी दयार्द्रताको दयालु मुनि (श्रीगुरु) अनुकम्पा कहते हैं और यह अनुकम्पा ही धर्मका मुख्य कारण है।

आस्तिक्यका लक्षण

आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमास्तिक्यसंयुतम्।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं युक्तं युक्तिधरेण वा ॥ ४ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ, शास्त्र, व्रत, और सात तत्त्वोंमें अस्तित्व बुद्धि रखनेको आस्तिक पुरुष अथवा युक्तिधर-परीक्षाप्रधानी पुरुष आस्तिक्य कहते हैं।

अन्यायोपार्जित धनकी दशा

अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥ ५ ॥

अर्थ—अन्यायसे उपार्जन किया गया धन अधिकसे

अधिक दश वर्ष तक ही ठहरता है। ग्यारहवें वर्षमें वह सब मूलसहित ही नष्ट हो जाता है।

निंदा करनेका फल

परपरिभवपरिवादा-दात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥ ६ ॥

अर्थ—दूसरेका तिरस्कार तथा उसकी निंदा करनेसे और अपनी प्रशंसा करनेसे प्रत्येक भवमें नीचगोत्रकर्मका बंध होता है। नीचगोत्रकर्मका बंध करोड़ भवोंमें भी छूटना बड़ा ही कठिन है।

अविरोध भावसे त्रिवर्ग पालन न करनेका फल।

यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ ७ ॥

अर्थ—परस्परमें अविरोध भावसे धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंके सेवन किये बिना ही जिसके दिन आते तथा जाते रहते हैं वह पुरुष लुहारकी धौंकनीके समान श्वासें लेता हुआ भी मरे हुएके समान है।

सत्संगका फल।

यदि सत्संगनिरतो भविष्यसि भविष्यसि।
अथ सज्ज्ञानगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥ ८ ॥

अर्थ—यदि तुम सज्जन पुरुषोंकी संगतिमें लीन रहोगे

तो अवश्य ही उत्तम ज्ञानकी गोष्ठीमें पड़कर उत्तम ज्ञानको प्राप्त करोगे।

आत्मचरित्रका निरीक्षण

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नुमे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति ॥ ९ ॥

अर्थ—मनुष्यको प्रतिदिन अपने द्वारा किये गये कार्यों को देखना चाहिये और फिर विचार करना चाहिये कि आज मैंने कौनसे कार्य तो पशुओंके समान किये हैं तथा कौनसे कार्य सज्जन पुरुषोंके समान किये हैं।

कृतज्ञता और कृतघ्नताका फल

विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम्।
गुणैरुपेतोऽप्यखिलैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥१०॥

अर्थ—यदि तुम अपने इस परिवार और समस्त लोगोंको अपने वशमें करना चाहते हो तो सर्वप्रथम कृतज्ञ बनो। क्योंकि सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त भी कृतघ्नी पुरुष समस्त लोगोंको पीड़ित कर देता है।

दया धारण करनेमें अपूर्व युक्तिका निर्देश

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वीत मानवः ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार तुमको अपने प्राण प्रिय हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवोंको भी अपने२ प्राण प्रिय हैं। इसलिये मनुष्योंको अपने समान ही सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करना चाहिये।

दूसरोंके प्रति उत्तम व्यवहार करो

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ १२ ॥

अर्थ—धर्मके सारको सुनो तथा सुन करके उसपर विचार करो, क्योंकि सम्पूर्ण धर्मका सार यही है कि जो कार्य अपने प्रतिकूल है उन कार्योंको दूसरोंके प्रति मत करो अर्थात् दूसरोंके द्वारा किये गये जिन कार्योंसे तुमको दुःख होता है उन कार्योंको तुम दूसरोंके प्रति भी मत करो।

पांच उदुम्बरफलोंके दोष।

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष-न्यग्रोधादिफलेष्वपि।
प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥
ससंख्यजीवव्यपघातवृत्तिभिर्न धीवरैरस्ति समं समानता।
अनंतजीवव्यपरोपकारिणामुदुम्बराहारविलोलचेतसाम् ॥ १३॥

अर्थ—इन पाँच उदुम्बरोंमें भी स्थूल प्राणी तो प्रत्यक्ष दीखते हैं। तथा शास्त्रानुसार सूक्ष्मजीव भी पाये जाते हैं। पाँच उदुम्बरोंके खानेकी जिनके चित्तमें लोलुपता है वे

अनन्त जीवोंके वध करनेवाले हैं अतः उनकी संख्यात जीवोंको मारकर आजीविका करनेवाले धीवरोंके साथ भी समानता नहीं है।

जिनधर्मके उपदेश सुननेके पात्र।

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवंति पात्राणि शुद्धधियः॥ १४॥

अर्थ—अनिष्ट, दुस्तर और पापोंके घर जो सप्तव्यसन हैं उनको छोड़कर और अट मूलगुण धारणकर शुद्ध हुई है बुद्धि जिनकी ऐसे गृहस्थ जिनधर्मके उपदेश सुनने के पात्र हैं।

श्रावक का धर्म।

दानं पूजा जिनः शीलमुपवासश्चतुर्विधः।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्य पावकः॥ १५॥
आराध्यंते जिनेंद्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिके प्रीतिरुच्चैः।
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या॥
तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं।
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः॥१६॥

अर्थ—पात्रदान, जिनपूजा, शील पालना और चार प्रकारका उपवास करना यह संसारका भस्म करनेवाला श्रावकोंका धर्म है। जिस गृहावस्थामें जिनेंद्रकीपूजा, गुरुकी विनय, धार्मिकोंसे गाढ़ी प्रीति, पात्रदान, करुणा-

बुद्धि, विपद्ग्रस्तोंकी सहायता, निर्मल सम्यग्दर्शनकी पूजा, तत्त्वाभ्यास और अपने व्रतोंमें अनुराग पाया जाता है वही विवेकियोंका सच्चा गृहस्थाश्रम है और जहाँ यह बातें नहीं हैं तो केवल दुःखद मोहका जाल है, गृहस्थाश्रम नहीं।

—❀— समयसारकलश —❀—

(श्री अमृतचन्द्राचार्य)

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥ ७७ ॥

अर्थ—विपदाओंसे रहित एक आत्माके शुद्ध पदका ही स्वाद लेना चाहिये। जिसके सामने और सब पद अयोग्य प्रतिभासित होते हैं।

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं। विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥२४-३॥

अर्थ—जो कोई नयपक्षपात छोड़कर सदैव आत्मस्वरूपमें रत रहते हैं वे ही विकल्पसमूहकी मुक्तिद्वारा शान्तचित्त होते हुए साक्षात् आत्मामृत का पान करते हैं।

स्वागताछन्दः।

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहानिधिरस्मि ॥३०

अर्थ—यह मोह मेरा कुछ भी नहीं है, कुछभी नहीं है। सर्वाङ्गरूपसे निजरसरूप जो चैतन्यका परिणामन उससे परिपूर्ण भाववाला ऐसा मैं इस लोकमें आपहीकरि अपने एक आत्मस्वरूपका अनुभव करूँ हूँ। वस्तुतः मैं शुद्ध चैतन्यके समूहरूप तेजःपुँजका निधि हूँ।

विशेष—मोहके स्थानमें राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ए सोलह पद क्रम क्रमसे रखकर अर्थका पुनः पुनः चिंतन-मनन करना चाहिये।

अनुष्टुप् छन्द।

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्त्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे, तत्कर्त्तृता कुतः॥ ८॥

अर्थ—परद्रव्यका और आत्माका कोई भी संबंध नहीं है। कर्ताकर्म संबंधके अभावमें परद्रव्यका कर्त्तापना कैसे संभव है? अर्थात् किसी भी प्रकार नहीं।

वसंततिलका छंद।

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावात्,
शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव॥ ९॥

अर्थ—ज्ञानी न कर्मको कर्ता है और न ही उसका वेदन करता है। मात्र कर्मस्वभावका ज्ञाता है। मात्र ज्ञाता होता हुआ, कर्मकर्तृत्व और कर्म भोक्तृत्वके अभावमें, शुद्धस्वात्मस्वभावमें नियत है। अतः निश्चयसे मुक्त ही है—कर्मोंसे रहित ही है।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली स-
न्ननुभव भवमूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्त्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ॥२३-१॥

अर्थ—अरे भाई! किसी तरह हो, मरकरके भी आत्मीकतत्त्वका प्रेमी हो और दो घड़ीके लिये शरीरादि सर्व मूर्तीक पदार्थोंका तू निकटवर्ती पड़ोसी बन जा, उनको अपनेसे भिन्न जान और आत्माका अनुभव कर। तो तू अपनेको प्रकाशमान देखता हुआ मूर्तीक पदार्थकेसाथ एकताके मोहको झट ही त्याग देगा।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥२-२॥

अर्थ—अरे भाई! वृथा अन्य कोलाहलसे विरक्त हो

और स्वयं ही निश्चिन्त होकर छः मासतक तो एक आत्मतत्त्वका मनन कर तो तेरे हृदयरूपी सरोवरमें पुद्गलसे भिन्न तेजधारी आत्मारामकी क्या प्राप्ति न होगी ? अवश्य होगी।

आ संसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥६-७

अर्थ—हे अन्ध पुरुषों! अनादि संसारसे लेकर प्रत्येक शरीरमें ये प्राणी उन्मत्त होते हुए जिस पदमें सो रहे हैं वह तेरा पद नहीं है, वह तेरा पद नहीं है ऐसा भले प्रकार समझ ले। इधर आ, इधर आ, तेरा पद यह है जहाँ चैतन्य धातुमय आत्मा द्रव्यकर्म व भावकर्म दोनोंसे शुद्ध अपने आत्मीकरससे पूर्ण सदा ही विराजमान रहता है।

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥११-३॥

अर्थ—आत्मा आत्मभावोंका कर्ता है, पर पदार्थ परभावोंका कर्ता है, सदाका यह नियम है। अतः आत्माके जितने भाव हैं वह आत्मरूप ही हैं। परके जितने भाव हैं वे पररूप ही हैं।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ १७-३॥

अर्थ—आत्मा ज्ञानमय है, स्वयं ज्ञान ही है तब वह ज्ञानके सिवाय और क्या करेगा। यह आत्मा परभावोंका कर्ता है, यह व्यवहारी जीवोंका मोह है।

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥२२-३॥

अर्थ—ज्ञानीके सब ही भाव ज्ञानद्वारा किये हुए ज्ञानमई ही होते हैं और अज्ञानीके सर्व ही भाव अज्ञान द्वारा किये हुए अज्ञानरूप ही होते हैं।

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवे,-न्नैवातदात्मन्यपि।
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते, का कर्तृकर्मस्थितिः॥
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो, भारेण भिंदंस्तमो।
ज्ञानीभूय तदा स एव लसितः, कर्तृत्वशून्यः पुमान्॥४-३

अर्थ—व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूपमें ही होता है अतत् स्वरूपमें नहीं होता है। व्याप्यव्यापक भावके संभव विना कर्ताकर्मकी स्थिति कैसी और कौनसी? अर्थात् कुछ भी नहीं। ऐसा उदार विवेकरूप और घस्मर कहिये सभीको ग्रसीभूत करनेका स्वभाव धारण करनेवाला ऐसा जो ज्ञानस्वरूप तेजप्रकाश, उसके भारद्वारा अज्ञानरूपी अंधकारको भेद करके और ज्ञानी होकर यह आत्मा उस समय परभावके कर्तापनेसे रहित ही शोभता है।

भावार्थ—जो सभी अवस्थाओंमें पाया जावे—व्याप्त रहे उसे व्यापक कहते हैं और जो अवस्था विशेषमें पाया जावे उसे व्याप्य कहते हैं। ऐसे द्रव्य व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्यपर्याय अभेदरूप ही हैं। जो द्रव्यका आत्मा सो ही पर्यायका आत्मा; सो ऐसा व्याप्यव्यापकभाव तत्स्वरूपमें ही होता है, अतत्स्वरूपमें नहीं। बिना व्याप्य-व्यापक भावके कर्ताकर्मभाव नहीं हो सकता ऐसा जो जानता है सो पुद्गल और आत्माके कर्ताकर्मभाव नहीं जानता है अतः ज्ञानी होकर कर्ताकर्मभावसे रहित होता है अतः वह मात्र ज्ञाता और द्रष्टा ही है।

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं, प्राणाः किलास्यात्मनो।
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया, नोच्छिद्यते जातुचित्॥
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवे,त्त-द्भीः कुतो ज्ञानिनो।
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा विन्दति॥२७७॥

अर्थ—प्राणोंके वियोगको मरण कहते हैं। निश्चयसे इस आत्माका प्राण ज्ञान है और वह स्वयं ही नित्य है, उसका कभी भी नाश नहीं होता है अतः उसका मरण हो नहीं सकता। तब ज्ञानीको मरणका भय कहाँ? वह सतत निःशङ्क रहता हुआ सदा ही स्वयं अपने सहज ज्ञानका स्वाद लेता है।

न जातु रागादिनिमित्तभाव,—मात्माऽऽत्मनोयाति यथार्ककान्तः। तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव, वस्तुस्वभावोऽय-मुदेति तावत् ॥ १३-८ ॥

अर्थ—यह आत्मा अपनेसे रागादिकके निमित्तभावको कभी भी प्राप्त नहीं होता है, उस आत्मामें रागद्वेषादि विभा-वोंमें परिणमनेका निमित्त परद्रव्यका संग ही है, जैसे सूर्य-कान्तमणि आप ही अग्निरूप परिणमन नहीं करती है, परंतु उसमें सूर्यका बिम्ब अग्निरूप होनेके लिये निमित्त है, इसी प्रकार आत्मामें जानना। यह वस्तुका स्वभाव स्वयं ही उदयको प्राप्त हो रहा है किसीका किया हुआ नहीं है।

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६-१०

अर्थ—ज्ञानी न तो स्वतंत्र होकर कर्मोंको करता है न उनको वेदता है। केवल उनके स्वभावका ज्ञाता ही है। कर्त्ता-भोक्तापनाके अभावसे मात्र जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्धस्वभावमें नियत है अतः निश्चयकरि मुक्त ही है-कर्मोंसे छुट्या हुआ ही है।

भावार्थ—जबतक ज्ञानी निबलाई अवस्थामें है तबतक कर्म भले ही अपना जोर चला ले परंतु ज्ञाता अवस्थाकी

क्रमशः सबलाई बढ़नेपर वह अवश्य ही कर्मोंका निर्मूल नाश करेगा ।

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तंडुलम् ॥४९-१०॥

अर्थ—जो जन व्यवहारमें ही मोही बुद्धि हो रहे हैं वे परमार्थको नही जानते हैं। जैसे लोकमें जो जन तुसहीके (भूसीहीके) ज्ञानमें मोही बुद्धि हैं वे तुस ही को तंदुल जाने हैं। तंदुलको तंदुल नहीं जानते हैं। अर्थात् परमार्थ आत्म-स्वरूपको जाने बिना परमार्थ आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती जैसे परालके कूटनेवालेको तंदुलकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥ ३७-१० ॥

अर्थ—कर्मरूपी विषवृक्षोंके फल मेरे भोगे विना ही गल जाओ। मैं तो अपने ही निश्चल एक चैतन्यभावको ही भोगता हूँ ।

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के,
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ ४ ॥

अर्थ—निश्चयनय और व्यवहारनयके विरोधको मेटनेवाली, 'स्यात्' पदसे अङ्कित जिनवाणीमें जो रमण करते हैं, उनका मिथ्यात्वभाव स्वयं गल जाता है। तब वे शीघ्र ही अतिशय करके परम ज्योतिस्वरूप, प्राचीन, किसी भी खोटी युक्तिसे अखण्डित शुद्ध आत्माका अनुभव कर ही लेते हैं।

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या,
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निविश्य सुनिःप्रकम्प—
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥

अर्थ—शुद्धनयस्वरूप जो शुद्ध आत्माकी अनुभूति है यही ही निश्चय सम्यग्ज्ञानकी सच्ची अनुभूति है, ऐसा जान करके जब कोई अपने आत्माको अपने आत्मामें धारण करता है तब वहाँ सर्व तरफसे नित्य ही एक ज्ञानघन आत्मा ही स्वादमें आता है।

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था,
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५—३॥

अर्थ—अग्नि और जलकी उष्णपणा व शीतपणाकी व्यवस्था

ज्ञानके ही प्रतापसे जानी जाती है, लवण और व्यंजनके स्वादका भेद ज्ञानसे ही अलग २ भासता है। यह ज्ञानका ही माहात्म्य है जिससे क्रोधका मैं कर्त्ता हूँ, इस अज्ञानका नाश होकर ऐसा झलकता है कि मैं क्रोधादिकी कलुषतासे भिन्न अपने आत्मीकरससे विकासरूप होता हुआ चैतन्य धातुमय आत्मा मात्र हूँ।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो,
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः,
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः॥२२-०१

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि शुद्धनयके निपरूणमें जिसकी बुद्धि लगी हुई है और तत्त्वको अनुभवता है ऐसेपुरुषके एक द्रव्यके भीतर दूसरा द्रव्य कुछ भी कभी भी नहीं प्रतिभासता है। ज्ञान ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थोंको जानता है सो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है तब परद्रव्यके ग्रहणके लिये आकुलबुद्धि अज्ञानी जन शुद्धात्माके अनुभवसे क्यों पतन कर रहे हैं? अर्थात् अपने शुद्धज्ञानके प्रकाशका माहात्म्य लखो।

❀ इति ❀

❀ नमः प्रवचन साराय ❀

—❀ श्री प्रवचन सार-पद्य ❀—

ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन

(हरिगीत)

सुर-असुर-नरपतिवंद्यने[1], प्रविनष्ट घातिकर्मने ।
प्रणमन करूं हूँ[2] धर्मकर्त्ता तीर्थ श्रीमहावीरने ॥ १ ॥
वली[3] शेष तीर्थंकर अने सौ[4] सिद्ध शुद्धास्तित्वने ।
मुनि ज्ञान-दृग[5]-चारित्र-तप-वीर्याचरण संयुक्तने ॥ २ ॥
ते सर्वने साथे तथा प्रत्येकने प्रत्येकने ।
वंदु वली हुं मनुष्य क्षेत्रे वर्तता अर्हंतने ॥ ३ ॥
अर्हंतने श्री सिद्धने य[6] नमस्करण करी ए[7] रीते ।
गणधर अने अध्यापकोने[8] सर्व साधु समूहने ॥ ४ ॥
तसु शुद्ध दर्शन ज्ञान मुख्य पवित्र आश्रम पामीने[9] ।
प्राप्ति करूं हुं साम्यनी, जेनाथी[10] शिवप्राप्ति बने[11] ॥ ५ ॥
सुर असुर-मनुजेन्द्रो तणा विभवो सहित निर्वाणनी ।
प्राप्ति करे चारित्रथी जीव ज्ञानदर्शन मुख्य थी ॥ ६ ॥
चारित्र छे[12] ते[13] धर्म छे, जे[14] धर्म छे-ते साम्य छे ।
ने[15] साम्य जीवनो मोह क्षोभ विहीन निज परिणाम छे ॥७

---

१ को। २ मैं। ३ अनंतर। ४ सब। ५ दर्शन। ६ भी। ७ इस। ८ उपाध्यायों को। ९ प्राप्तकरके। १० जिससे। ११ हो। १२ है। १३ वह। १४ जो। १५ और।

जे[1] भावमां प्रणमे[2] द्रव, ते काल तन्मयते कह्युं,
जीवद्रव्य तेथी[3] धर्ममां प्रणमेल धर्म ज[4] जाणवुं ॥८॥
शुभ के[5] अशुभमां प्रणमतां शुभ के अशुभ आत्मावने।
शुद्धे प्रणमतां शुद्ध परिणाम स्वभावी होइने[6] ॥ ९ ॥
परिणाम विण[7] न पदार्थ, ने न पदार्थ विण परिणाम छे।
गुण-द्रव्य-पर्यय स्थित ने अस्तित्व सिद्ध पदार्थ छे॥१०॥
जो[8] धर्म परिणत स्वरूप जीव शुद्धोपयोगी होय तो।
ते पामतो[9] निर्वाण सुख, ने स्वर्ग सुख शुभ युक्त जो ॥११
अशुभोदये आत्मा कुनर तिर्यंच ने नारकपणे[10]।
नित्ये सहस्र दुःखे पीडित संसारमां अति अति भमे[11]॥१२
अत्यंत. आत्मोत्पन्न, विषयातीत,अनुप अनंत ने।
विच्छेद[12] हीन छे सुख अहो! शुद्धोपयोग[13] प्रसिद्ध ने॥१३॥
सुविदित सुभ पदार्थ, संयम तप सहित वीतराग ने,
सुख दुःखमां सम श्रमणने शुद्धोपयोग जिनो कहे॥१४॥
जे उपयोग विशुद्ध ते मोहादि घाति रज थकी।
स्वयमेव रहित थयो थको ज्ञेयान्त ने पामे सही॥१५॥
सर्वज्ञ, लब्ध स्वभावने त्रिजगेंद्र पूजित ए रीते।
स्वयमेव जीव थयो थको तेने स्वयंभू जिनो कहे॥१६॥

१ जिस। २ परिणमित हो। ३ अतएव। ४ ही। ५ अथवा। ६ होकर। ७ बिना। ८ यदि। ९ प्राप्त करता है। १० नारकरूप। ११ भ्रमे। (भ्रमण करे)। १२ बाधारहित। १३ शुद्धोपयोगी को।

व्यय हीन छे उत्पाद ने[1] उत्पाद हीन विनाश छे ।
तेने ज वली[2] उत्पाद ध्रौव्य विनाशनो समवाय छे ॥१७॥
उत्पाद तेम[3] विनाश छे सौ[4] कोई वस्तु मात्र ने ।
वली[5] कोई पर्यय थी दरेक[6] पदार्थ छे सद्भूत खरे[7] ॥१८॥
प्रक्षीण घाति कर्म, अनहद वीर्य, अधिक प्रकाशने ।
इंद्रिय-अतीत थयेल[8] आत्मा ज्ञानसौख्ये परिणमे ॥१९॥
कंइ[9] देहगत नथी सुख के नथी दुःख केवलज्ञानीने ।
जेथी अतींद्रियताथई ते कारणे ए जाणजो[10] ॥ २० ॥
प्रत्यक्ष छे सौ द्रव्यपर्यय ज्ञान परिणाम[11] नारने ।
जाणे नहीं ते तेमने अवग्रह-ईहादिक्रिया वडे[12] ॥ २१ ॥
न परोक्ष कंइ पण[13] सर्वतः सर्वाक्षगुण समृद्धने ।
इन्द्रिय-अतीत सदैव ने स्वयमेव ज्ञान थयेलने ॥ २२ ॥
जीव द्रव्य ज्ञान प्रमाण भाख्यूं[14] ज्ञान ज्ञेयप्रमाण छे ।
ने ज्ञेय लोकालोक तेथी[15] सर्वगत ए[16] ज्ञान छे ॥२३॥
जीव द्रव्य ज्ञान प्रमाण नहि—ए मान्यता छे जेह[17] ने ।
तेना मते जीव ज्ञानथी हीन के अधिक अवश्य छे ॥२४॥
जो हीन आत्मा होय, नव जाणे अचेतन ज्ञान ए ।
ने अधिक ज्ञानथी होय तो वण[18] ज्ञान क्यम जाणे अरे ॥२५

१ और । २ युक्त । ३ उसी प्रकार । ४ सब ।५ तो भी । ६ प्रत्येक । ७ अवश्य । ८ हुये । ९-कुछ । १०जानना । ११ परिणमित होनेवाले को । १२ द्वारा । १३ भी । १४ कहा । १५ इसलिये । १६ यह । १७ जिसकी । १८ विना ।

छे सर्वगत जिनवर अने[1] सौ अर्थ जिनवर प्राप्त छे।
जिन ज्ञान मय ने सर्व अर्थो विषय जिनना[2] होई[3] ने ।।२६।।
छे ज्ञान आतमा जिनमते आतमा विना नहि ज्ञान छे,
ते कारणे छे जीव, जीव ज्ञान छे वा अन्य छे ।। २७ ।।
छे 'ज्ञानी' ज्ञानस्वभाव अर्थो ज्ञयरूप छे 'ज्ञानी' ना।
ज्यम[4] रूप छे नेत्रो तणां[5], नहि वर्तता अन्योन्यमां ।।२८।।
ज्ञेये प्रविष्ट न, अणप्रविष्ट न, जाणतो जग सर्व ने।
नित्ये अतींद्रिय आतमा, ज्यम नेत्रजाणे रूपने ।। २९ ।।
ज्यम दूधमां स्थित इन्द्रनीलमणि स्वकीय प्रभावड़े[6]।
दूधने विषे व्यापी रहे त्यम[7] ज्ञान पण अर्थो विषे ।। ३० ।।
नव[8] होय अर्थो ज्ञानमां, तो ज्ञान सौ-गत[9] पण नहि।
ने सर्वगत छे ज्ञान तो क्यम[10] ज्ञानस्थित अर्थो नहि? ।।३१
प्रभुकेवली न ग्रहे, न छोडे, पर रूपे नवपरिणमे।
देखे अने जाणे निःशेषे सर्वतः ते[11] सर्व ने ।। ३२ ।।
श्रुतज्ञानथी जाणे खरे ज्ञायकस्वभावी आत्मने।
ऋषिओ प्रकाशक लोकना श्रुतकेवली तेने कहे ।।३३।।
पुद्गलस्वरूप वचनोथी जिन-उपदिष्ट जे[12] ते[13] सूत्रछे।
छे ज्ञप्ति तेनी ज्ञान, तेने[14] सूत्रनी[15] ज्ञप्ति कहे ।। ३४ ।।
जे जाणतो ते ज्ञान, नहि जीव ज्ञानथी ज्ञायकबने।
पोते[16] प्रणमतो[17] ज्ञानरूप, ने ज्ञान स्थित सौ[18] अर्थ छे ।।३५।।

---

१ और। २ जिनेन्द्र देव के। ३ होने से। ४ जैसे। ५ का। ६ द्वारा। ७ वैसे। ८ नहीं। ९ सवगतत्व। १० क्यों। ११ वे। १२ जो। १३ वह। १४ उसको। १५ श्रुतज्ञान। १६ स्वयं। १७ परिणमता है। १८ सब।

छे ज्ञान तेथी जीव ज्ञेय त्रिधा कहेलु[1] द्रव्य छे।
ए द्रव्य पर ने आतमा, परिणाम संयुक्त जेह[2] छे ॥३६॥
ते द्रव्यना सद्भूत[3]-असद्भूत पर्ययो सौ[4] वर्तता।
तत्कालना पर्याय जेम[5], विशेष पूर्वक ज्ञानमां ॥ ३७ ॥
जे पर्ययो अणजात[6] छे, वली[7] जन्मीने प्रविनष्ट जे।
ते सौ असद्भूत पर्ययो[8] पण[9] ज्ञानमां प्रत्यक्ष छे ॥३८॥
ज्ञाने अजात-विनष्ट पर्यायो तणी[10] प्रत्यक्षता।
नव[11] होय जो[12] तो ज्ञानने ए दिव्य कोण कहे भला॥३९।
ईहादि पूर्वक जाणता जे अक्षपतित[13] पदार्थ ने।
तेने परोक्ष पदार्थ जाणवुं शक्यना[14]-जिनजी कहे ॥ ४० ॥
जे जाणतुं अप्रदेशने सप्रदेश, मूर्त अमूर्तने।
पर्याय नष्ट-अजातने[15], भाख्युं अतींद्रिय ज्ञान ते ॥ ४१ ॥
जो ज्ञेय अर्थे परिणमे ज्ञाता, न क्षायिक ज्ञान छे।
ते कर्मने ज[16] अनुभवे छे एम[17] जिनदेवो कहे ॥ ४२ ॥
भाख्यां जिने कर्मो उदयगत नियमथी संसारीने।
ते कर्म होतां[18] मोही-रागी-द्वेषी बंध अनुभवे ॥ ४३ ॥
धर्मोपदेश, विहार. आसन, स्थान[19] श्रीअर्हंतने।
वर्ते सहज ते कालमां मायाचरण ज्यम[20] नारीने ॥४४॥

१ कहागया। २ जो। ३ विद्यमान-अविद्यमान। ४ समस्त। ५ सदृश। ६ अनुत्पन्न। ७ अथवा। ८ पर्यायें। ९ भी। १० की। ११ न। १२ यदि। १३ इन्द्रियगोचर। १४ अशक्य। १५ अनुत्पन्न को। १६ ही। १७ ऐसा। १८ होनेसे। १९ ठहरना। २० जैसे।

छे पुण्यफल अर्हंत, ने अर्हंतकिरिया उदयिकी[1] ।
मोहादि थी विरहित तेथी ते क्रिया क्षायिक गणी ॥४५॥
आत्मा स्वयं निज भाव थी जो शुभ-अशुभ बने नहि ।
तो सर्व जीवनिकाय[2] ने संसार पण वर्ते नहि ? ॥४६॥
सौ[3] वर्तमान अवर्तमान, विचित्र विषम पदार्थ ने ।
युगपत सरवतः[4] जाणतुं ते ज्ञान ज्ञायिक जिनकहे ॥४७॥
जाणे नहि युगपद् त्रिकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थ ने ।
तेने सपर्यय[5] एक पण नहि द्रव्य जाणवु शक्य छे ॥४८॥
जो एक द्रव्य अनंत पर्यय[6] तेमँ[7] द्रव्य अनंत ने ।
युगपद् न जाणे जीव, तो ते केम जाणे सर्वने ? ॥४९॥
जो ज्ञान 'ज्ञानी' नु[7] उपजे क्रमशः अरर्थ[8] अवलंबी[9] ने ।
तो नित्य नहि, क्षायिक नहि ने सर्वगत नहि ज्ञान ए॥५०॥
नित्ये विषम,[10] विधविध,[11] सकलपदार्थगण सर्वत्रनो,
जिनज्ञान जाणे युगपदे, महिमा अहो ए ज्ञाननो ॥५१॥
ते अर्थरूप न परिणमे जीव नव ग्रहे नव ऊपजे ।
सौ अर्थ ने जाणे छेतां[12] तेथी अबंधक जिन कहे ॥५२॥
अर्थोनु ज्ञान अमूर्त, मूर्त, अतींद्रिने ऐन्द्रिय[13] छे ।
छे सुख पण एवुज[14] त्यां परधान[15] जे ते ग्राह्य छे ॥५३॥

१ औदयिक । २ जीव समूह को ३ संपूर्ण । ४ सर्वतः । ५ पर्यायसहित । ६ अनंत पर्याय वाला । ७ के । ८ अर्थ । ९ सहायता । १० असमान जातीय । ११ अनेक प्रकारके । १२ तोभी । १३ ऐन्द्रियक । १४ ऐसा ही । १५ प्रधान (उत्तम) ।

देखे अमूर्तिक, मूर्तमांय[1] अतींद्रिय ने प्रच्छन्न ने ।
ते सर्वने-पर के स्वकीय ने, ज्ञान ते प्रत्यक्ष छे ॥ ५४ ॥
पोते[2] अमूर्तिक जीव मूर्त शरीरगत ए मूर्त थी ।
कदी[3] योग्य मूर्त अवग्रही जाणे कदीक[4] जाणे नही ॥५५॥
रस गंध, स्पर्श वली[5] वरण ने शब्द जे पौद्गलिक ते ।
छे इन्द्रिय विषयो, तेमने य[6] न इन्द्रियो युगपद ग्रहे॥५६॥
ते इन्द्रियो परद्रव्य, जीवस्वभाव भाखी न तेमने,
तेनाथी जे उपलब्ध ते प्रत्यक्ष कई[7] रीत जीवने ॥५७॥
अर्थो तणुं[8] जे ज्ञान परतः थाय[9] तेह परोक्ष छे;
जीवमात्रथी ज जणाय जो, तो ज्ञान ते प्रत्यक्ष छे ॥५८॥
स्वयमेव जात, समंत.[10] अर्थ अनंतमां विस्तृत ने ।
अवग्रह-ईहादि रहित, निर्मल ज्ञान सुख एकान्त छे ॥५९॥
जे ज्ञान 'केवल'[11] तेज सुख, परिणाम पण वली तेज छे।
भाख्यो न तेमां खेद[12] जेथी घातिकर्म विनिष्ट छे ॥६०॥
अर्थान्तगत छे ज्ञान, लोकालोक विस्तृत दृष्टि छे।
छे नष्ट सर्व अनिष्ट ने जे इष्ट ते सौ प्राप्त छे ॥ ६१ ॥
सुणी 'घातिकर्मविहीननुं सुख सौ सुखे उत्कृष्ट छे' ।
श्रद्धे न तेह अभव्य छे[14], ने भव्य ते संमत करे ॥ ६२ ॥

१ मूर्तिको को भी (मूर्तपदार्थों को भी)। २ स्वयं। ३ कभी। ४ कदाचित्। ५ तथा। ६ भी। ७ किसप्रकार। ८ से। ९ होवे १० समस्त, अखंड। ११ मात्र अथवा केवलज्ञानात्मक। १२ आकुलता। १३ वे। १४ स्वीकार करते है।

सुर-असुर-नरपति पीड़ित वर्ते सहज[1] इन्द्रिय वड़े,[2]
नव[3] सही शके ते दुःख तेथी रम्य-विषयोमां रमे ॥६३॥
विषयो विषे रति जेमने,[4] दुःख छे स्वाभावकि तेम[5] ने;
जो ते न होय स्वभाव तो व्यापार नहि विषयो विषे ॥६४॥
इन्द्रियो समाश्रित इष्ट विषयो पामीने,[6] निज भावथी।
जीव प्रणमतो[7] स्वयमेव सुख रूप थाय, देह थतो[8] नथी॥६५
एकान्तथी स्वर्गेय देह करे नहि सुख देहीने[9]।
पण विषयवश स्वयमेव आत्मा सुख वा दुःख थाय छे॥६६
जो दृष्टि प्राणीनी तिमिरहर तो कार्य छे नहि दीपथी;
ज्यां[10] जीव स्वयं सुख परिणामे, विषयो करे छे शु[11] तहीं?[12]।६७
ज्यम[13] आभामां स्वयमेव भास्कर उष्ण, देव, प्रकाश छे,
स्वयमेव लोके सिद्ध पण त्यम[14] ज्ञान, सुख ने देव छे ॥६८
गुरु-देव यतिपूजा विषे वली दान ने सुशील विषे।
जीव रक्त[15] उपवासदिके, शुभ-उपयोग स्वरूप छे। ६९॥
शुभयुक्त आत्मा देव वा[16] तिर्यंच वा मानव बने।
ते पर्यये तावत्समय इन्द्रिय सुख विधविध[17] लहे ॥७०॥
सुरनेय सौख्य स्वभावसिद्ध[18] न-सिद्ध छे आगमविषे।
ते देहवेदन थी पीड़ित रमणीय विषयो मां रमे ॥७१॥

१ स्वाभाविक। २ द्वारा। ३ नहीं। ४ जिसको। ५ उसको।
६ प्राप्त करके। ७ परिणमता है। ८ होता। ९ आत्माको। १० जहां।
११ क्या। १२ वहां। १३ जैसे। १४ वैसे। १५ आसक्त, लवलीन,
आरूढ। १६ अथवा। १७ विविध। १८ स्वाभाविक, आत्मीक।

तिर्यंच नारक-सुर-नरो जो देहगत दुख अनुभवे ।
तो जीवनो उपयोग ए शुभने अशुभ कई[१] रीति छे ॥७२॥
चक्री अने देवेन्द्र शुभ-उपयोग मूलक भोगथी ।
पुष्टि करे देहादिनी, सुखी सम दीसे[२] अभिरत रही ॥७३॥
परिणामजन्य अनेक विध जो पुण्यनुं अस्तित्व छे ।
तो पुण्य ए[३] देवान्त जीवने विषयतृष्णोद्भव करे ॥ ७४ ॥
ते उदित तृष्णा जीवो, दुःखित तृष्णा थी विषयिक[४] सुखने ।
इच्छे अने आमरण[५] दुःखसंतप्त तेने भोगवे ॥ ७५ ॥
परयुक्त, बाधासहित, खंडित, बंधकारण, विषम छे ।
जे इन्द्रियो थी लब्ध ते सुख ए रीते दुखज खरे ॥७६॥
नहि मानतो—ए रीत पुण्ये पापमां न विशेष छे ।
ते मोहथी आच्छन्न घोर अपार संसारे भमे[६] ॥ ७७ ॥
विदितार्थ[७] ए रीत, रागद्वेष लहे[८] न जे द्रव्यो विषे ।
शुद्धोपयोगी जीव ते क्षय देहगत दुःखनो करे ॥ ७८ ॥
जीव छोड़ी पापारंभने शुभचरितमां उद्यत भले ।
जो नव[९] तजे मोहादिने तो नव लहे शुद्धात्मने ॥ ७९ ॥
जे जाणतो अर्हंतने गुण, द्रव्य ने पर्यय पणे ।
ते जीव जाणे आत्मने तसु[१०] मोह पामे लय खरे[११] ॥८०॥

१ किस । २ मालूम पड़े । ३ यह । ४ विषयजन्य । ५ मरण-तक । ६ भ्रमण करता है । ७ स्वरूप जानकर । ८ करे । ९ नहीं । १० उसका । ११ अवश्य ।

जीव मोहने करी दूर, आत्मस्वरूप सम्यक् पामीने[1] ।
जो रागद्वेष परिहरे तो पामतो[2] शुद्धात्मने । ८१ ॥
अर्हंत सौ कर्मो तणो करी नाश ए ज विधिवडे ।
उपदेश पण एमज[3] करी, निवृत थया; नमुं तेमने ॥८२॥
द्रव्यादिके मूढ़ भाव वर्ते जीवने, ते मोह छे ।
ते मोहथी आच्छन्न रागी-द्वेषी थई क्षोभित बने ॥ ८३ ॥
रे ! मोहरूप वा रागरूप वा द्वेष परिणत जीवने ।
विधविध[5] थाये बंध, तेथी सर्व ते क्षययोग्य छे ॥ ८४ ॥
अर्थोतणुं अयथाग्रहण[6], करुणा मनु ज तिर्यंचमां ।
विषयो तणो वली संग[7],—लिंग जाणवां आ मोहना ॥८५॥
शास्त्रो वडे प्रत्यक्षआदिथी जाणतो जे अर्थ ने ।
तसु मोह पामे नाश निश्चय; शास्त्र समध्ययनीय[8] छे ॥८६॥
द्रव्यो, गुणो ने पर्ययो सौ 'अर्थ' सञ्ज्ञा थी कह्यां ।
गुण-पर्ययो नो आत्मा[9] छे द्रव्य जिन उपदेशमां ॥ ८७ ॥
जे पामी जिन-उपदेश हणतो[10] रागद्वेष विमोहने ।
ते जीव पामे अल्पकाले सर्व दुःख विमोक्षने ॥ ८८ ॥
जे ज्ञानरूप निज आत्मने, परने वली निश्चय वडे ।
द्रव्यत्वथी[11] संबद्ध जाणे मोह नो क्षय ते करे । ८९ ॥

१ प्राप्त करके । २ प्राप्त करता है । ३ ऐसा ही । ४ पर द्रव्यादिकों में । ५ विविध, अनेकप्रकार का । ६ अन्यथा ग्रहण, (विपरीत श्रद्धा) । ७ प्रीतिअप्रीतिपरिणाम । ८ अध्ययन करनेयोग्य, मननीय । ९ स्वरूप, सत्व, समूह । १० नष्ट करता, क्षय करता । ११ स्वयोग्य द्रव्यत्व से ।

तेथी यदि जीव इच्छतो निर्मोहिता निज आत्मने ।
जिन मार्ग थी द्रव्यो महीं[1] जाणो स्व-परने गुण वडे[2] ॥९०
श्रामण्यमां सत्तामयी सविशेष आ द्रव्यो तणी ।
श्रद्धा नहि, ते श्रमण ना; तेमांथी धर्मोद्भव नहि ॥ ९१ ॥
आगम विषे कौशल्य[3] छे, ने मोहदृष्टि विनष्ट छे ।
वीतराग—चरितारुढ़ छे, ते मुनि-महात्मा 'धर्म' छे ॥९२॥

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन ।

छे अर्थ द्रव्यस्वरूप, गुण-आत्मक कह्यां छे द्रव्य ने ।
वणी द्रव्य-गुण थी पर्ययो; पर्यायमूढ़ परसमय[4] छे ।.९३॥
पर्याय मां रत जीव जे ते 'पर समय' निर्दिष्ट छे ।
आत्मस्वभावे स्थित जे ते 'स्वक समय[5]' ज्ञातव्य छे ॥९४॥
छोड्या विना ज स्वभावने उत्पाद्-व्यय ध्रुव युक्त छे ।
वली गुण ने पर्यय सहित जे 'द्रव्य' भाख्युं तेहने ॥९५॥
उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशथी, गुणने विविध पर्यायथी ।
अस्तित्व द्रव्यनुं सर्वदा जे, तेह द्रव्यस्वभाव[6] छे ॥ ९६ ॥
विधविध लक्षणीनुं सरव गत[7] 'सत्व' लक्षण एक छे ।
-ए धर्म ने उपदेशता[8] जिनवरवृषभ निर्दिष्ट छे ॥ ९७ ॥
द्रव्यो स्वभावे सिद्ध ने 'सत्'—तत्त्वतः श्री जिनो कहे ।
ए सिद्ध छे आगम थकी[9], माने न ते परसमय छे ॥ ९८ ॥

---

१ में । २ द्वारा । ३ प्रवीणता । ४ मिथ्या दृष्टि । ५ सम्यग्दृष्टि । ६ द्रव्यत्व । ७ सर्वगत । ८ उपदेष्टा । ९ द्वारा, से ।

द्रव्यो स्वभाव विषे अवस्थित, तेथी 'सत्' सौद्रव्य छे।
उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशयुत परिणाम द्रव्यस्वभाव छे ॥९९॥
उत्पाद भंग[1] विना नहि, संहार सर्ग[2] विना नहि।
उत्पाद तेमज भंग, ध्रौव्य-पदार्थ विण वर्ते नहि ॥१००॥
उत्पाद तेमज ध्रौव्य ने[3] संहार वर्ते पर्यये[4]।
ने पर्ययो द्रव्ये नियमथी, सर्व तेथी द्रव्य छे ॥ १०१ ॥
उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशसंज्ञित अर्थ सह समवेतछे।
एक ज समयमां द्रव्य निश्चय, तेथी ए त्रिक[5] द्रव्य छे।१०२
ऊपजे दरवनो अन्य पर्यय अन्य को[6] विणसे वली[7]।
पण द्रव्य तो नथी नष्ट के उत्पन्न द्रव्य नथी तहीं ॥१०३॥
अविशिष्टसत्त्व[8] स्वयं दरव गुणथी गुणांतर परिणमे।
तेथी वली द्रव्य ज कह्या छे सर्वगुणपर्यायने ॥ १०४ ॥
जो द्रव्य होय न सत् ठरे[9] ज असत बने क्यम द्रव्यए ?
वा भिन्न ठरतुं सत्त्वथी ! तेथी स्वयं ते सत्त्व छे ॥ १०५ ॥
जिन वीरनो उपदेश एम[10]—प्रथक्त्व भिन्नप्रदेशता।
अन्यत्व जाण अतत्पणुं; नहि ते—पणे ते एक क्यां ? ।१०६
'सत् द्रव्य' 'सत् पर्याय', 'सत् गुण'—सत्त्वनो विस्तार छे।
नथी ते-पणे[11] अन्योन्य तेह अतत्पणुं ज्ञातव्य छे ।१०७॥

---

१ व्यय। २ उत्पाद। ३ और। ४ पर्यायमें। ५ त्रयात्मक। ६ कोई। ७ तथा। ८ सत्सामान्य। ९ निश्चित होवे। १० ऐसा। ११ सदा।

स्वरूपे नथी जे द्रव्य ते गुण, गुण ते नहि द्रव्य छे।
आने अतत्पणु[1] जाणवु, न अभावे: भाख्यु जिने॥१०८॥
परिणाम द्रव्यस्वभाव जे, ते गुण 'सत्'-अविशिष्ट छे।
'द्रव्यो स्वभावेस्थित सत छे'—ए ज आ उपदेश छे॥१०९॥
पर्याय के[2] गुण एवु कोई न द्रव्य विण विश्वे दीसे।
द्रव्यत्व छे वली भाव; तेथी द्रव्य पोते[3] सत्व छे॥ ११०॥
आवु[4] दरब द्रव्यार्थ-पर्यायार्थथी निजभाव मां।
सद्भाव-अपसद्भावयुत उत्पादने पामे सदा॥ १११॥
जीव परिणमे तेथी नरादिक ए थशे; पण ते-रूपे।
शुं छोडतो द्रव्यत्वने ? नहि छोडतो क्यम[5] अन्य ए॥११२॥
मानव नथी सुर, सुर पण नहि मनुज के नहि सिद्ध छे।
ए रीत नहि होतो थको[6] क्यम[7] ते अनन्यपणु धरे?॥११३
द्रव्यार्थिके बधु द्रव्य छे; ने तेज पर्यायार्थिके।
छे अन्य, जेथी[8] ते समय तद्रूप होई अनन्य छे॥११४॥
अस्ति, तथा छे नास्ति, तेम ज द्रव्य अणवक्तव्य[9] छे।
वली उभय को[10] पर्याय थी, वा अन्यरूप कथाय[11] छे।
नथी 'आज[12]' एवो[13] कोई ज्यां किरिया स्वभाव-निपन्न[14]।
किरिया नथी फलहीन, जो निष्फल धरम उत्कृष्ट छे॥११६

१ अन्योन्याभाव। २ अथवा। ३ स्वतः स्वयं। ४ ऐसा। ५ कैसे। ६तो। ७कैसे, क्यों। ८ जिससे। ९अवक्तव्य।१०किसी। ११ कहाजाता। १२ यही। ऐसी। १४ निष्पन्न।

नामाख्य कर्म स्वभाव थी निज जीवद्रव्य-स्वभावने ।
अभिभूत[1] करी तिर्यंच, देव, मनुष्य वा नारक करे ॥११७॥
तिर्यंच-सुर-नर-नारकी जीव नामकर्म-निपन्न छे ।
निज कर्म रूप परिणमन थी ज स्वभावलब्धि[2] नतेमने॥११८
नहि कोई ऊपजे विणसे क्षण भंग संभव मयं जगे[3] ।
कारण जनमते नाश छे; वली जन्मनाश विभिन्न छे ॥११९॥
ते थी स्वभावे स्थिर एवुं न कोई छे संसार मां ।
संसार तो संसरण करता द्रव्य केरी छे क्रिया ॥ १२० ॥
कर्मे मलिन जीव कर्म संयुत पामतो परिणामने ।
ते थी करम बंधाय छे; परिणाम तेथी कर्म छे ॥ १२१ ॥
परिण म पोते जीव छे ने छे क्रिया ए जीव मयी ।
किरिया गणी[4] छे कर्म; ते थी कर्मनो कर्ता नथी ॥१२२॥
जीव चेतना रूप परिणमे; वली चेतना त्रिविधागणी ।
ते ज्ञानविषयक, कर्मविषयक, कर्म फलविषयक थही॥१२३॥
छे 'ज्ञान' अर्थविकल्प, ने जीवथी करातुं[5] 'कर्म' छे ।
-ते छे अनेक प्रकारनुं, 'फल' सौख्य अथवा दुःख छे ॥१२४
परिणाम आत्मक जीव छे, परिणाम ज्ञानादिक बने ।
तेथी करमफल, कर्म तेमज ज्ञान आत्मा जाण जो ॥१२५॥

---

१ पराजित । २ स्वरूप प्राप्ति । ३ लोकमें । ४ मानीगई ।
५ किया जाना ।

'कर्ता, करम, फल, करण जीव छे' एम[1] जो निश्चय करी।
मुनि अन्य रूप नव परिणमे, प्राप्ति करे शुद्धात्मनी ॥१२६॥
छे द्रव्य जीव, अजीव; चित उपयोगमयते[2] जीव छे।
पुद्गल प्रमुख जे छे अचेतन द्रव्य, तेह अजीव छे ॥१२७॥
आकाशमां जे[3] भाग धर्म-अधर्म-काल सहित छे।
जीव-पुद्गलोथी युक्त छे, ते सर्वकाले लोक छे ॥ १२८ ॥
उत्पाद, व्यय, ने ध्रुवता जीवपुद्गलात्मक लोकने।
परिणाम[4] द्वारा, भेद वा संघात द्वारा थाय छे ॥ १२९ ॥
जे लिंगथी द्रव्यो महीं[5] 'जीव' 'अजीव' एम जणाय छे।
ते जाण मूर्त अमूर्त गुण, अतत्पणाथी विशिष्ट जे। १३०॥
गुण मूर्त इन्द्रियग्राह्य ते पुद्गलमयी बहुविध छे।
द्रव्यो अमूर्तिक जेह तेना गुण अमूर्तिक जाणजे ॥१३१॥
छे वर्ण तेम ज गंध वली रस-स्पर्श पुद्गलद्रव्यने।
-अतिसूक्ष्मथी पृथ्वी सुधी; वली शब्द पुद्गल विविध जे॥१३२
अवगाह गुण आकाशनो, गतिहेतुता छे धर्म नो।
वली स्थानकारणतारूपी गुण जाण द्रव्य अधर्म नो ॥१३३॥
छे काल नो गुण वर्तना उपयोग भाख्यो जीवमां।
ए रीत मूर्ति विहीनता गुण जाणवा संक्षेपमां ॥ १३४ ॥

---

१ ऐसा। २ चैतन्यउपयोगात्मक। ३ जो। ४ परिणमन। ५ मध्य, में।

जीवद्रव्य, पुद्गलकाय, धर्म अधर्म वली आकाशने ।
छे स्वप्रदेश अनेक, नहि वर्ते प्रदेशो कालने ॥ १३५ ॥
लोके अलोके आभ[1], लोक अधर्म-धर्म थी व्याप्त छे ।
छे शेष-आश्रित काल, ने जीव-पुद्गलो ते शेष छे ॥ १३६ ॥
जे रीत आभ प्रदेश, ते रीत शेष द्रव्य प्रदेश छे ।
अप्रदेश परमाणु वडे उद्भव प्रदेश तणो[2] बने ॥ १३७ ॥
छे काल तो अप्रदेश; एक प्रदेश परमाणु यदा[3] ।
आकाशद्रव्य तणो प्रदेश अतिक्रमे वर्ते तदा[4] ॥ १३८ ॥
ते देशना अतिक्रमण सम छे 'समय', तत्पूर्वापरे ।
जे अर्थ छे ते काल छे, उत्पन्नध्वंसी 'समय' छे ॥१३९॥
आकाश जे अणुव्याप्य, 'आभप्रदेश[5]' संज्ञा तेह ने ।
ते एक सौ[6] परमाणु ने अवकाश दान समर्थ छे ॥१४०॥
वर्ते प्रदेशो द्रव्यने, जे एक अथवा बे अने ।
बहु वा असंख्य, अनंत छे; वली होय समयो कालने ॥ १४१
एक ज समयमां ध्वंस ने उत्पाद नो सद्भाव छे ।
जो कालने तो काल तेह स्वभाव[7]-समवस्थित छे॥ १४२ ॥
प्रत्येक समये जन्म-ध्रौव्य-विनाश अर्थो कालने ।
वर्त्ते सरवदा; आ ज बस[8] कालाणु नो सद्भाव छे ॥१४३॥

---

१ आकाश । २ का । ३ जब । ४ तब । ५ आकाश प्रदेश ।
६ सब । ७ ध्रुव । ८ मात्र ।

जे अर्थने न बहु प्रदेश, न एक वा परमार्थथी[1] ।
ते अर्थ जाणो शून्य केवल-अन्य जे अस्तित्वथी ।।१४४।।
सप्रदेश अर्थोथी समाप्त समग्र लोक सुनित्य छे ।
तसु जाणनारो जीव, प्राण चतुष्क थी संयुक्त जे ।।१४५।।
इन्द्रियप्राण, तथा वली बलप्राण, आयुप्राणने ।
वली प्राण श्वासोच्छ्वास-ए सौ जीव केरा[2] प्राण छे ।।१४६।।
जे चार प्राणे जीवतो पूर्वे, जीवेछे, जीवशे[3] ।
ते जीव छे; पण प्राण तो पुद्गल द्रव्य निष्पन्न छे ।।१४७।।
मोहादिकर्म निबंधथी[4] संबन्धपामी प्राण नो ।
जीव कर्मफल उपभोग करतां बंध पामे कर्म नो ।।१४८।।
जीव मोहद्वेष वडे करे बाधा जीवो ना प्राण ने ।
तो बंध ज्ञानावरण-आदिक कर्म नो ते थाय छे ।। १४९ ।।
कर्मे मलिन जीव त्यां लगी प्राणो धरे छे फरी[5] फरी ।
ममता शरीरप्रधान विषये ज्यां लगी छोड़े न हि । १५०।।
करी इन्द्रियादिक-विजय ध्यावे आत्मने उपयोगने ।
ते कर्मथी रंजित नहि; क्यं प्राण तेने अनुसरे ? ।।१५१।।
अस्तित्व निश्चित अर्थनो को अन्यअर्थ उपजतो ।
जे अर्थ तेपर्याय छे, ज्यां भेद संस्थानादि नो ।। १५२ ।।

---

१ निश्चय से। २ के। ३ जीवित रहेगा। ४ संबन्ध।
५ पुनः पुनः, वारंवार।

तिर्यंच, नारक, देव, नर-ए नामकर्मोदय वडे ।
छे जीवना पर्याय, जेह विशिष्ट संस्थानादिके[1] ।१५३॥
अस्तित्वथी निष्पन्न द्रव्य स्वभावने त्रिविकल्पने ।
जे जाणतो, ते आत्मा नहि मोह परद्रव्ये लहे ॥१५४॥
छे आतमा उपयोगरूप, उपयोग दर्शन ज्ञान छे ।
उपयोग ए आत्मा तणो शुभ वा अशुभरूप होय छे ॥१५५।
उपयोग जो शुभ होय, संचय थाय पुण्य तणो तहीं ।
ने पापसंचय अशुभथी; ज्यां उभय नहि संचय नहि॥१५६॥
जाणे जिनोने जेह, श्रद्धे सिद्धने, अणगार[2] ने ।
जे सानुकंप जीवो प्रति, उपयोग छे शुभ तेहने ॥ १५७ ॥
कुविचार-संगति-श्रवणयुत, विषये कषाये मग्न जे ।
जे उग्रने उन्मार्गपर, उपयोग तेह अशुभ छे ॥ १५८ ॥
मध्यस्थ परद्रव्ये थतो अशुभोपयोग रहितने ।
शुभमां अयुक्त, हुं ध्याउँ छुं निज आत्मने ज्ञानात्मने॥१५९
हुं देह नहि, वाणी न, मन नहि, तेमनु[3] कारण नहि ।
कर्ता न, कारयिता न, अनुमंता हुं कर्ता नो नहि ॥१६०॥
मन, वाणी तेमज देह पुद्गलद्रव्य रूप निर्दिष्ट छे ।
ने तेह पुद्गलद्रव्य बहु परमाणुओ नो पिंड छे॥ १६१ ॥
हुं पौद्गलिक नथी, पुद्गलो में पिंड रूप कर्यो नथी[4] ।
तेथी नथी हुं देह वा ते देहनो कर्ता नथी ॥ १६२ ॥

---

१ आकृति, आकार । २ निर्ग्रन्थ । ३ उनका । ४ नहीं ।

परमाणु जे अप्रदेश, तेम प्रदेशमात्र, अशब्द छे।
ते स्निग्ध रूक्ष बनी प्रदेशद्वयादिवत्त्व अनुभवे ॥ १६३ ॥
एकांशथी आरंभी ज्यां अविभाग अंश अनंत छे।
स्निग्धत्व वा रूक्षत्व ए परिणाम थी परमाणुने ॥१६४॥
हो स्निग्ध अथवा रूक्ष अणु-परिणाम सम वा विषम हो।
बंधाय जो गुणद्वय अधिक; नहि बंध होय जघन्यनो ॥१६५
चतुरंश को स्निग्धाणु सह द्वय- अंशमय स्निग्धाणुनो।
पंचांशी अणु सह बंध थाय त्रयांशमय रुक्षाणु नो ॥१६६॥
स्कन्धो प्रदेशद्वयादियुत, स्थूल सूक्ष्म ने साकार जे।
ते पृथ्वी-वायु-तेज-जल परिणामथी निजथाय छे ॥ १६७ ॥
अवगाढ गाढ भरेल छे सर्वत्र पुद्गलकाय थी।
आलोक बादर-सूक्ष्मथी, कर्मत्वयोग्य-अयोग्यथी ॥ १६८ ॥
स्कंधो करम ने योग्य पामी जीवना परिणाम ने।
कर्मत्वने पामे; नहि जीव परिणमावे तेमने ॥ १६९ ॥
कर्मत्व परिणत पुद्गलोना स्कन्ध ते ते फरीफरी।
शरीरो बने छे जीवने, संक्रान्ति[1] पामी देहनी ॥ १७० ॥
जे देह औदारिक, ने वैक्रिय-तेजस देह छे।
कार्मण-अहारक देह जे, ते सर्व पुद्गलरूप छे ॥ १७१ ॥
छे चेतनागुण, गंध-रूप रस-शब्द-व्यक्ति[2] न जीवने।
वली लिंगग्रहण नथी अने संस्थान भाख्युं न तेहने ॥१७२॥

१ परिवर्तन। २ अभिव्यक्ति, प्रकटपना।

अन्योन्य स्पर्शथी बंध थाय रूपादि गुणयुत मूर्तने ।
पण जीव मूर्तिरहित बांधे केम[1] पुद्गल कर्म ने ?॥ १७३ ॥
जे रीत दर्शन-ज्ञान थाय रूपादिनुं-गुणद्रव्यनुं ।
ते रीत बंधन जाण मूर्ति रहितने पण मूर्तनुं ॥ १७४ ॥
विधविध[2] विषयो पामीने उपयोग आत्मक जीव जे ।
प्रद्वेष-राग-विमोह भावे परिणमे ते बंध छे ॥ १७५ ॥
जे भावथी देखे अने जाणे विषयगत अर्थ ने ।
तेमाथी छे उपरक्तता वली कर्म बंधन ते वडे ॥ १७६ ॥
रागादि सह आत्मा तणो, नै स्पर्श सह पुद्गलतणो ।
अन्योन्य जे अवगाह, तेने बंध उभयात्मक कह्यो ॥ १७७ ॥
सप्रदेश छे ते जीव[3], जीवप्रदेशमां आवे अने ।
पुद्गलसमूह रहे यथोचित[4], जाय छे, बंधाय छे ॥ १७८ ॥
जीव रक्त बांधे कर्म, रागरहित जीव मुकाय[5] छे ।
-आ जीव केरा बंधनो संक्षेप निश्चय जाणजो ॥ १७९ ॥
परिणाम थी छे बंध, राग विमोह-द्वेषथी युक्त जे ।
छे मोह-द्वेष अशुभ, राग अशुभ वा शुभ होय छे ॥१८०॥
पर मांही शुभपरिणाम पुण्य, अशुभ परमां पाप छे ।
निजद्रव्य गत परिणाम समये दुःख क्षय नो हेतु छे ॥१८१॥

१ कैसे, किसप्रकार । २ विविध, अनेकप्रकार । ३ आत्मा ।
४ योग्य । ५ छोड़ता ।

स्थावर अने त्रस पृथ्वीआदिक जीवकाय कहेल[1] जे।
ते जीवथी छे अन्य तेमज जीव तेथी अन्यछे ॥ १८२ ॥
परने स्वने नहि जाणतो ए रीत पामी स्वभावने।
ते 'आहुं, आमुज' एम अध्यवसान[2] मोह-थकी[3] करे १८३॥
निज भाव करतो जीव छे कर्ता खरे[4] निज भावनो।
पण ते नथी कर्ता सकल पुद्गल दरवमय भावनो ॥१८४॥
जीव सर्वकाले पुद्गलो नी मध्यमां वर्ते भले।
पण नव ग्रहे न तजे, करे नहि जीव पुद्गलकर्मने॥ १८५ ॥
ते हाल[5] द्रव्य जनित निजपरिणाम नो कर्ता बने।
तेथी ग्रहाय अने कदापि मुकाय छे कर्मो वडे ॥ १८६ ॥
जीव रागद्वेषथी युक्त ज्यारे परिणामे शुभ-अशुभमां।
ज्ञानावरण इत्यादि भावे कर्म-धूलि प्रवेश त्यां ॥ १८७ ॥
सप्रदेश जीव समये कषायित मोहरागादि वड़े।
संवन्ध पामी कर्मरजनो वंधरूप कथाय छे ॥ १८८ ॥
-आ जीव केरा बंधनो संक्षेप निश्चय भाखियो[6]।
अर्हंतदेवे योगीने; व्यवहार अन्य रीते कह्यो ॥ १८९ ॥
'हुं आ अने आ मारु' ए ममता न देह-धने तजे।
ते छोड़ी जीव श्रामण्यने[7] उन्मार्ग नो आश्रय करे॥१९०॥

---

१ कहे गये। २ परिणाम। ३ से, द्वारा। ४ वास्तव में। ५ अभी। ६ कहागया है, निर्दिष्ट किया है। ७ मुनि मार्गको, श्रमणताको।

हुं पर तणो नहि, परनमारां, ज्ञानकेवल एकहुं।
जे एम ध्यावे, ध्यानकाले जीव ते ध्याता बने ॥ १९१ ॥
ए रीत दर्शन-ज्ञान छे, इन्द्रिय-अतीत महार्थ छे।
मानुं हुं—आलंबन रहित, जीव शुद्ध निश्चल ध्रुव छे ॥१९२॥
लक्ष्मी, शरीर, सुख दुःख अथवा शत्रु मित्रो जनो अरे!
जीवने नथी कंई ध्रुव, ध्रुव उपयोग-आत्मक जीवछे ॥१९३
-आ जाणी शुद्धात्मा बनी[1] ध्यावे परम निज आत्मने।
साकार अण-आकार हो ते मोहग्रंथि[2] क्षयकरे ॥ १९४ ॥
हणी[3] मोहग्रंथि, क्षय करी रागादि समसुख दुःख जे।
जीव परिणमे श्रामण्यमां, ते सौख्य अक्षयने लहे ॥१९५॥
जे मोहमल करी नष्ट, विषय विरक्त थई[4], मन रोकीने।
आत्मस्वभावे स्थित छे, ते आत्मने ध्यानार[5] छे ॥१९६॥
शा[6] अर्थ ने ध्यावे श्रमण, जे नष्टघातिकर्म छे।
प्रत्यक्ष सर्वपदार्थ ने ज्ञेयान्त प्राप्तनिःशंक छे? ॥१९७॥
बाधारहित सकलात्ममां संपूर्ण सुख ज्ञानाढ्य जे।
इन्द्रिय-अतीत अनिंद्र[7] ते ध्यावे परम आनंदने ॥ १९८ ॥
श्रमणो, जिनो, तीर्थंकरो आ रीत सेवी मार्ग ने।
सिद्धि वर्या[8]; नमुं तेमने, निर्वाण ना ते मार्ग ने ॥१९९॥

---

१ होकर। २ समूह। ३ नष्टकर। ४ होकर। ५ ध्यान करने वाला, ध्याता। ६ किस। ७ अनिन्द्रिय। ८ प्राप्ति की।

ए रीत तेथी आत्मने ज्ञायक स्वभावी जाणीने ।
निर्ममपणे[1] रही स्थित आ परिवर्जु छुं हुं ममत्वने ।।२००

३—चरणानुयोग सूचक चूलिका ।

ए रीत प्रणमी सिद्ध, जिनवरवृषभ, मुनिने फरी फरी ।
श्रामण्य अंगीकृत करो, अभिलाष जो दुःखमुक्ति नी ।।२ १
बंधु जनोनी विदाय लइ, स्त्री-पुत्र वडीलो[2] थी छूटी ।
दृग-ज्ञान-तप-चारित्र-वीर्याचार अंगीकृत करी ।। २०२ ।।
'मुज ने ग्रहो' कही, प्रणतथई[3], अनुगृहीत थाय गणी[4] वडे,
-वयरूप कुल विशिष्ट, योगी, गुणाढ्य[5] ने मुनिइष्ट जे ।।२०३
परनो न हुं, परछे न मुज, मारुं नथी कंई[6] पण जगे ।
-ए रीत निश्चित ने जितेंद्रिय साहजिकरूप[7] धरवने।।२०४।।
जन्म्याप्रमाणे[8] रूप, लुंचनकेशनु, शुद्धत्वने ।
हिंसादिथी शून्यत्व, देह-असंस्करण[9]-ए लिंग छे ।।२०५।।
आरंभ मूर्छाशून्यता, उपयोग योग विशुद्धता ।
निरपेक्षता परथी-जिनोदित[10] मोक्षकारण लिंग[11] आ।।२०६।।
ग्रही[12] परमगुरु-दीधेल[13] लिंग नमस्करण करी तेमनें।
व्रत ने क्रिया सूणी, थई उपस्थित, थाय छे मुनिराज ए।।२०७

१ निर्ममत्व । २ गुरुजनो, पूज्य जनो । ३ विनययुक्त प्रणाम करके । ४ आचार्य । ५ गुणसमृद्ध । ६ कुछ । ७ यथाजातरूप धारी, जन्मसमय के सरीखा रूपधारी अर्थात् निर्ग्रन्थ । ८ निर्ग्रन्थ, दिगम्बर । ९ श्रृंगार नहीं करना, वेशभूषा युक्त न करना । १० जिनेन्द्र निरुपित । ११ चिह्न, कारण । १२ ग्रहण कर । १३ दिये गये ।

व्रत, समिति, लुंचन, आवश्यक, अणचेल[1] इन्द्रिय
नहि स्नान दातण[2], एक भोजन भूशयनस्थिति भोज
-आ मूलगुण श्रमणो तणा जिनदेवथीप्रज्ञप्तछे।
तेमां प्रमत्त थतां श्रमण छेदोपस्थापक थाय छे॥ २
जे लिंगग्रहणे साधु पद देनार तेगुरु जाणवा।
छेदद्वये स्थापन करे ते शेष मुनि निर्यापका[3]॥ २
जो छेद थाय प्रयत्न सह कृत कायनी चेष्टाविषे।
आलोचना पूर्वक क्रिया कर्तव्य छे, ते साधुने॥ २१
छेदोपयुक्त मुनि, श्रमण व्यवहार विज्ञ कने[4] जई।
निज दोष आलोचन करी, श्रमणोपदिष्ट करे विधि ।२
प्रतिबंध परित्यागी सदा अधिवास अगर विवास[5] मां
मुनिराज विहरो सर्वदा थई छेदहीन श्रामण्यमां॥ २१
जे श्रमण ज्ञान-दृगादिके प्रतिबद्ध[6] विचरे सर्वदा।
ने प्रयत मूलगुणो विषे, श्रामण्य छे परिपूर्ण त्यां॥२१
मुनि क्षपण[7] माहीं, निवासस्थान, विहार वा भोजनमहं
उपधि-श्रमण-विकथा नहीं प्रतिबंधने[8] इच्छे नहीं॥२
आसन-शयन-गमनादिके चर्या प्रयत्न विहीनजे।
ते जाणवी-हिंसा सदा संतानवाहिनी[9] श्रमण ने॥ २१६

१ दिगम्बरत्व। २ दतौन। ३ नियामक, उपदेश आदि
मार्गमें दृढ़ करनेवाले। ४ निकट। ५ एकलविहारी; गुरुसे द
रहकर। ६ युक्त। ७ उपवास। ८ मन लगानेकी। ९ सर्वदा, स

जीवो-मरो जीव,यत्नहीनआचार त्यां हिंसा नक्की[1] ।
समिति-प्रयत्नसहितने नहि बंध हिंसा मात्रथी ॥ २१७ ॥
मुनि यत्न हीन आचार वंत छकायनो हिंसक कह्यो ।
जलकमलवत् निर्लेप भाख्यो, नित्य यत्न सहित जो॥२१८॥
दैहिक क्रिया थकी[2] जीव मरता बंध थाय-न थाय छे ।
परिग्रह थकी ध्रुव बंध,तेथी समस्त छोड्यो योगी ए॥२१९॥
निरपेक्षत्याग[3] न होय तो नहि भावशुद्धि भिक्षु ने ।
ने भावमां अविशुद्ध ने क्षय कर्म नो कई[4] रीत बने ?॥२२०॥
आरंभ, असंयम अने मूर्छा न त्यां-एक्यम बने ?
पर द्रव्यरत जे होय ते कई रीत साधे आत्म ने ? ॥२२१॥
ग्रहणे विसर्गे सेवतां नहि छेद जेथी थाय छे ।
ते उपधि सह वर्तो भले मुनि काल क्षेत्र विजाणीने[5]॥२२२॥
उपधि अनिंदितने, असंयत जन थकी अप्रार्थ्यने[6] ।
मूर्छादिजननरहितने ज ग्रहो श्रमण, थोडो भले ॥ २२३ ॥
क्यम अन्य परिग्रह होय ज्यां कही देहने परिग्रह अहो !
मोक्षेच्छु ने देहेय निष्प्रतिकर्म[7] उपदेशे जिनो ? ॥ २२४॥
जन्म्या प्रमाणे रूप भाख्युं उपकरण जिन मार्गमां ।
गुरुवचन ने सूत्राध्ययन, वली विनय पण उपकरणमां॥२२५

१ निश्चित । २ से- द्वारा । ३ प्रयोजन रहित । ४ किस प्रकार । ५ जानकर । ६ अप्रार्थनीय ७ निर्पेक्षता, निर्मोहभाव ।

आलोक मां निरपेक्ष ने परलोक-अणप्रतिबद्ध छे।
साधु कषाय रहित, ते थी युक्त आ'र[1] विहारी छे ॥२२६॥
आत्मा अनेषक[2] ते य तप, तत्सिद्धिमां उद्यत रही।
वर्ण[3]-एषणा भिक्षा वली तेथी अनाहारी मुनि ॥ २२७ ॥
केवलशरीर मुनि त्यांय 'मारुं न' जाणी वण-प्रतिकर्म छे।
निज शक्तिना गोपन विना तप साथ तन योजेल छे॥२२८॥
आहार ते एक ज. ऊणोदर ने थाय-उपलब्ध छे।
भिक्षा वडे, दिवसे, रसेच्छाहीन वण[4]-मधुमांस छे ॥ २२९ ॥
वृद्धत्व, बालपणा विषे, ग्लानत्व[5], श्रांतदशा विषे।
चर्या चरो निजयोग्य, जे रीत मूलछेद न थायछे ॥ २३०
जो देश-काल तथा क्षमा[6]-श्रम-उपधि ने मुनि जाणीने।
वर्ते अहारविहारमां. तो अल्प लेपी श्रमण ते ॥ २३१ ॥
श्रामण्य ज्यां ऐकाग्र्य, ने ऐकाग्र्य वस्तुनिश्चये।
निश्चय बने आगम वडे, आगम प्रवर्तन[7] मुख्य छे ॥ २३२
आगमरहित जे श्रमण ते जाणे न परने आत्मने।
भिक्षु पदार्थ-अजाण ते क्षय कर्मनो कई रीति करे? ॥ २३३।
मुनिराज आगमचक्षु ने सौ भूत[8] इन्द्रिय चक्षु छे।
छे देव अवधिचक्षुने सर्वत्र चक्षु सिद्ध छे ॥ २३४ ॥

---

१ आहार। २ आहारेच्छासे रहित। ३ विना, रहित। ४ रहित। ५ रोगीपना, व्याधियुक्तता। ६ सहनशक्ति। ७ विचार, मनन। ८ प्राणी।

सौ चित्र[1] गुण पर्याय युक्त पदार्थ आगमसिद्ध छे।
ते सर्व ने जाणे श्रमण ए देखी ने आगम वडे ॥ २३५ ॥
दृष्टि न आगमपूर्विका ते जीवने संयम नहीं।
-ए सूत्र केरुं[2] छे वचन; मुनि केम होय असंयमी ? ॥२३६॥
सिद्धि नहीं आगमथकी, श्रद्धा न जो अर्थो तणी।
निर्वाण नहीं अर्थो तणी श्रद्धाथी, जो संयम नहीं ॥२३७॥
अज्ञानी जे कर्मो खपावे लक्ष कोटि भवो वडे।
ते कर्म ज्ञानी त्रिगुप्त बस उच्छ्वास मात्र थी क्षय करे ॥२३८
अणु मात्र पण मूर्छा तणो सद्भाव जो देहादि के।
तो सर्व आगमधर[3] भले पण नव लहे सिद्धत्वने ॥ २३९ ॥
जे पंचसमित, त्रिगुप्त, इन्द्रिनिरोधी विजयी कषायनो।
परिपूर्ण दर्शन ज्ञानथी, ते श्रमण ने संयत कह्यो ॥ २४० ॥
निंदा प्रशंसा, दुःख सुख, अरि-बंधुमां ज्यां साम्यछे।
वली लोष्ट-कनके, जीवित-मरणे साम्यछे ते श्रमण छे ॥२४१
दृग, ज्ञानने चारित्र, त्रयमां युगपदे आरूढ़ जे।
तेने कह्यो ऐकाग्र्यगतः श्रामण्य त्यां परिपूर्ण छे ॥ २४२ ॥
परद्रव्य ने आश्रय श्रमण अज्ञानी पामे[4] मोह ने।
वा रागने वा द्वेषने, तो विविध बांधे कर्म ने ॥ २४३ ॥

---

१ अनेक प्रकारके। २ का, उक्त, कहा गया। ३ समस्त शास्त्रों का ज्ञाता। ४ प्राप्त होता है।

नहि मोह, ने नहि राग, द्वेष करे नहि अर्थोविषे ।
तो नियमथी मुनिराज ए विधविध कर्मो क्षय करे ॥ २४४
शुद्धोपयोगी श्रमण छे, शुभ युक्त पण शास्त्रे कह्या ।
शुद्धोपयोगी छे निराश्रव शेष साश्रव जाणवा ॥ २४५
वात्सल्य प्रवचनरत विषे ने भक्ति अर्हंतादि के ।
-ए होय जो श्रामण्य मां तो चरण ते शुभयुक्त छे ॥ २४६॥
श्रमणो प्रति वंदन, नमन, अनुगमन अभ्युत्थान ने ।
वली श्रम निवारण छे न निंदित रागयुत चर्या विषे ॥२४७॥
उपदेश दर्शन ज्ञान नो, पोषण-ग्रहण शिष्यो तणुं[1] ।
उपदेश जिनपूजा तणो-वर्तन तुं जाण सराग नुं ॥ २४८ ॥
वण[2] जीवकाय विराधना उपकार जे नित्ये करे ।
चउ विध साधु संघ ने, ते श्रमण रागप्रधान छे ॥ २४९ ॥
वैयावृते[3] उद्यत श्रमण षटकाय ने पीड़ा करे ।
तो श्रमण नहि पण छे गृही; ते श्रावको नो धर्म छे ॥२५०॥
छे अल्प लेप छतां[4]य दर्शन ज्ञान परिणत जैन ने ।
निरपेक्षता पूर्वक करो उपकार अनुकंपा वडे[5] ॥ २५१ ॥
आक्रान्त देखी श्रमण ने श्रम, रोग वा भूख. प्यास थी ।
साधु करो सेवा स्वशक्ति प्रमाण ए मुनिराजनी ॥ २५२॥
सेवा निमित्ते रोगी-बालक वृद्ध-गुरु श्रमणो तणी ।
लौकिकजनो सह वात शुभ-उपयोगयुत निंदित नथी ॥२५३॥

१ का । २ विना, रहित । ३ सेवा; सुश्रुषा । ४ तो भी । ५ द्वारा ।

आ शुभ चर्या श्रमणने, वली मुख्य होय गृहस्थ ने।
तेना[1] वडे ज[2] ग्रहस्थ पामे मोक्षसुखउत्कृष्टने ॥ २५४॥
फल होय छे विपरीत वस्तु विशेष थी शुभ रागने।
निष्पत्ति[3] विपरीत होय भूमि विशेषथी ज्यम बीज ने ॥२५५॥
छद्मस्थ-अभिहित ध्यान दाने व्रत नियम पठनादि के।
रत जीव मोक्ष लहे नहि बस भाव शातात्मक लहे ॥ २५६॥
परमार्थ थी अनभिज्ञ, विषयकषाय अधिक जनो परे।
उपकार सेवा-दान सर्व कुदेवमनुजपणे फले ॥ २५७ ॥
'विषयो कषायो पापछे' जो एम निरुपण शास्त्र मां।
तो केम तत्प्रतिबद्ध पुरुषो होय रे निस्तारका?[4] ॥ २५८ ॥
ते पुरुष जाण सुमार्ग शाली, पाप-उपरम जेह ने।
समभाव ज्यां सौ धार्मिके, गुणसमूह सेवन जेह ने ॥२५९
अशुभोपयोग रहित श्रमणो-शुद्ध वा शुभयुक्त जे।
ते लोकने तारे; अने तद्भक्त पामे पुण्यने ॥ २६० ॥
प्रकृत वस्तु देखी अभ्युत्थान आदि क्रिया थकी।
वर्तो श्रमण पछी वर्तनीय गुणानुसार विशेष थी ॥२६१॥
गुणथी अधिक श्रमणो प्रति सत्कार अभ्युत्थान ने।
अंजलिकरण, पोषण, ग्रहण सेवन अहीं उपदिष्ट छे ॥२६२॥

१ उसके। २ ही। ३ फल। ४ पार करने।

मुनि सूत्र- अर्थ प्रवीण संयम ज्ञान तप समृद्ध ने ।
प्रणिपात[1] अभ्युत्थान, सेवा साधु ए कर्तव्य छे ॥ २६३ ॥
शास्त्रे कह्यु तप सूत्र संयम युक्त पण साधु नही ।
जिन-उक्त आत्मप्रधान सर्व पदार्थ जो श्रद्धे नहि ॥ २६४ ॥
मुनि शासने स्थित देखी ने जे द्वेषथी निंदा करे ।
अनुमत नहि किरिया विषे, ते नाश चरण तणो करे ॥२६५
जे हीन गुण हो वाछतां 'हुं पण श्रमण छु' मद करे ।
इच्छे विनय गुण- अधिकपास, अनंत संसारी बने ॥ २६६ ॥
मुनि अधिकगुण हीनगुण प्रति वर्ते यदि विनयादि मां ।
तो भ्रष्ट थाय चरित्र थी उपयुक्त मिथ्या भाव मां ॥२६७॥
सूत्रार्थनिश्चयवंत, शमितकषाय, अधिक तपी भले ।
पण ते नथी संयत, यदि छोडे न लौकिक-संगने ॥ २६८ ॥
निर्ग्रन्थ रूप दीक्षा वडे संयम तपे संयुक्त जे ।
लौकिक कह्यो ते ने य, जो छोडे न ऐहिक[2] कर्म ने ॥ २६९ ॥
ते थी श्रमण ने होय जो दुःख मुक्ति केरी भावना ।
तो नित्य वसवुं समान अगर विशेष गुणीना संगमां ॥२७०
समयस्थ हो पण सेवी भ्रम अयथाग्रहे जे अर्थ ने ।
अत्यन्त फल समृद्ध भावी कालमां जीव ते भमे ॥२७१॥
अयथाचरण हीन, सूत्र अर्थ सुनिश्चयी उपशांत जे ।
ते पूर्ण साधु अफल[3] आ संसार मां चिर नहि रहे ॥२७२॥

१ प्रणाम । २ सांसारिक । ३ निस्सार, फलरहित ।

जाणी यथार्थ पदार्थ ने, तजी संग अंतर्बाह्य ने ।
आसक्त नहि विषयो विषे जे 'शुद्ध' भाख्या तेमने ॥२७३॥

रे ! शुद्ध ने श्रामण्य भाख्युं, ज्ञानदर्शनशुद्धने ।
छे शुद्ध ने निर्वाण, शुद्ध ज सिद्ध प्रणमुं तेहने ॥२७४॥

साकार अण-आकार चर्चा युक्त आ उपदेशने ।
जे जाणतो ते अल्प काले सारप्रवचनने लहे ॥२७५॥